समाधिमरण

120 B

लेखक
डॉ० रज्जन कुमार

सम्पादन
प्रो. सागरमल जैन
डॉ० विजय कुमार

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला-124

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

समाधिमरण

लेखक
डॉ रज्जन कुमार

सम्पादन
प्रो० सागरमल जैन
डॉ० विजय कुमार

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
2001

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला- 124

पुस्तक	:	**समाधिमरण**
लेखक	:	डॉ० रज्जन कुमार
सम्पादक	:	प्रो० सागरमल जैन/डॉ० विजय कुमार
प्रकाशक	:	**पार्श्वनाथ विद्यापीठ,** आई० टी० आई० रोड, करौंदी, वाराणसी- २२१००५
दूरभाष	:	०५४२ - ३१६५२१, ३१८०४६
फैक्स	:	०५४२ - ३१८०४६
प्रथम संस्करण	:	२००१ ई०
मूल्य	:	२६०.०० रूपये मात्र
अक्षर सज्जा	:	राजेश कम्प्यूटर्स, जयप्रकाश नगर, शिवपुरवा, वाराणसी। दूरभाष : (०५४२) २२०५९९
मुद्रक	:	राघव ऑफसेट, बैजनत्था, वाराणसी
©	:	**पार्श्वनाथ विद्यापीठ**
ISBN	:	८१-८६७१५-४८-७

Pārśwanātha Vidyāpīṭha Series : 124

Book	:	**Smādhimaraṇa**
Author	:	Dr. Rajjan Kumar
Editor	:	Prof. Sagarmal Jain/Dr. Vijaya Kumar
Publisher	:	**Pārśwanātha Vidyāpīṭha** I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi- 221005
Phone	:	0452 - 316521, 318046
Fax	:	0542 - 318046
First Edition	:	2001
Price	:	260.00 Only
Type Setting	:	Rajesh Computer's, Jai Prakash Nagar, Shivpurwa, Varanasi. Phone : 0542-220599
Printed at	:	Raghaw Offset, Baijnattha, Varanasi

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

।। समर्पण ।।

श्रद्धेय

माता - श्रीमती सावित्री देवी

एवं

पिता - श्री रामचरित्र प्रसाद

के

श्री चरणों

में

सादर समर्पित

- रज्जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

जैन परम्परा के सामान्य आचार नियमों में संलेखना या संथारा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन गृहस्थ उपासकों एवं श्रमण साधकों दोनों के लिए स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण का विधान जैन आगमों में भी उपलब्ध है। जैन आगम साहित्य ऐसे साधकों की जीवन गाथाओं से भरा पड़ा है जिन्होंने समाधिमरण का व्रत ग्रहण किया था। संथारा या समाधिमरण में मनुष्य का मृत्यु पर शासन होता है, जबकि अनिच्छापूर्वक मरण में मृत्यु मनुष्य पर शासन करती है। इनमें प्रथमावस्था पण्डितमरण की अवस्था है तो दूसरी अवस्था बालमरण (अज्ञानी मरण) की अवस्था है। एक ज्ञानी की मौत है तो दूसरी अज्ञानी की। अज्ञानी विषयासक्त होता है इसलिए वह मृत्यु से डरता है, जबकि सच्चा ज्ञानी अनासक्त होता है, अत: वह मृत्यु से नहीं डरता है। जो मृत्यु से भय खाता है वह मृत्यु का शिकार होता है, लेकिन जो मृत्यु से निर्भय हो जाता है वह अमरता की दिशा में आगे बढ़ जाता है। साधकों के प्रति महावीर का सन्देश यही था कि मृत्यु के उपस्थित होने पर शरीरादि से अनासक्त होकर उसे आलिंगन दे दो।

महावीर के दर्शन में अनासक्त जीवन शैली की इस महत्त्वपूर्ण कसौटी के विभिन्न पक्षों का लेखक डॉ० रज्जन कुमार ने इस पुस्तक में प्रामाणिक विवेचन किया है, अत: वे धन्यवाद के पात्र हैं। साथ ही हम संस्थान के प्रवक्ता डॉ० विजय कुमार के आभारी हैं जिन्होंने इस पुस्तक के सम्पादन में सहयोग देने के साथ-साथ प्रकाशन सम्बन्धी दायित्वों का भी निर्वहन किया है।

अन्त में सुन्दर अक्षर-सज्जा के लिए राजेश कम्प्यूटर्स एवं स्वच्छ मुद्रण हेतु राघव ऑफसेट को धन्यवाद देता हूँ।

दिनांक : ११.९.२००१

प्रो० सागरमल जैन
मंत्री
पार्श्वनाथ विद्यापीठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरोवाक्

जन्म लेनेवालों की मृत्यु अवश्यंभावी है । जन्म के साथ मृत्यु अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है । जन्म अगर किसी जीवन का प्रारम्भ है तो मृत्यु उस जीवन का अवसान और यही सत्य है। मृत्यु के पाश से किसी भी प्राणी का बच पाना संभव नहीं है। इस सनातन सत्य को जानते हुए भी प्राणी अपनी मृत्यु को टालने का यथाशक्ति प्रयास करता है और दु:खी होता है। अपने इस प्रयत्न में कदाचित् जीवन के आनंद से भी वंचित रह जाता है। मनुष्य को इस त्रासदी की भयावहता से मुक्त रखने के लिए मर्मज्ञ विद्वानों ने अनेक बार इस बात का उद्घोष किया है- 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु:' अर्थात् जन्म लेनेवालों की मृत्यु सुनिश्चित है । मृत्यु जन्मधारी के लिए शाश्वत सत्य है।

इस प्रकार यह स्वीकार करने में कदाचित् संकोच नहीं होना चाहिए कि जन्म की भाँति मरण भी जीवन का अभिन्न पक्ष है। अगर जन्म है तो मृत्यु भी है। जीवन जीना एक कला है तो मृत्यु को अंगीकार करना इससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यही कारण है कि भारतीय चिन्तकों ने जीवन की भाँति मरण को भी अपने चिन्तन में पर्याप्त स्थान दिया है। जैन एवं जैनेतर विद्वानों का इस सम्बन्ध में मत है जीवन में जन्म सर्वोपरि है, परन्तु यही एक मात्र सत्य नहीं है । मृत्यु के बिना जीवन उस राजा की भाँति है जो कथाकार के समक्ष यह कहने को विवश हो जाता है - बस और नहीं ! अब अन्त करो!

मरण का यह सन्दर्भ मात्र व्यवहारिक महत्त्व का ही चिन्तन नहीं है वरन् मानव जीवन में कुछ और पक्ष का भी विवेचन प्रस्तुत करता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वर्तमान जीवन अथवा जन्म मात्र जीवन का निर्धारक है, जबकि मृत्यु कई जन्मों का निर्धारक बन जाता है। इस विश्वास के पीछे तर्क है, दर्शन है, अध्यात्म है और सबसे बड़ी बात यह है कि ग्रन्थों में इस हेतु साक्ष्य उपलब्ध हैं। जैन चिन्तक इस हेतु दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए इस बात पर बल देते हैं कि मृत्यु की बेला में साधक को अधिक सजग रहना चाहिए। उसे मृत्यु का शोक न करके समारोहपूर्वक उसका आनन्द मनाना चाहिए । जैन लोग मात्र इस प्रकार चिन्तन ही नहीं करते वरन् मृत्यु महोत्सव का आयोजन व्यावहारिक रूप में भी करते हैं । यह जैन परम्परा का अपना वैशिष्ट्य है जो अन्यत्र दुर्लभ है ।

जैन चिन्तन में मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य-आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति है। इस हेतु साधना का आश्रय लेना पड़ता है। इसकी सहायता से आत्मस्वरूप का सच्चा दिग्दर्शन संभव है। इसी के द्वारा व्यक्ति/साधक आत्मामय और आत्मा के स्वरूप को आवेष्टित किये हुए है और इसका नाश मात्र साधना के द्वारा ही संभव है। तप आदि साधना विविध प्रकार की साधना है। अत: यह स्वीकार करने में किञ्चित् विरोध नहीं है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मस्वरूप के दिग्दर्शन में देहादिक अंगों का सक्रिय योगदान रहता है। यही कारण है कि विद्वानों ने शारीरिक स्वास्थ्य एवं देहरक्षण को भी महत्त्व प्रदान किया है।

योगादि साधनाभ्यास के द्वारा जहाँ एक तरफ देह रक्षा की जाती है वहीं दूसरी तरफ आत्म साक्षात्कार भी किया जा सकता है। जैन परम्परा में यह विचार प्रस्तुत किया गया है कि मनुष्य को यथाशक्ति देहरक्षा करनी चाहिए, परन्तु कदाचित् किसी कारण से दैहिक साधनों पर उपसर्ग आ जाए, उत्साह क्षीण होने लगे, जीवन भारस्वरूप लगने लगे, नित्य क्रियाओं के सम्पादन में व्यवधान आने लगे, किसी भी कार्य को सम्पन्न करने के लिए किसी अन्य के सहायता की अपेक्षा होने लगे तब इन विषम परिस्थितियों में मनुष्य को समाधिमरण अंगीकार करना चाहिए।

'समाधिमरण' सामान्य बोलचाल की भाषा में समाधिपूर्वक मरण करने का नाम है। यह समाधिमरण का एक अर्थ अवश्य हो सकता है, परन्तु जैन मत में यह समाधिमरण का अर्थ नहीं है। यह उसका पारिभाषिक शब्द है जिसे सामान्य अर्थ का वाचक नहीं माना गया है। समाधिमरण में देहत्याग अवश्य किया जाता है, लेकिन नितांत विलक्षण ढंग से। इस अवस्था में साधक दृढ़तापूर्वक शरीर के संरक्षण का भाव छोड़ देता है। आहारादि का त्याग कर निर्विकल्प भाव से एकान्त, पवित्र, शान्त स्थान में आत्मचिन्तन करते हुए आनेवाली मृत्यु की प्रतीक्षा की जाती है। प्रतीक्षा के इस अनुक्रम में किसी प्रकार की शीघ्रता अथवा विलम्ब की चाह नहीं रहती है, रहती है तो बस एक मात्र भावना आनेवाली मृत्यु के स्वागत की। यही समाधिमरण है जिसे जैनों ने कई नाम दिये हैं - सल्लेखना, संथारा, समाधिमरण, पंडितमरण, ज्ञानीमरण, सकामरण, उद्युक्तमरण, संन्यासमरण, अंतक्रिया, मृत्युमहोत्सव आदि।

समाधिमरण स्वैच्छिक देहत्याग का शान्त, सौम्य, धर्म-सम्मत उपक्रम है। यह बलपूर्वक नहीं वरन् प्रीतिपूर्वक जीवन की अन्तिम बेला में स्वीकार करनेवाला कर्म है। यह सर्वदु:ख विनाशक एवं मोक्षप्रदायक है। इसे व्रतराज भी कहा जाता है। क्योंकि व्रत की भाँति इसे श्रद्धा एवं विश्वास के साथ स्वीकार किया जाता है। यह स्वप्रेरणा के द्वारा ग्रहण किया जाता है, जिसका प्रमुख उद्देश्य होता है - धर्म और संयम की रक्षा। वस्तुत: इन भावनाओं से युक्त कर्म कभी भी किसी प्रकार के बाह्य दबाव में आकर स्वीकार नहीं किया जाता, बल्कि स्वत: ही अन्तस की प्रेरणा पाकर प्रारम्भ हो जाता है। जैन ग्रन्थों में यह स्पष्ट लिखा है कि समाधिमरण बलात नहीं कराया जा सकता, प्रीति के रहने पर ही यह पूर्ण होता है। स्वप्रेरणा इस व्रत को प्रारम्भ करने की प्रथम अपेक्षा है जिसका मूल मंतव्य है राग-द्वेष के बन्धन को अल्प करना।

राग-द्वेष ही सर्व दु:खों के जनक है। समाधिमरण में इसी मूल कारण को अल्प करने का प्रयास किया जाता है। मनुष्य अपने देह के प्रति सबसे अधिक ममत्व रखता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। समाधिमरण में इसी देहाशक्ति को खत्म किया जाता है। कहा भी गया है समाधिमरण जरा, रोग, इन्द्रिय, शरीर बल की हानि तथा षडावश्यक के नाश होने की स्थिति में स्वीकार किया जाता है। व्यक्ति को जब यह विदित हो जाता है कि दैहिक विकारों तथा इसी तरह के अन्यान्य कारणों से अब यह शरीर अधिक समय तक टिकनेवाला नहीं है। इसको स्वस्थ रखने के सारे प्रयत्न व्यर्थ हो जानेवाले हैं अथवा हो चुके हैं। इसकी जीर्णता स्वयं तथा दूसरों के लिए कष्टकारी बन गये हैं। अब यह शरीर दैनिक कार्यों तथा धर्माराधना में भी सहयोगी नहीं रह गया। ऐसी ही विकट परिस्थितियों में दैहिक ममत्व का परित्याग करके समाधिमरण ग्रहण किया जाता है।

इसी अनुक्रम में जैन परम्परा ने दो प्रकार के समाधिमरण का विधान प्रस्तुत किया है- (१) सागारी (२) सामान्य। अनायास ऐसी विषम परिस्थिति में फँस जाने पर जिसमें प्राणत्याग करने के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग शेष नही बचता तब सागारी संथारा ग्रहण किया जाता है। सौभाग्यवश व्यक्ति इस विषम परिस्थिति से बच निकलता है तब वह सामान्य जीवन यापन करने लगता है। दूसरी स्थिति में समाधिमरण जीवन भर के लिए स्वीकार किया जाता है। इस हेतु जैनों ने बारहवर्षीय संथारा का विधान प्रस्तुत किया है। यह एक विशेष प्रकार की क्रिया-विधि है जिसका परिपालन अत्यन्त संयम, निष्ठा, धैर्य एवं पवित्र मन से किया जाता है। इस अनुक्रम में साधक कषाय को क्षीण करते हुए राग-द्वेष को क्रमशः अल्प करता जाता है।

समाधिमरण अल्प कषाय एवं कमजोर राग-द्वेष होने पर ही किया जाता है। यही कारण है कि व्यक्ति इस समय देहपात करने में भावात्मक भ्रान्ति नहीं पालता है। भावना का आवेग कषाय से चालित होता है जो व्यक्ति को राग-द्वेष से जोड़ता है। इसी के वशीभूत होकर मनुष्य आत्महत्या के द्वारा देहत्याग कर लेता है। अब यहाँ एक प्रश्न उठता है क्या समाधिमरण भी आत्महत्या का एक प्रकार है? भ्रान्तिवश लोग इस तरह के प्रश्न समाधिमरण के सम्बन्ध में उठाते रहे हैं। सम्भवतः वे यह भूल जाते हैं कि आत्महत्या तीव्र संवेग तथा किसी तरह के भावात्मक आवेश में आकर की जाती है, जबकि समाधिमरण में इसका अभाव रहता है। यहाँ न तो रागात्मक भाव पाया जाता है और न द्वेषात्मक प्रवृत्ति ही। अनासक्ति ही समाधिमरण का मूलमंत्र है।

जैन चिन्तन मे आत्महत्या को अनैतिक एवं असामाजिक कृत्य कहा गया है। लौकिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर इसका निषेध किया गया है। लेकिन जैन परम्परा में सद्गुणों के रक्षण हेतु देहत्याग का व्यापक सर्मथन भी हुआ है। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि शरीर एवं सद्गुण रक्षण में से किसी एक के चयन का प्रसंग उपस्थित होने पर व्यक्ति को निःसंकोच सद्गुणों की रक्षा करनी चाहिए। उसका यह निर्णय धर्मसम्मत, समाजसम्मत, नीतिसम्मत एवं आध्यात्म से परिपूर्ण माना जाएगा, क्योंकि सदगुणों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नष्ट करके अपयशयुक्त जीवन से मरण प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ माना जाता है। वस्तुत: समाधिमरण की अवधारणा भी इसी नियम से परिचालित होती है ।

जीवन और मृत्यु दो विपरीत अवसर है । दोनों ही अनिवार्य और अन्योन्याश्रित हैं। दोनों का अपना दर्शन है एवं महत्त्व है । चिन्तकों ने दोनों को कला कहा है- जीवनकला और मृत्युकला । अब यहाँ प्रश्न उठता है दोनों में कौन श्रेष्ठ है । यह बड़ा ही दुष्कर प्रश्न है और प्रति उत्तर अत्यन्त कठिन । अगर हम जीवन को श्रेष्ठ कहते हैं तो मृत्यु को क्या कहें और अगर मृत्यु को श्रेष्ठ कहते हैं तो जीवन के प्रति न्याय नहीं कर पाते । इस समस्या का समाधान जैन चिन्तकों ने इस प्रकार किया है— जीवन अध्ययन काल है जबकि मृत्यु परीक्षा की घड़ी । बिना अध्ययन परीक्षा में सफल नहीं हुआ जा सकता और बिना परीक्षा दिए अध्ययन की परख नहीं हो सकती । अत: दोनों का समान महत्त्व है फिर भी परीक्षाकाल को अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ माना जा सकता है क्योंकि इस समय थोड़ी सी चूक पूरे अध्ययन काल के परिश्रम को व्यर्थ कर सकती है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिए कि यही एक मात्र सत्य है । ऐसा इसलिए कहा गया है कि मृत्यु ही वह अवसर है जहाँ प्राणी अपने भावी जन्म का चुनाव करता है । मृत्यु के क्षण जीव के मन में जिस प्रकार की भावना होती है उसी के अनुरूप उसे जन्म प्राप्त होता है । समाधिमरण के अनुक्रम में व्यक्ति प्राय: भावशून्य रहता है । अत: वह नवीन जन्म प्राप्त नहीं करता अर्थात् उसे मुक्ति मिल जाती है । मुक्ति ही प्रत्येक प्राणी का चरम लक्ष्य माना गया है । यही कारण है कि जैन चिन्तक समाधिमरण को आत्महत्या नहीं वरन् आत्मरक्षा कहते हैं ।

मानव शरीर मात्र हाड़-मांस का पुंज नहीं है, वरन् दर्शन-ज्ञान-चारित्र का संग्राहक भी है। जीव के विविध पर्याय माने गये हैं, मानव पर्याय उनमें से एक है । इसे सभी पर्यायों में श्रेष्ठ और दुर्लभ कहा गया है। जीव इसी मानव पर्याय में अपना चरम लक्ष्य मोक्ष अथवा मुक्ति को प्राप्त कर सकता है । मोक्ष वह प्राप्तव्य है जो बार-बार मृत्यु के कारण होनेवाले संताप से जीव को सर्वदा के लिए मुक्त कर देता है। अत: मनुष्य योनि में जन्म लेने पर जीव को इस सुअवसर का लाभ लेना चाहिए । मुत्यु कब, किस रूप में और किस क्षण सामने आ जाए निश्चित नहीं है। अस्तु इस मानव पर्याय को सफल बनानें के लिए वे सारे कृत्य करने चाहिए जो मोक्ष प्राप्ति में सहायक हों । तप, धर्म का अभ्यास एवं आगमानुसार समाधिमरण करने से रत्नत्रय की प्राप्ति संभव है ।

समाधिमरण स्वैच्छिक देहत्याग का वह प्रारूप है जो धर्मसम्मत होने के साथ-साथ नैतिक रूप से भी ग्राह्य है इसे सामाजिक दृष्टि से भी मान्य किया गया है। प्राचीन काल से लेकर आज तक जैन परम्परा में इसे आदरपूर्ण स्थान प्राप्त है । इसके साक्षी जैन साहित्य एवं पुरातात्त्विक अभिलेख हैं जिनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है । पूर्व की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाँति आज भी समाधिमरण समारोहपूर्वक अत्यन्त श्रद्धा के साथ स्वीकार किया जाता है। यह ठीक है कि इस परम्परा से अनभिज्ञजन इस पर विविध तरह के आक्षेप करते रहते हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि इसके धार्मिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप पर शायद ही कभी किसी तरह का विवाद किया गया हो।

जैनेतर मतों में देहत्याग के रूप में विविध प्रकार के रूप मान्य रहे हैं जैसे पर्वत, वृक्ष अथवा किसी ऊँचे स्थान से गिरकर प्राणत्याग करना, अंग विशेष की बली चढ़ाकर, अग्नि में जलकर, जल में डूबकर, भारी वाहनों के सामने कूदकर मरण प्राप्त करना। एक समय में मरण प्राप्त करने की इन विधियों को धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक मान्यता प्राप्त थी। लेकिन कालान्तर में इनका विरोध हुआ और अंततः इन पर प्रतिबंध लगा दिया गया। ऐसा क्यों हुआ इस पर चिन्तकों में पर्याप्त ऊहापोह की स्थिति है। इस सम्बन्ध में उनका यही चिन्तन है कि मृत्यु को प्राप्त करने के ये प्रारूप अत्यंत वीभत्स एवं अमानवीय हैं। इनका सामाजिक दुरूपयोग सम्भव है। दूसरी तरफ समाधिमरण का देहत्याग मृदु, शान्त, सौम्य है जिसका दुरूपयोग कर पाना शायद सम्भव नहीं है। यही कारण है कि समाधिमरण पूर्व की भाँति आज भी जैनों के बीच लोकप्रिय बना हुआ है।

अस्तु यह माना जा सकता है कि समाधिमरण देहत्याग का एक प्रारूप है जिसका दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक महत्त्व है। इसके साथ-साथ समाधिमरण का अपना इतिहास भी है। प्रस्तुत पुस्तक में समाधिमरण से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के पक्षों का विवेचन भिन्न-भिन्न अध्यायों में हुआ है। पुस्तक में उपलब्ध सामग्री का प्रामाणिक विवेचम प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु मेरा परिश्रम तभी सार्थक होगा। जब विद्वान् पाठक इस पर अपनी प्रतिक्रिया और परामर्श हेतु दो शब्द कहेंगे। प्रस्तुत कृति में कुछ कमियाँ अवश्य होंगी जिसका उत्तरदायित्व मेरा है जिसका परिमार्जन पाठक के परामर्श के बिना शायद सम्भव नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक को पूर्ण करने में विविध स्तरों पर भिन्न-भिन्न महानुभावों का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग रहा है। अतः इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम मैं पूज्य गुरुवर प्रो० सागरमल जैन (मानद निदेशक एवं मंत्री, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी) के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके निर्देशन में यह कार्य पूर्णता को प्राप्त हुआ है और जिनकी स्वीकृति पर यह पुस्तक प्रकाशित हुई है। अतः उनका मै हृदय से आभारी हूँ।

पद्मविभूषण स्व० दलसुख मालवणिया (अहमदाबाद), प्रो० रामजी सिंह (पूर्व कुलपति, जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूं (राजस्थान), प्रो० कमलचन्द सोगाणी (पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर), प्रो० उमाशंकर लाल (पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया), प्रो० रेवती रमण पाण्डेय (आचार्य, दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि०, वाराणसी) का आभारी हूँ जिनकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेरणा ने मुझे पुस्तक पूर्ण करने का मार्ग प्रदान किया। इन गुरुजनों के आशीष के बिना पुस्तक का कार्य कभी भी पूर्ण नहीं हो पाता।

प्रो० बीना शाह (निदेशक, आई० ए० एस० ई०, महात्मा ज्योतिषा फुले रूहेलखण्ड वि० वि०, बरेली), डॉ० जितेन्द्र बी० शाह (निदेशक, शारदाबेन चिमन भाई एजुकेशनल ट्रस्ट, अहमदाबाद), डा० अशोक कुमार सिंह एवं डा० शिवप्रसाद (प्रवक्ताद्वय, पार्श्वनाथ विद्यापीठ,वाराणसी), को धन्यवाद देता हूँ जिनका सहयोग पुस्तक पूर्ण करने में प्राप्त हुआ।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के सचिव श्री भूपेन्द्रनाथ जैन, संयुक्त सचिव श्री इन्द्रभूति बरड़, निदेशक- प्रो० भागचंद जैन का आभारी हूँ जिनके सहयोग एवं कृपा के बिना संस्थान से इस पुस्तक का प्रकाशन शायद ही सम्भव हो पाता। उनके इस सहयोग के लिए उन्हे कोटिशः धन्यवाद।

अग्रज-शम्भू दा, अनुज-मनोज, बहन-रेखा एवं बहनोई-धनंजय, डा० अशोक कुमार श्रीवास्तव, श्री सुधीर शंकर के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ जिनके भावात्मक प्रेम ने पुस्तक पूर्ण करने का साहस प्रदान किया।

अपनी पत्नी डॉ० सुनीता (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, एस० वी० एस० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रुड़की) के सहयोग के बिना इस पुस्तक का प्रकाशन सम्भव नहीं था। उसने प्रत्येक स्तर पर इस हेतु पूर्ण योगदान किया। कमोवेश यह उसकी ही कृति है और उसे प्रदान कर अनुपम सुख का अनुभव कर रहा हूँ।

डॉ० विजय कुमार एवं डॉ० सुधा जैन (प्रवक्ताद्वय, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी) का पुस्तक प्रकाशन में सराहनीय योगदान रहा। इस हेतु दोनों को आभार, धन्यवाद एवं आशीर्वाद।

सुन्दर अक्षर-सज्जा हेतु राजेश कम्प्यूटर्स को और आकर्षक मुद्रण लिए राघव ऑफसेट को धन्यवाद देता हूँ।

एक बार पुनः सबके प्रति जिन्होंने इस पुस्तक को पूर्ण करने में परोक्ष/अपरोक्ष सहयोग किया, कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ एवं पुस्तक में होनेवाली त्रुटियों के लिए क्षमा चाहता हूँ।

महात्मा ज्योतिषा फुले
रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय,
बरेली-२४३००६ (उत्तर प्रदेश)

विनीत
रज्जन कुमार
उपाचार्य एवं अध्यक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रमणिका

१.	समाधिमरण और अन्य धार्मिक परम्पराएँ	१-४४
२.	समाधिमरण सम्बन्धी जैन साहित्य	४५-६१
३.	समाधिमरण एवं मरण का स्वरूप	६२-१२४
४.	समाधिमरण का व्यवहार पक्ष	१२५-१७३
५.	जैनधर्म में समाधिमरण की परम्परा	१७४-१८९
६.	समाधिमरण एवं ऐच्छिक मृत्युवरण	१९०-२१०
७.	उपसंहार	२११-२१७
८.	सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची	२१८-२२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम अध्याय

समाधिमरण और अन्य धार्मिक परम्पराएँ

समाधिमरण का स्वरूप

जीवन क्या है? इसे कैसे आनन्दमय बनाया जाए ताकि मनुष्य सुखों के साधनों का सम्यक् उपभोग कर सके। इसकी शिक्षा देनेवाले अनगिनत शास्त्र आज हमारे समक्ष हैं, विभिन्न प्रकार की तकनीक तथा कई प्रकार की प्रविधियों का अविष्कार भी हो रहा है। फिर भी मनुष्य सर्वदा से इस ऊहापोह में रहा है कि वह कैसे सुखपूर्वक जीवन बिताए? इस सन्दर्भ में वह सभी तरह के उद्यम करता रहता है, किन्तु वह जीवन के उस अन्तिम चरण से अनभिज्ञ रहता है जिसका नाम है - मृत्यु। मानव ने आनन्दपूर्वक जीने की कला तो सीखी है, लेकिन आनन्दपूर्वक मरण को स्वीकार करने की कला से वह अनभिज्ञ ही रहा है या रहना चाहता है। बहुत कम लोगों ने ही इस विषय पर चिन्तन किया है कि जीवन को सुखपूर्वक जीने के बाद प्राणों को सुखपूर्वक कैसे छोड़ा जाय? जिस प्रकार बचपन, यौवन, बुढ़ापा सुखपूर्वक बीता है, वैसे ही मृत्यु भी सुखपूर्वक एवं आनन्दपूर्वक आनी चाहिए। इस विषय पर सोचना बहुत आवश्यक है, जीवन कला तभी सार्थक होगी जब मृत्यु कला भी सीख ली जाए।

मनुष्य जीवन भर आनन्द करता है, खान-पान में, भोग-विलास में राग-रंग और हँसी-खुशी में समय बिताता है। चिन्ता, शोक आपत्ति क्या होती है? इसका नाम भी नहीं जानता अर्थात् हर दृष्टि से सुख का अनुभव करता है, किन्तु आखिरी समय जब मृत्यु आ खड़ी होती है, मौत का तांडव आंखों के समक्ष उपस्थित हो जाता है, तब हाथ-पांव कापने लगते हैं। अशांत, पीड़ा से व्यथित होकर तड़पता हुआ, विलखता हुआ सबको छोड़कर चले जाना, मन में धन-वैभव, मित्र-परिवार सबके लिए पीड़ा का भाव लिए इस संसार से प्रयाण कर जाना जीवन की कला नहीं कही जा सकती, क्योंकि मृत्यु का भय सम्पूर्ण जीवन के आनन्द को, चैन को ऐसे नष्ट कर देता है जैसे ओला-वृष्टि का तेज प्रहार संजोकर रखी गयी फसलों को चौपट कर देता है। मरणकाल की व्यथा जीवन के सभी आनन्द को मिट्टी में मिला देती है। इसीलिए जीवनकला के साथ-साथ मृत्युकला भी सीखनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय मनीषियों ने जितना जीवन के विषय में चिंतन किया है, उतना ही मृत्यु के विषय में भी सोचा है। जीवनकला के साथ-साथ उन्होंने मृत्युकला पर भी गहरा मनन किया है और इस रहस्य को प्राप्त कर लिया है कि मृत्यु के समय हम किस प्रकार हँसते हुए शान्ति और कृतकृत्यता का अनुभव करते हुए प्राणों को छोड़ सकते हैं। देहत्याग के समय हमें कोई मानसिक उद्वेग या चिन्ता न हो। जिस प्रकार हम अपने पुराने-फटे वस्त्रों को उतार कर नवीन वस्त्र धारण करते हैं, उसी प्रकार की अनुभूति देहत्याग के समय होनी चाहिए। जिस प्रकार पथ पर चलता हुआ पथिक लक्ष्य पर पहुँचकर विश्रान्ति का अनुभव करता है, उसी प्रकार की शान्ति और विश्रान्ति का अनुभव हमें देहत्याग के समय होना चाहिए। हमारी दृष्टि में शरीर-त्याग वस्त्र-परिवर्तन या यात्रा की समाप्ति से अधिक कुछ नहीं है, इस प्रकार की जीवन-दृष्टि होनी चाहिए। जीवन का यह दृष्टिकोण मृत्यु की कला है और इस कला को सीखाने का सबसे अधिक प्रयत्न जैन मनीषियों ने किया है, जिसे समाधिमरण, संलेखना, संथारा आदि नामों से जाना जाता है।

जैनधर्म मुख्य रूप से निवृत्तिप्रधान धर्म है। निवृत्तिप्रधान धर्म होने के कारण इसमें सांसारिक जीवन और भौतिक सुखों की उपलब्धि की उपेक्षा की गई है तथा मानव जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण माना गया है। जैनधर्म के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति के लिए नवीन कर्मबन्ध को रोकना होता है। साथ ही साथ पूर्व संचित कर्मों का भी क्षय करना होता है। इन्हें क्रमशः संवर और निर्जरा के द्वारा पूर्ण किया जाता है।

संयम और तप जैन साधना के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। संयम के द्वारा नवीन कर्मबन्ध की प्रक्रिया का निषेध अर्थात् आस्रव का निरोध किया जाता है। निर्जरा के द्वारा पूर्व संचित कर्मों का क्षय होता है। जैन साधना के लिए एक चतुर्विध मार्ग का प्रतिपादन किया गया है जिसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप का निरूपण हुआ है। कहा गया है कि ज्ञान के द्वारा हेय और उपादेय को जानना चाहिए, दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करनी चाहिए, चारित्र के द्वारा नवीन कर्मों का निग्रह करना चाहिए (चारित्र का तात्पर्य यहाँ संयम है) और तप के द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय करके आत्मा का शोधन करना चाहिए। इससे व्यक्ति तप और संयम के द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय करके सर्व दुःखों का अन्त कर देता है अर्थात् निर्वाण या मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

निर्ग्रन्थ परम्परा की कठोर तप-साधना प्रसिद्ध है। एक बार भगवान् बुद्ध ने कुछ निर्ग्रन्थों को कठोर तप करते देखा तो उन्होंने उनसे पूछा कि तुम यह कठोर तप क्यों कर रहे हो? उन्होंने (निर्ग्रन्थों) प्रत्युत्तर दिया कि हम पूर्व कर्मों या पापों का क्षय करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए यह कठोर तप कर रहे हैं। इस तप-प्रक्रिया का विस्तार से विवेचन 'तपोमार्ग' नामक अध्ययन में किया गया है। इसमें बारह प्रकार के तपों का विवेचन मिलता है जिनमें छह आन्तरिक एवं छह बाह्य तप हैं। बाह्य तपों में अनशन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें अनशन के यावत्कथित एवं मरणकाल दो रूपों का वर्णन है। अनशन को समाधिमरण की प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग माना गया है। इससे ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि समाधिमरण बाह्य तप है या बाह्य तप का एक अंग है, क्योंकि समाधिमरण की प्रक्रिया में अनशन के द्वारा जहाँ देह के कृशीकरण की प्रक्रिया अपनायी जाती है, वहीं ध्यान आदि साधना के द्वारा चतुर्विध कषायों को क्षीण करने की प्रक्रिया भी अपनायी जाती है।

समाधिमरण की प्रक्रिया न केवल शरीर व्युत्सर्ग की प्रक्रिया है, अपितु कषाय व्युत्सर्ग की भी प्रक्रिया है। इसमें आत्मशोधन या चित्तशोधन भी प्रमुख है। जैन परम्परा में समाधिमरण की साधना को मुख्य रूप में देह के प्रति ममत्वत्याग या देहासक्ति से ऊपर उठने के साथ ही साथ आत्मशोधन या आत्मानुभूति की प्राप्ति माना गया है। यह मरणकाल में उपस्थित होनेवाली बाधाओं से साधक को दूर रखती है जिससे कि उसके हृदय में व्याकुलता का भाव नहीं पनपता है। यह चेतना के अन्तर्मुखीकरण की प्रक्रिया है जो व्यक्ति में समत्व का भाव जगाती है, जिससे वह जीवन और मृत्यु दोनों ही परिस्थितियों में 'सम' बना रहता है। वह मृत्यु को भी जीवन की तरह ही एक आवश्यक प्रक्रिया समझता है। यही कारण है कि समाधिमरण को मृत्युकला के रूप में जाना जाता है।

जैन परम्परा के सामान्य आचार-नियमों में समाधिमरण एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है, जिसे संलेखना, संथारा आदि नामों से भी जाना जाता है। जैनधर्म में श्रमण साधकों एवं गृहस्थ उपासकों दोनों के लिए समाधिमरण ग्रहण करने के निर्देश मिलते हैं। जैन आगमों में समाधिमरण ग्रहण करने के अनेकों सन्दर्भ हैं। *अन्तकृद्दशांग* एवं *अनुत्तरोपपातिक* में ऐसे श्रमण साधकों और *उपासकदशांग* में ऐसे गृहस्थों की जीवन गाथाएँ मिलती हैं, जिन्होंने जीवन के अन्तिम समय में समाधिमरण ग्रहण किया था।

आचारांग, समवायांग, स्थानांग, पंचाशकादि प्राचीन जैन ग्रंथों में समाधिमरण अथवा संलेखना के स्वरूप पर विचार-विमर्श हुआ है, लेकिन *रत्नकरंडक श्रावकाचार* में आचार्य समन्तभद्र ने समाधिमरण के स्वरूप का सुस्पष्ट शब्दों में जो विवेचन किया है, वह अन्यत्र नहीं है। उनके अनुसार- "उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा (बुढ़ापा), असाध्य रोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा इसी तरह की कोई प्राणघातक अनिवार्य परिस्थिति उपस्थित हो जाने पर धर्म की रक्षा अथवा समभाव की साधना के लिए जो देहत्याग किया जाता है, वह समाधिमरण कहलाता है।''[१] उन्होंने समाधिमरण को धर्मरक्षार्थ जीवन की अंतिम बेला में ग्रहण की जाने वाली सम्यक् क्रिया माना है।

उत्तराध्ययन में समाधिमरण को पण्डितमरण अथवा सकाममरण भी कहा गया है। पण्डितमरण ज्ञानीजनों का मरण है। ज्ञानी पुरुष मृत्यु उपस्थित होने पर अनासक्त भाव से उसे ग्रहण करते हैं।[२] अनासक्त भाव का अर्थ है- देहत्याग की स्थिति में भी अविकल रहना। जो व्यक्ति मृत्यु से भागता है, उससे डरता है वह सच्चे अर्थ में अनासक्त जीवन जीने की कला से अनभिज्ञ रहता है। जिसे अनासक्त मृत्यु की कला नहीं आती वह अनासक्त जीवन की कला भी नहीं समझ सकता है। अनासक्त भाव से मृत्युवरण करने की कला को समाधिमरण कहा जाता है।

जीवन की अन्तिम बेला में अथवा किसी आसन्न संकटापन्न अवस्था में इधर-उधर के विक्षेप, माया-ममता, वैभव-विलास, ललक-लालसा से पृथक् होकर अपनी स्वीकृत साधना, आत्म-मन्थन के प्रति एक रूप होकर तथा सभी पाप, ताप, सन्ताप, समग्र आसक्ति-प्रीति से विमुक्त होकर अनशनपूर्वक देह पर से ममत्व का त्याग करने का नाम ही समाधिमरण है। साधना की इस अर्न्तमुखी स्थिति में साधक परिवार, घर, जड़, चेतन आदि सभी पदार्थों से आसक्ति का त्याग करता है। अपनी समग्र शक्ति अर्थात् आत्मा, मन, प्राण आदि को इस समत्व-साधना के साथ एकनिष्ठ तथा एकरस कर देता है। साधक को लौकिक और पारलौकिक दोनों ही संसार का आकर्षण नहीं रहता है। सभी ओर से सिमट कर वह विशुद्ध आत्म-परिणति में विचरण करता है। इस प्रकार समाधिमरण विशुद्ध चारित्र से युक्त आत्मभाव में आत्मा के रमण करने का नाम है।[३]

महाप्रत्याख्यान में समाधिमरण पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि समाधिमरण करनेवाले की आत्मा बोल उठती है..... "आहार, उपाधि, देह आदि सबका मैं मन-वचन-काय से त्याग करता हूँ।[४]

आहार, उपाधि आदि को व्यक्ति देहरक्षण के लिए ही धारण करता है, क्योंकि शरीर को बनाए रखने के लिए आहार आवश्यक है। सर्दी-गर्मी आदि से शरीर को बचाने के लिए वस्त्र, उपकरण आदि का प्रयोग उपाधि कहलाता है। लेकिन यहाँ तो जिस देह के रक्षण के लिए आहार, उपाधि को ग्रहण किया जाता है उसी को त्याग करने की बात कही जा रही है। अतः समाधिमरण की भावना एक बहुत ही उदात्त भावना की परिचायक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानी जा सकती है। मन-वचन-काय के प्रयोग के सन्दर्भ में यहाँ यह विवेचन उपस्थित किया जा सकता है कि तीनों ही योगों से आहार, उपाधि और देह के त्याग का भाव होना चाहिए, क्योंकि व्यक्ति वचन और काय से देहत्याग की बात करता है और मन से नहीं करता है, तो उसका यह देहत्याग समाधिमरण न होकर एक प्रकार से आत्महत्या ही होगी, जबकि समाधिमरण आत्महत्या नहीं है।

उपासकाध्ययन के अनुसार व्यक्ति को जब यह विदित हो जाए कि उसका शरीर नष्ट होनेवाला है तो उसे समभावपूर्वक शरीर का त्याग करना चाहिए। पुनः इसी में कहा गया है कि अगर देह ठहरने योग्य हो तो उसे नष्ट नहीं करना चाहिए और यदि वह नष्ट हो रहा हो तो किसी तरह का प्रमाद भी नहीं करना चाहिए।[४]

प्रायः व्यक्ति देहासक्ति के कारण अपने ग्लान शरीर को भरपूर शक्ति से बचाने का प्रयत्न करता है, लेकिन जब उसके प्रयत्न निष्फल होने लगते हैं तो वह दुःख और शोक के गहरे सागर में डूब जाता है। दुःख और शोक की यह छाया उसके बचे हुए जीवन को भी विषादमय बना देती है। फलतः वह जीवन और मृत्यु दोनों ही अवस्थाओं में क्लेश को प्राप्त करता है। यह क्लेश ही उसके समस्त दुःखों का कारण माना जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ (*उपासकाध्ययन*) में ग्रंथकार व्यक्ति को इस विषादमय क्लेश से मुक्त होकर नाशवान शरीर के विनष्ट होने पर किसी तरह का दुःख नहीं करने का संदेश दे रहे हैं।

सामान्य रूप से व्यक्ति राग-द्वेष से ग्रसित रहता है। वह देह के प्रति मोहभाव रखता है। फलतः वह नानाप्रकार के दुःखों को सहता है, क्योंकि देह के प्रति रागभाव और देह के विनाश के कारणों के प्रति द्वेषभाव होने से वह समभाव को प्राप्त नहीं कर पाता है। वह अपने प्रियजनों की मृत्यु अथवा स्वयं की मृत्यु की सम्भावना से सदैव भयभीत रहता है। लेकिन जो ज्ञानी हैं, वे ऐसा नहीं समझते हैं। वे अपनी मृत्यु से नहीं डरते हैं। उनके अनुसार तो मृत्यु जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी पिंजरे से आत्मा को छुटकारा दिलाती है, अतः यह तो कल्याणकारी मित्र है। ऐसी निराकांक्ष समभाव मृत्यु को मृत्यु महोत्सव (समाधिमरण) कहा गया है।[५]

सामान्य व्यक्ति संसार और विषय- कषाय के पोषक जड़ और चेतन पदार्थों को आत्मीय समझते हैं। इसी कारण उन्हें इनको छोड़ने में दुःख होता है। लेकिन जो ज्ञानी हैं और जिन्हें देह और आत्मा के भेद का ज्ञान है वे विषय और कषाय की पोषक बाह्य वस्तुओं को तथा अपने शरीर को भी आत्मीय नहीं मानते हैं। अतः उन्हें इनको छोड़ने का दुःख नहीं होता है। वे इस संसार को अपना वास्तविक निवास स्थान नहीं समझते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। वे इससे मुक्त होना चाहते हैं। अत: ज्ञानी व्यक्ति अपने पौद्गलिक शरीर के त्याग का अवसर उपस्थित होने पर आनेवाली मृत्यु का महोत्सव मनाते हैं। वे अपने रुग्ण, असक्त क्षणभंगुर, जीर्ण-शीर्ण शरीर को उसी प्रकार प्रसन्नतापूर्वक छोड़ते हैं जिस प्रकार नया वस्त्र ग्रहण करने के लिए पुराने वस्त्र का त्याग किया जाता है।[७]

समाधिमरण करनेवाला व्यक्ति सांसारिक विषयों के प्रति ममत्व का भाव नहीं रखता है। वह अपने माता-पिता, पुत्र-पुत्री, स्वजन-मित्र आदि के प्रति राग का भाव नहीं रखता है। वह परिजनों तथा अपने विरोधियों के प्रति किसी तरह का राग-द्वेष नहीं रखता है । वह स्वजन, परिजन सभी से अपने द्वारा किये गए अपराधों के लिए क्षमा मांगता है एवं उनके द्वारा उसे जो कष्ट हुआ है उसके लिए उन्हें क्षमा करता है। तात्पर्य है कि समाधिमरण करनेवाला व्यक्ति राग-द्वेष से मुक्त रहता है।[८]

तत्त्वार्थवार्तिक में कहा गया है कि मरण उत्तर पर्याय की प्राप्ति के साथ पूर्व पर्याय का नाश है। मृत्यु के समय कषायों एवं विषय-वासनाओं की न्यूनाधिकता के अनुसार आत्म-परिणामों पर अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है। अत: मरण को सुधारने या अच्छा बनाने के लिए जीवन के अन्तिम क्षण में समाधिमरण लिया जाता है। समाधिमरण के द्वारा अनन्त संसार की कारणभूत कषायों का आवेग उपशमित या क्षीण हो जाता है, जिसके कारण जन्म-मरण का प्रवाह समाप्त हो जाता है।[९] जन्म-मरण के प्रवाह के समाप्त होने का अर्थ यहाँ निर्वाण या मुक्ति से लिया गया है, क्योंकि निर्वाण या मुक्ति का अर्थ ही होता है बुझ जाना या मुक्त हो जाना। बुझने का अर्थ जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होना है।

मृत्यु अवश्यंभावी है। इससे बचा नहीं जा सकता है। अत: तप, संयम, समाधि आदि से जीवन को लाभान्वित करना चाहिए। तप, संयम, आदि व्रतों का पालन करते हुए शान्तिपूर्वक जो मृत्यु प्राप्त होती है, वह समाधिमरण ही है।[१०] महर्षि मृगापुत्र ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप आदि शुद्ध भावनाओं के द्वारा श्रामण्य धर्म का पालन करते हुए इस अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त किया था।[११]

जीवनभर व्यक्ति अपने देह की रक्षा करता रहता है। नाना प्रकार के कष्टों से इसे बचाता है। कितनों की प्रताड़ना को सहन करते हुए भी इसे भरपूर सुख देने का प्रयत्न करता है। लेकिन यह देह कृतघ्न की तरह एक दिन साथ छोड़ देती है। अज्ञानी व्यक्ति इस कृतघ्न देह के पीछे पागल रहता है। वह हर समय इसी उधेड़-बुन में रहता है कि कैसे इसे बचाया जाए। लेकिन मृत्युरूपी शिकंजा इसे अन्तत: कस ही लेता है। अज्ञानी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी देहासक्ति के कारण इस विचार से अत्यन्त दु:खित रहता है तथा अज्ञान के बन्धन में पड़ा रहता है। लेकिन जो व्यक्ति ज्ञानसहित देह पर से अपने ममत्व का त्याग करता है तथा धर्मध्यानसहित वीतरागतापूर्वक अपना देहत्याग करता है उसका यह देहत्याग ही समाधिमरण कहलाता है।[१२]

समाधिमरण करनेवाला व्यक्ति मृत्यु से घबराता नहीं है। मृत्यु का समय जब निकट होता है तो वह प्रसन्नता से विभोर होकर यह कह उठता है "अहिंसा, सत्य, क्षमा, संतोष की धर्म-साधना के मार्ग पर मैं एक साधक के रूप में चला हूँ और मानव जीवन के इस स्वर्णिम अवसर का मैंने पूरा-पूरा लाभ उठाया है। आत्म-साधना के नाम पर बहुत कुछ कर लिया है, अब शेष कार्य आगे करूँगा। जीवन का तो हमने पूरा-पूरा लाभ उठाया है, जीवन के अन्तिम क्षणों में भी झुकेंगे नहीं। हे मृत्यु ! हम तुम्हें ही झुकाएगें। वह कह उठता है- यह देह तो नाशवान है, इसे नष्ट होना ही है। अत: ऐ मृत्यु! तेरा स्वागत है, तू मेरे नश्वर शरीर को अपने साथ ले जा और मेरी अमर आत्मा को इससे मुक्त कर।"[१३] यहाँ व्यक्ति का यह मनोभाव उसकी ज्ञान-भावना तथा मृत्यु और जीवन के प्रति तटस्थता के भाव का प्रदर्शन कर रही है। तटस्थता की यह भावना ही समाधिमरण है।

डा० मोहनलाल मेहता के अनुसार जीवन के अन्तिम क्षणों में आहारादि का त्याग करके समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण करना समाधिमरण कहलाता है। वे पुन: कहते हैं कि जब व्यक्ति का शरीर इतना निर्बल हो जाए कि वह संयम की साधना अर्थात् आचार नियमों का सम्यक् रूपेण परिपालन करने में असमर्थ हो जाए तो ऐसी स्थिति में शरीर का त्याग ही करना उचित है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति का शरीर जब किसी भी कार्य को करने में असमर्थ हो जाए तो ऐसी अवस्था में बिना किसी राग-द्वेष के शान्त एवं प्रसन्नचित्त भाव से आहारादि एवं देह के पोषण के प्रयत्नों को त्याग कर आत्म-चिन्तन करते हुए आनेवाली मृत्यु का वरण कर लेना चाहिए। मृत्यु का इस तरह वरण करना ही समाधिमरण है। वृद्धावस्था या रुग्णता के अतिरिक्त भी जब आकस्मिक रूप में मृत्यु अपरिहार्य बन गई हो तो निर्विकार चित्तवृत्ति से देह का त्याग करना भी समाधिमरण कहलाता है।[१४]

डॉ० दरबारीलाल कोठिया समाधिमरण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं - सल्लेखना या समाधिमरण का अर्थ है सम्यक् प्रकार से काय (शरीर) और कषाय को कृश करना।[१५] काय और कषाय को कृश करने का तात्पर्य मृत्यु के समय की जानेवाली उस क्रिया विशेष से है, जिस क्रिया विशेष में बाहरी और भीतरी अर्थात् शरीर तथा रागादि दोषों के अनेक कारणों को कम करते हुए प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी दबाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के स्वेच्छा से जो देहत्याग किया जाता है, इस उत्तम क्रिया विशेष का नाम समाधिमरण है। श्री सुरेश मुनि ने भी समाधिमरण की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है- "मरण को निकट आया देखकर अथवा किसी आकस्मिक जीवन के संकट के क्षणों में अनशनपूर्वक देह से ममत्व का त्याग करके जीवनरक्षण की समस्त सहायक सामग्री का परित्याग करना ही समाधिमरण है।[१६]

इस तरह हम देखते हैं कि व्यक्ति धर्म की रक्षा के लिए भी समाधिमरण करता है। जब वह अशक्य तथा असहाय हो जाता है, इन्द्रियाँ अपने कार्यों का सम्पादन सम्यक् रूप से नहीं कर पाती है तथा वृद्धावस्था या किसी अन्य कारण से शरीर भारयुक्त लगने लगता है एवं किसी आकस्मिक कारण से प्राण जाने का भय रहता है, तब व्यक्ति समभावपूर्वक अपना देहत्याग करता है। समत्व का भाव इसलिए आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना ग्रहण की गई मृत्यु समाधिमरण नहीं कहला सकती। कारण कि समत्व के अभाव में व्यक्ति के मन में जीवन या मृत्यु के प्रति राग-द्वेष का भाव होना स्वाभाविक है और यह भाव उसे अपने पथ से भ्रष्ट कर देता है। पथभ्रष्ट व्यक्ति अपने धर्म की रक्षा नहीं कर सकता। अत: उसका देहत्याग धर्मरक्षण के लिए न होकर मात्र देहत्यागवृत्ति की रक्षा का परिचायक होगा, जो वस्तुत: समाधिमरण नहीं कहलाता।

समाधिमरण के स्वरूप पर की गई उपर्युक्त चर्चाओं के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि व्यक्ति का शरीर जब अपने आवश्यक कार्यों के सम्पादन में अशक्य हो जाए, इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने में अक्षम हो जाए, अत्यधिक वृद्धावस्था के कारण शरीर काँपने लगे, असाध्य रोग हो जाए तथा कुछ ऐसी विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाए जिसके कारण मृत्यु जीवन की देहली पर दस्तक देने लगे अथवा जब जीवन-रक्षण के लिए पतित होनेवाली परिस्थितियाँ पैदा हो जाएं, तो व्यक्ति को धर्मरक्षार्थ अपने शरीर का त्याग कर देना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में उनके द्वारा किया गया देहत्याग उनके संयम और धर्म दोनों की रक्षा करता है और यही उपादेय भी है।

जैन आचार्यों की दृष्टि में मानव शरीर की अपेक्षा धर्म या नैतिक मूल्यों की रक्षा का ज्यादा महत्त्व है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अगर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाए जिसमें धर्म और शरीर दोनों ही के नष्ट होने की सम्भावना हो अथवा धर्म की रक्षा शरीरत्याग से सम्भव हो तो धर्मरक्षार्थ शरीर का त्याग करना श्रेयस्कर है। लेकिन इस शरीरत्याग में व्यक्ति को मन में मरने या जीने की आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए। अगर किसी चीज की आकांक्षा रहे भी तो मात्र धर्म या नैतिक मूल्यों की रक्षा की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन और मृत्यु को एक शृंखला की दो कड़ी समझनी चाहिए। मृत्यु का समय आने पर उससे भयभीत नहीं होना चाहिए और उससे डरकर भागने का प्रयास भी नहीं करना चाहिए, वरन् एक सम्मानीय आगन्तुक की तरह उसका स्वागत करना चाहिए। क्योंकि अगर हम मृत्यु से डर जाएगें तो वह हमें डरायेगी और अगर मृत्यु से डरकर नहीं भागेंगे तो वह हमसे डरेगी अर्थात् व्यक्ति को मृत्युरूपी भय से मुक्त रहना चाहिए। मृत्यु से न भागने का तात्पर्य यहाँ इस भाव से है कि जिस तरह जीवन को सुखपूर्वक जीया जाता है, उसी तरह मृत्यु को भी एक आवश्यक कार्य समझकर अपनाना चाहिए, अर्थात् जिस तरह हम जीवन जीते हैं उसी तरह मृत्यु को भी स्वाभाविक रूप से समझें और उसे स्वीकार करने को तैयार रहें।

अत: समाधिमरण के स्वरूप में हमारे समक्ष देहत्याग की अवधारणा उपस्थित है। इस देहत्याग का समर्थन नैतिक दृष्टि से तथा धार्मिक दृष्टि से उचित माना गया है। अत: नैतिक दृष्टि से समर्थित इस देहत्याग को निम्न किसी भी अवसर अथवा परिस्थिति में स्वीकार करना उचित होगा? जैसे-

१. बाढ़, दुर्भिक्ष, अकाल, सूखा आदि विषम परिस्थितियों में जब खाद्य पदार्थों की आपूर्ति सुगमता से सम्भव न हो और उसके अभाव में जीवन जाने का भय हो तथा अपने धर्म से पतित हो जाने की संभावना हो, जैसे - शरीर बेचकर, किसी की हत्या करके, किसी का धन-अन्न चुराकर जीवन बचाना पड़े आदि।

२. जरा अर्थात् अत्यधिक वृद्धावस्था तपादि के अभ्यास के कारण सभी इन्द्रियाँ बल-क्षीण हो गयी हों, आवश्यक कार्यों के सम्पादन के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता हो, शरीर जब भारयुक्त हो गया हो इत्यादि।

३. असाध्य रोग हो जाने पर अर्थात् किसी प्रयत्न से भी जिसकी ठीक होने की सम्भावना नहीं है, उपचार करनेवाले तथा करानेवाले भी थक गए हों, अत्यधिक पीड़ा के कारण संज्ञाशून्य अवस्था में पड़े हों तथा जीवन रक्षा का कोई भी प्रयत्न संभव नहीं रह गया हो आदि।

४. अनिवार्य प्राणघातक परिस्थितियों में फँस जाने पर जहाँ से निकल पाना संभव नहीं हो, जैसे- दुष्ट, पतित, भ्रष्ट, हिंसक पशु, मानव तथा घनघोर जंगल, रेगिस्तान, समुद्र आदि स्थानों में भटक जाने पर।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं, जिनमें धर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से पतित होने की संभावना हो। इन सारी परिस्थितियों पर स्वयं व्यक्ति को ज्ञानपूर्वक सोच विचार करना चाहिए तथा उपयुक्त और अनुपयुक्त विवेक का अनुपालन करते हुए समाधिमरणपूर्वक देहत्याग को स्वीकार करना चाहिए।

समाधिमरण के पर्यायवाची शब्द

जैन विचारकों ने समाधिमरण पर विस्तार से चर्चा किया है। उन्होंने समाधिमरण को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा है, उदाहरणस्वरूप-संलेखना, संथारा, पण्डितमरण, सकाममरण, अन्तःक्रिया, उत्तमार्थ, उद्युक्तमरण आदि। उपर्युक्त सभी नाम समाधिमरण के ही पर्यायवाची हैं। इनका अर्थ निम्नलिखित ढंग से स्पष्ट किया जा सकता है।

संलेखना

संलेखना शब्द सम् + लेखना से मिलकर बना है। सम् का अर्थ होता है- सम्यक् प्रकार से या ठीक से अथवा उचित रीति से और लेखना से तात्पर्य है- कृश या क्षीण करना। दूसरे शब्दों में सम्यक् प्रकार से काय (शरीर) और कषाय को क्षीण करना या कृश करना संलेखना है। मृत्यु के समय विशेष साधना के द्वारा शरीर और रागादि दोषों तथा उनके कारणों को क्षीण करते हुए प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी दबाव के समभाव से जो देहत्याग किया जाता है, वह संलेखना है।[१७]

संथारा

संथारा या संस्तारक का अर्थ होता है- शय्या या बिछावन।[१८] संल्लेखना में मृत्यु के आगमन की प्रतीक्षा के लिए व्यक्ति जो संस्तारक ग्रहण करता है, उसे ही संथारा कहा जाता है। वस्तुतः यह मृत्यु शय्या पर आरूढ़ होना है। आहारादि का त्याग कर तथा सम्यक् शय्या या संस्तारक ग्रहण कर शान्त चित्त से एक स्थान पर रहकर आनेवाली मृत्यु की समत्वभाव से प्रतीक्षा करना ही संथारा है। बिछावन या संस्तारक के रूप में व्यक्ति तृणशय्या, काष्ठफलक या कभी-कभी मात्र भूमि ही ग्रहण करता है। शय्या किस तरह की ग्रहण की जाए यह व्यक्ति की योग्यता तथा सहनशीलता के ऊपर निर्भर करता है।

समाधिमरण

समाधिमरण समाधि +मरण इन दो शब्दों के योग से बना है। समाधि का अर्थ है- चित्त या मन की शान्त अवस्था और मरण का अर्थ है- देह का त्याग। मन में उत्पन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होनेवाले राग, द्वेष, मोह, भय, शोक आदि विकारी भावों को मन से दूर करके अत्यन्त शान्त भाव से और सहजता के साथ प्राणत्याग करना ही समाधिमरण है। *महापुराण* में कहा गया है कि उत्तम परिणामों में चित्त को स्थिर रखना ही समाधि है।[१९] समाधिमरण की साधना के अनुक्रम में जो देहत्याग किया जाता है उस अवस्था में व्यक्ति को अपने चित्त को शुभ परिणामों पर स्थिर रखना ही पड़ता है, अन्यथा मन में विक्षेप आ सकता है और वह राग-द्वेष से घिर सकता है। राग-द्वेष भाव से युक्त देहत्याग समाधिमरण नहीं हो सकता।

पण्डितमरण

समाधिमरण का पर्यायवाची शब्द पण्डितमरण भी है। पण्डित शब्द का अर्थ यहाँ ज्ञानी, विद्वान् आदि व्यक्ति के लिए आया है। ज्ञानी व्यक्ति से तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो जीवन के मूल्यों और हेय-ज्ञेय-उपादेय को जानता हो। वह व्यक्ति दैहिक मूल्यों की अपेक्षा आध्यात्मिक मूल्यों को श्रेष्ठ समझता है। अत: वह देह की बलिवेदी पर भी उच्च-आध्यात्मिक जीवन की रक्षा करता है। इस तरह वह विवेकपूर्वक उच्च आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए देह के प्रति निर्ममत्व का भाव रखता है। इसी भाव के वशीभूत होकर वह जो देहत्याग करता है, पण्डितमरण कहलाता है।[२०]

सकाममरण

उद्देश्यपूर्वक स्वेच्छा से मृत्यु को प्राप्त करना सकाममरण है। सकाम का अर्थ यहाँ कामना या आकांक्षा से नहीं है, वरन् किसी विशेष उद्देश्य से है। तात्पर्य है कि व्यक्ति मृत्यु की बेला में अनासक्त भाव से उसे अपना मित्र समझकर गले लगाता है। इसके पीछे उसके मन में किसी तरह का प्रमाद, राग या द्वेष का भाव नहीं रहता है।[२१] वह एक सार्थक लक्ष्य की प्राप्ति को ध्यान में रखकर उद्देश्यपूर्ण मृत्यु ग्रहण करता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अर्थपूर्ण या लक्ष्ययुक्त मृत्यु ही सकाममरण है।

संन्यासमरण

संन्यास का अर्थ है- ममत्व का त्याग करना। समाधिमरण ग्रहण करने के क्रम में व्यक्ति सांसारिक पदार्थों पर से अपने ममत्व का त्याग करता है। वह अपनी सबसे प्रिय वस्तु शरीर पर से भी अपने ममत्व का त्याग करता है। इस तरह वह पूर्णरूपेण निर्ममत्व भाव से अपने देह का त्याग करता है। संन्यास की अवस्था में भी व्यक्ति पूर्ण निर्ममत्व को अपनाता है। इस प्रकार दोनों ही अवस्थाओं में व्यक्ति के मनोभाव समान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहते हैं। इसी कारण संन्यासमरण को समाधिमरण का पर्यायवाची माना गया है।[२२]

अन्त:क्रिया

अन्त:क्रिया को भी समाधिमरण का पर्यायवाची माना गया है। *रत्नकरण्डक-श्रावकाचार* के अनुसार समाधिमरण की क्रिया जीवन के अन्तिम भाग में पूर्ण की जाती है- इसी कारण यह अन्त:क्रिया के नाम से भी जाना जाता है। पुन: सम्यक्-चारित्र के अन्त में इसका निर्देश होने से भी इसे अन्त:क्रिया कहते हैं। यह सम्यक्-चारित्र की साधना का अन्तिम धार्मिक अनुष्ठान है तथा जीवन के अन्तिम भाग में की जानेवाली समीचीन क्रिया है।[२३]

उत्तमार्थ

उत्तमार्थ समाधिमरण का पर्यायवाची नाम है। *संथारपइन्ना* में उत्तमार्थ नाम का प्रयोग किया गया है। उत्तमार्थ का अर्थ है- उत्तम अर्थ।[२४] यहाँ अर्थ का तात्पर्य उद्देश्य या लक्ष्य है। साधना का अन्तिम एवं सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य मोक्ष है। यही कारण है कि मोक्ष को उत्तमार्थ कहा जाता है और मोक्ष का साधन होने से समाधिमरण को भी उत्तमार्थ कहा गया है।

उद्युक्तमरण

समाधिमरण के विभिन्न नामों में से एक नाम उद्युक्तमरण भी है[२५], जिसका अर्थ होता है- उद्योगपूर्वक, प्रयत्नपूर्वक, सम्यग्विधिपूर्वक, पराक्रमपूर्वक, आलोचनापूर्वक, क्षमापनापूर्वक मृत्यु को प्राप्त करना।

समाधिमरण के ये विविध पर्यायवाची नाम वस्तुत: उसके विविध पक्षों के सूचक कहे जा सकते हैं। कारण कि समाधिमरण एक प्रक्रिया है जिसमें शास्त्रसम्मत विधियों का पालन करते हुए व्यक्ति राग-द्वेष, ममत्व आदि सभी प्रकार के कषायों को अल्प करता है। कषायों को अल्प किए बिना समाधिमरण संभव नहीं है, अल्प कषायवाला व्यक्ति अपने शरीर पर कम ममत्व रखता है। इसी कारण जब उसके समक्ष शरीरत्याग का प्रसंग उपस्थित होता है तब भी वह समत्वभाव से युक्त रहता है और समभावपूर्वक शरीरत्याग करता है।

जैन परम्परा में समाधिमरण का स्थान

जैनधर्म में वर्णित योग-साधना में समाधिमरण की साधना सबसे कठिन है, किन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन की अन्तिम बेला में साधनाशील आत्मा को चिर शान्ति प्रदान करने का यह एक उत्तम साधन है। जैन संस्कृति में इसे व्रतराज के नाम से भी जाना जाता है। *मरणसमाहि प्रकीर्णक*[१६] में स्पष्टरूप से लिखा गया है कि सामान्य परिस्थिति में व्यक्ति अपने शरीर की रक्षा आहारादि की सहायता से करता है। लेकिन जब उसे यह विदित हो जाता है कि अब यह शरीर आहार आदि लेने से भी ठहरनेवाला नहीं है अर्थात् विनष्ट हो जाने-वाला है, तब वह तपादि की सहायता से अपने कषायों को क्षीण करते हुए शरीरत्याग की दिशा में उद्यत होता है। वस्तुत: उसके शरीरत्याग का यह प्रत्यन ही समाधिमरण कहलाता है।

पण्डित आशाधरजी के अनुसार स्वस्थ शरीर भोजन आदि द्वारा पोषण करने योग्य है। निर्बल तथा रोगग्रस्त शरीर औषधियाँ तथा अन्य विधियों द्वारा सेवा करने योग्य है। लेकिन जब शरीर का रोग निरन्तर बढ़ता ही जाए और उसका ठीक होना सम्भव नहीं हो तो व्यक्ति को समाधिमरण व्रत ग्रहण करके शरीर का त्याग करना चाहिए।[१७] समाधिमरण का यह व्रत व्यक्ति अपने आत्मधर्म की रक्षा के लिए ही करता है, क्योंकि यह कहा गया है कि शरीर नष्ट होने पर वह पुन: सहजता से प्राप्त हो सकता है, लेकिन धर्म नष्ट होने पर पुन: सहजता से प्राप्त नहीं हो सकता।[१८] तात्पर्य यह है कि व्यक्ति का शरीर जब किसी रोग के कारण असक्त होने लगे तथा वह अपने कार्यों का सम्पादन स्वयं ठीक से नहीं कर सके किसी भी कार्य के लिए उसे दूसरे की सहायता लेनी पड़े, शरीर भारयुक्त लगने लगे तब वह समाधिमरण कर सकता है। सामाजिक होने के कारण मनुष्य स्वावलंबी नहीं हो सकता है, क्योंकि अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसे समाज के विभिन्न वर्गों का सहायोग लेना ही पड़ेगा। लेकिन कुछ आवश्यक कार्य जैसे दैनिक कार्यों का सम्पादन, धर्माराधना तथा तपाभ्यास आदि के लिए उसे स्वावलंबी होना पड़ता है। यह उसका धर्म भी माना जा सकता है। अत: जहाँ धर्म से पतित होने की बात है तो इसके लिए व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है। अत: व्यक्ति को अपना काम स्वयं करना चाहिए, अगर किसी कारणवश वह ऐसा नहीं कर पा रहा है तथा दूसरों पर आश्रित है, छोटे से कार्य के लिए भी उसे किसी के सहारे की आवश्यकता है और उस हेतु उसे अपमानित होना पड़ता है, जिससे उसके मन में ग्लानिभाव तथा सेवा करनेवालों के भी मन में क्षोभ उत्पन्न होता है। इस प्रकार दो प्राणियों को कष्ट होता है। अत: इस परिस्थिति में उचित यही होगा कि व्यक्ति को समभावपूर्वक आहारत्याग करके समाधिपूर्वक देहत्याग का निर्णय कर लेना चाहिए। इससे उसे स्वयं आत्म-सन्तुष्टि होगी तथा दूसरों को भी किसी तरह का कष्ट नहीं होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधिमरण करने से व्यक्ति को वे सभी फल प्राप्त हो जाते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिए वह जीवन भर तप, अहिंसादि व्रतों को धारण किए रहता है। व्यक्ति अपनी आत्मशुद्धि के लिए ही जीवन भर कठिन तप एवं ध्यान-साधना में रत रहता है। यही आत्मशुद्धि व्यक्ति को जीवन के अन्तिम क्षण में समाधिमरणपूर्वक शरीरत्याग करने से प्राप्त हो जाती है।[२९] विभिन्न शास्त्रों की परिचर्या तथा विद्वानों की संगति और इसी तरह के अन्यान्य कार्य व्यक्ति अच्छे जीवन पाने के लिए करता है, इन सभी की प्राप्ति समाधिपूर्वक शरीरत्याग करने से भी सम्भव हो सकती है।[३०]

कठिन तप तथा अहिंसादि व्रत के पालन करने से व्यक्ति सदाचारी होता है। सदाचारी होने के कारण वह कर्मों का संचय अल्प मात्रा में करता है। कर्म कृश हो जाते हैं और समस्त कर्मों के क्षय हो जाने पर यदि वह देहत्याग करता है तो सीधे उसे मुक्ति की प्राप्ति होती। पुनर्जन्म का हेतु कर्म को माना गया है और समाधिमरण लेने वाला इन कर्मों को कृश करके ही देहत्याग करता है।

सामान्यतः व्यक्ति धर्म एवं आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा के लिए अपने शरीर का पोषण एवं रक्षण करता है, लेकिन जब उसका शरीर धर्म और आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा करने में समर्थ नहीं होता है और वह बोझ बनने लगता है, तब ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति धर्म एवं आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा के निमित्त देहत्याग करता है। उसका यह देहत्याग आध्यात्मिक दृष्टि से उचित माना जा सकता है। देवनन्दी ने इसे बड़े ही अच्छे ढंग से समझाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार सोना-चाँदी, खाद्य पदार्थ तथा अन्य इसी तरह की मूल्यवान और उपयोगी वस्तुओं का व्यापार करनेवाले व्यवसायी को उस घर का विनाश कभी भी इष्ट नहीं होता जिसमें उक्त वस्तुएँ रक्खी हों। यदि कदाचित् किसी कारणवश उसके विनाश का प्रसंग (आग, बाढ़) आदि उपस्थित हो जाए तो वह उस घर की रक्षा का पूरा उपाय करता है, लेकिन जब घर-रक्षा का उपाय सफल होता नहीं दीखता है तो घर में रक्खे हुए बहुमूल्य वस्तुओं को ही बचाने का प्रयास करता है और घर को नष्ट होने देता है। इसी प्रकार व्रत, शीलादि गुणों का अर्जन करनेवाला व्यक्ति इन व्रतादि गुणों के आधारभूत शरीर का पोषण एवं रक्षण आहार द्वारा करता है। दुर्भाग्यवश यदि शरीर के विनाश का कारण (असाध्य रोग तथा अन्य कारण) उपस्थित हो जाता है तो वह उसे दूर करने का यथासम्भव प्रयत्न करता है। लेकिन जब उसको दूर करने में सफल नहीं होता है तो वह बहुमूल्य शीलादि व्रत गुणों की रक्षा करते हुए समाधिपूर्वक शरीरत्याग करता है।[३१] तात्पर्य यह है कि धर्म एवं आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा के लिए ही समाधिमरण ग्रहण किया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म में समाधिमरण का उद्देश्य देह का विनाश करना नहीं है, अपितु उस स्थिति में जब शरीर का त्याग अपरिहार्य हो गया हो तब उसके पोषण के प्रयत्नों को त्याग करके उसके प्रति ममत्व को दूर कर लेना है, ताकि देहत्याग की वेला में चित्त की समाधि बनी रहे। समाधिमरण का निश्चय चित्त की विकलता को दूर करने के लिए किया जाता है। अत: जैनधर्म में समाधिमरण को साधना का एक अंग माना गया है, जिसकी सहायता से मन में आए विकलता के भाव को दूर किया जा सके। व्यक्ति में सबसे अधिक रागात्मकता अपने शरीर के प्रति ही होती है और शरीर के प्रति यह रागात्मकता समाधिमरण के निश्चय द्वारा ही छोड़ी जा सकती है। इसीलिए समाधिमरण साधना का सर्वश्रेष्ठ रूप माना गया है।[३२]

सामान्यत: यह भी माना जाता है कि मृत्यु की वेला में व्यक्ति में जिस प्रकार की मनोदशा होती है भावी जीवन की गति भी उसी तरह की ही होती है। यही कारण है कि जैन आचार्यों ने समाधिमरण के निश्चय को आवश्यक माना है और समाधिमरण को मुक्ति का द्वार कहा है।

राग-द्वेष बन्धन के मूल कारण हैं। इन्हीं के कारण व्यक्ति अपने-पराये के बोध से ग्रसित रहता है तथा संसार के इस भवचक्र में उलझता रहता है, लेकिन समाधिमरण करनेवालों को अपने-पराये तथा सांसारिक वस्तुओं से किसी तरह का लगाव नहीं रहता है। वह निर्लिप्त हो जाता है और निर्लिप्तता की इस स्थिति में जन्म-मृत्यु के भय से ऊपर उठ जाता है तथा जीवन और मृत्यु दोनों ही परिस्थितियों में समभाव बनाए रखता है। उसके मन में बहुत ही उच्चकोटि के विचार उठते हैं तथा वह सोचता है कि यह शरीर मेरा नहीं है। मैं किसी काल में इस शरीर का नहीं हूँ। यह देह स्थूल तथा क्षणभंगुर है और मैं स्थिर तथा चैतन्यस्वरूप हूँ। यह शरीर जन्म, जरा, मरण से युक्त है, रोग, आधि-व्याधि से घिरा हुआ है। दु:ख या कष्ट इस देह को होता है, मुझे नहीं। संसार में सम्पत्ति या विपत्ति, संयोग या वियोग, जन्म या मरण, सुख या दु:ख, मित्र या शत्रु जो कुछ भी होता है वह सभी पूर्व में किए गए पाप-पुण्य का फल है। मैं एक ज्ञायक स्वभाववाला हूँ। उसी का कर्ता, भोक्ता और अनुभवकर्ता हूँ। ज्ञायक का स्वभाव तो अविनाशी है, उसका किसी भी तरह विनाश नहीं होता है। वह तीनों कालों में अबाधित और अचल है। अत: यह शरीर रहा तो क्या? गया तो क्या? इसलिए शरीर पर से पूर्णत: अपने ममत्व का त्याग करता हूँ। मैं समाधिमरण व्रत करके मोक्ष को प्राप्त करना चाहता हूँ।[३३]

धर्मामृत (सागार) के अनुसार- इस संसार में जीव ने अनन्त बार जन्म लिया और अनन्त बार मरण को भी भोगा है, लेकिन जीव ने कभी भी समाधि सहित पुण्यमरण नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया। जो जीव समाधि सहित पुण्यमरण प्राप्त करता है, वह निश्चय ही इस माया रूपी संसार के बन्धन को सर्वदा के लिए तोड़ देता है।[३४] मोहग्रस्त व्यक्ति बार-बार जन्म लेता है और बार-बार मरता है। इस तरह वह जन्म-मरण के चक्कर में फँसा रहता है। उसे इससे तब तक मुक्ति नहीं मिलती है जब तक कि वह मोक्ष नहीं प्राप्त कर लेता है, क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि मोक्ष प्राप्त करने के बाद जीव को मुक्ति मिल जाती है और वह जन्म-मरण के चक्र-प्रवाह से मुक्त हो जाता है। समाधिमरण के द्वारा व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। अत: इसी कारण समाधिमरण करनेवाला व्यक्ति संसार के बन्धन को सर्वदा के लिए तोड़ देता है।

भगवती आराधना के अनुसार समाधिमरण का व्रत लेनेवाला व्यक्ति अपना जीवन सफल करने के साथ-साथ अन्य जीवों का भी जीवन सफल करने में सहायक होता है, क्योंकि क्षपक (समाधिमरण करने वाला व्यक्ति) की सेवा सुश्रुषा करनेवाले व्यक्ति को भी समाधिमरण का फल कुछ अंशों में प्राप्त हो जाता है, जिससे वह भी अपना जीवन सफल कर सकता है। तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति समाधिमरण करनेवाले का दर्शन, वन्दना, पूजा आदि करते हैं वे अपने सभी पापों को कम कर लेते हैं। सम्पूर्ण तीर्थों के तीर्थाटन से जो लाभ उनको मिलाता है वही लाभ क्षपक के दर्शन मात्र से प्राप्त कर लेते हैं। ऋषि, मुनि तथा अन्य सिद्ध पुरुषों की वन्दना करने से जो पाप घटता है, वही क्षपक की वन्दना से भी प्राप्त हो जाता है। अन्त में यही कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति क्षपक की सदा सेवा करता है उस व्यक्ति की साधना,आराधना,पूजा आदि निर्विघ्न समाप्त हो जाती है और वह मुक्ति को प्राप्त करता है।[३५]

समाधिमरण ग्रहण करनेवाला व्यक्ति कठिन तप कर अपनी क्षुद्र पिपासा को शान्त कर लेता है, अत: उसमें भी देवत्व का भाव आ जाता है। उसकी पूजा-वंदना करने का अर्थ है देवी-देवताओं की पूजा-वंदना करना। ऋषि, मुनि तथा अन्य सिद्ध पुरुष मोक्ष प्राप्ति के लिए कठिन साधना करते हैं। वे सांसारिक वस्तुओं का त्याग कर देते हैं। इसी कारण वे आम आदमियों से अलग प्रतीत होते हैं तथा समाज में उनका आदरणीय स्थान होता है और लोग उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। समाधिमरण करनेवाला सांसारिक भोग-विलासों को त्याग देता है तथा ऋषि, मुनि की तरह जीवन यापन करता है, बल्कि वह उनकी अपेक्षा एक कदम आगे बढ़ जाता है, क्योंकि समाधिमरण करनेवाला सम्पूर्ण आहार का त्याग करता है, जबकि ऋषि,मुनि तो अल्प आहार लेते हैं। अत: उसकी वन्दना करने से ऋषि, मुनियों की वन्दना करने जैसा ही लाभ प्राप्त होता है। सामान्य व्यक्ति किसी की भी पूजा, अर्चना इसलिए करता है कि पूजित आत्मा उसे मुक्ति प्रदान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करेगी तथा संकटों से बचायेगी। मानव के लिए सबसे बड़ा संकट बुरे कर्मों से बचना तथा मुक्ति को प्राप्त करना है। क्षपक की वन्दना करने से इन दोनों की प्राप्ति होती है। क्षपक की उग्र साधना को देखकर सामान्य व्यक्ति के मन में भी साधनाभ्यास का भाव उठता है, सम्भव है कि वह इस दिशा में प्रयास भी करने लगे। अगर ऐसा होता है तो उसके कर्मों का क्षय भी होता है और उसे मुक्ति की भी प्राप्ति होती है। *उत्तराध्ययन* में स्पष्ट रूप में लिखा हुआ है कि पंडितमरण (समाधिमरण) करनेवाला व्यक्ति संसार के आवागमन से मुक्त हो जाता है और मृत्यु पर शासन करता है।[३६] संसार के आवागमन से मुक्त होने का अर्थ है- जन्म-मृत्यु के प्रवाह से मुक्त होना तथा मृत्यु पर शासन करने का अर्थ है- मृत्यु से डरना नहीं, बल्कि उसे अपने आगे झुकाना। पुनः इसी ग्रन्थ में लिखा हुआ है कि समाधिमरण करनेवाला जीव (व्यक्ति) सांसारिक राग-द्वेष से दूर रहता है, उसे इस लोक और परलोक की चिन्ता नहीं रहती है। वह भगवद् आराधना करते हुए अपना सम्पूर्ण जीवन बिता देता है तथा जीवन के अन्तिम क्षण में आनेवाली मृत्यु की प्रतीक्षा किसी प्रिय मित्र की तरह करता है। जब मृत्यु आती है तो खुशीपूर्वक उसे गले लगाता है।[३७]

समाधिमरण का जैनधर्म में कितना अधिक सम्मान एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है इसका पता तो इसी से चलता है कि प्रत्येक जैन मुनि एवं श्रावक अपनी उपासना के अन्त में यही कामना करता है- मैं समाधिमरण में प्रवृत्त होकर इस मार्ग को सुखपूर्वक पार कर सकूँ। इसके लिए भगवान् ही (वीतरागदेव) समाधि तथा बोधि (ज्ञान) एवं कल्याणकारी पथ प्रदान करें, जिससे मैं मुक्ति के पथ पर चल सकूँ और मुक्ति प्राप्त कर सकूँ।[३८] अर्थात् समाधिमरण रूपी पथ पर चलकर मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। अतः मुक्ति प्राप्ति के लिए समाधिमरण की सफलता आवश्यक है।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि जीवन भर जितने भी व्रत एवं तप किए जाते हैं, उनका जितना फल व्यक्ति को प्राप्त होता है उनसे कहीं अधिक फल जीवन के अंतिम क्षणों में समाधिमरण करने से प्राप्त हो जाता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिए कि जीवन भर बुरे कर्मों में लिप्त रहा जाए एवं जीवन के अंतिम क्षण में समाधिमरण अपना लिया जाए। इस तरह से समाधिमरण किया ही नहीं जा सकता। जहाँ तक समाधिमरण के महत्त्व की बात है तो क्षपक की सेवा करनेवालों को भी उसी फल का कुछ अंश प्राप्त हो जाता है, जो फल वस्तुतः क्षपक को प्राप्त होनेवाला है अर्थात् सेवा करनेवाला भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है। किन्तु सेवा करनेवाला स्वार्थवश क्षपक की सेवा करता है, तो उसकी सेवा-भावना फलदायी नहीं होती। लेकिन वह सेवा करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मात्र की भावना से प्रेरित होकर क्षपक की सेवा करता है तो उसकी यह भावना अवश्य फलदायी मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त क्षपक की पवित्र मनोदशा और भावना भी सेवा करनेवालों पर अपना प्रभाव डालती है। क्षपक के आभामण्डल से निःसरित होने वाली तरंगों को ही इसके लिए उत्तरदायी माना जा सकता है।

ब्राह्मण परम्परा और समाधिमरण

सामान्यतया आत्महत्या और आत्मबलिदान की सहमति ब्राह्मण परम्परा में भी देखने को नहीं मिलती है। इसमें आत्महत्या या आत्मबलिदान को हेय दृष्टि से देखा गया है। लेकिन कुछ विशिष्ट धार्मिक अनुष्ठानों और कुछ विशेष परिस्थितियों में आत्मबलिदान की सहमति प्रदान की गयी है और इसे हेय दृष्टि से नहीं देखा गया है।

ब्राह्मण परम्परा के धर्म-ग्रंथों में आत्महत्या एवं आत्मबलिदान को पाप माना गया है और इसका निषेध किया गया है। *मनुस्मृति* में कहा गया है कि आत्महत्या करनेवाले व्यक्ति का श्राद्ध नहीं करना चाहिए, साथ ही उसकी आत्मा की तृप्ति के लिए जल नहीं देना चाहिए।[१०]

यमपुराण में आत्महत्या की निन्दा की गयी है तथा यह निर्देश दिया गया है कि 'आत्महत्या' करनेवाला व्यक्ति यदि मर जाता है तो उसके परिवारवालों पर एक-एक पण का दण्ड लगाना चाहिए। यदि वह मरने से बच जाता है तो शास्त्रों के अनुसार उस पर २०० पण का दण्ड लगाना चाहिए।[११]

प्रसिद्ध महाकाव्य *महाभारत* में भी आत्महत्या की निन्दा करते हुए इसे पाप माना गया है। *आदिपर्व* के अनुसार- आत्महत्या पाप है। आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति कभी भी स्वर्ग को प्राप्त नहीं कर सकता है।[१२]

धर्मशास्त्र का इतिहास के रचयिता डा०काणे ने *सम्वर्तस्मृति* के आधार पर आत्महत्या को पाप कहा है और लिखा है कि आत्महत्या करनेवाला क लिए दुःख नहीं करना चाहिए। वह राक्षसों के द्वारा आश्रित होता है और उसी के कुल में पैदा होता है।[१३]

इस प्रकार सामान्यतया ब्राह्मण परम्परा में आत्महत्या की भर्त्सना ही की गयी है, लेकिन कुछ उल्लेख ऐसे भी उपलब्ध हुए हैं जिसमें आत्मबलिदान की प्रशंसा की गयी है तथा उसके प्रति सहमति भी व्यक्त की गयी है।

रामायण में शरभंग मुनि के इच्छितमरण का प्रसंग आया है। शरभंग मुनि ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वेच्छापूर्वक अग्नि में प्रवेश करके देहत्याग किया और दिव्य लोक को प्राप्त किया था।[13]

लक्ष्मण ने भी स्वेच्छापूर्वक मरण किया था। राजा राम के आदेशानुसार लक्ष्मण को देश निकाले का दण्ड मिला। लक्ष्मण राम के आदेशानुसार देश से बाहर जाने को उद्यत हुए, लेकिन राम से अलग रहना लक्ष्मण के लिए असह्य था। इसी कारण लक्ष्मण ने सरयू नदी में जलसमाधि लेकर इच्छापूर्वक मृत्यु का वरण किया था।[14] सीता ने भी इच्छितमरण प्राप्त किया था। सीता एवं लक्ष्मण के इच्छितमरण प्राप्त करने पर राम को भी अपने जीवन से विरक्ति हो गयी। उन्होंने अपने भाई भरत और शत्रुध्न के साथ सरयू नदी में जलसमाधि लेकर इच्छापूर्वक मृत्यु का वरण किया। इस घटना को सुनकर रामराज्य के समस्त नागरिकों ने भी सामूहिक रूप से सरयू नदी के जल में प्रवेश करके इच्छितमरण किया था।[15]

ब्राह्मण परम्परा में महाप्रस्थान के रूप में इच्छितमरण का प्रसंग विवेचित है। महाप्रस्थान का अर्थ होता है- दुबारा लौटकर घर या संसार में नहीं आना। महाप्रस्थान लेने से पहले व्यक्ति को तप, यज्ञ तथा इसी तरह के अन्य धार्मिक अनुष्ठान करने पड़ते हैं। महाप्रस्थान को लेकर श्रीनारायण भट्ट, मित्र मिश्र और श्री लक्ष्मीधर आदि के विचारों में मतैक्य है। इनके अनुसार महाप्रस्थान की महापथ-यात्रा में व्यक्ति को आग में जलकर, जल में डूबकर, पहाड़ या ऊँचाई से कूदकर प्राणत्याग करना चाहिए।[16]

वनपर्व में महाप्रस्थान की चर्चा की गयी है और यह लिखा गया है कि व्यक्ति को महाप्रस्थान व्रत लेना चाहिए तथा उसे गंगा, यमुना के संगम स्थल पर जल में डूबकर, आग में जलकर, ऊँचाई से कूदकर देहत्याग करना चाहिए।[17]

ब्रह्मपुराण में कहा गया है कि व्यक्ति को हिमालय की कन्दराओं, पहाड़ों तथा अनेक अन्य तीर्थ स्थलों में प्राणान्त तक भटकते रहना चाहिए, क्योंकि महाप्रस्थान के द्वारा मृत्यु प्राप्त करनेवाला व्यक्ति स्वर्गलोक का निवासी होता है।[18] *स्वर्गारोहण पर्व* में कहा गया है कि जो व्यक्ति सत्य, निष्ठा और साहस के साथ अपने महापथ (पथ) पर चलता जाता है, वह स्वर्गलोक को प्राप्त करता है और जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता है वह हिमालय की गहन पहाड़ियों में खो जाता है।

जैन ग्रन्थ *ऋषिभासित* के याज्ञवल्क्य नामक बारहवें अध्याय में इसके विपरीत कहा गया है- गोपथ से जाना चाहिए महापथ से नहीं।[19] यहाँ गोपथ का अर्थ वह मार्ग है जिस पर बहुत कम लोग जाते हैं, जबकि महापथ वह मार्ग है जिसपर जनसाधारण चलते हैं। महाभारत में महापथ का तात्पर्य उस मार्ग से है जिस पर श्रेष्ठ पुरुष चलते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। अत: दोनों में महापथ शब्द का प्रयोग होते हुए भी अन्तर है। जहाँ तक आधुनिक चिन्तन की बात है तो महापथ का अर्थ राजमार्ग भी हो सकता है जिसपर सभी लोग चलते हैं।

शल्यपर्व में कहा गया है कि जो व्यक्ति सरस्वती नदी के तट पर मन्त्रोच्चार के साथ देहत्याग करता है वह मरने के बाद होनेवाली पीड़ा को नहीं भोगता है।[५०]

अनुशासन पर्व में कहा गया है कि जो व्यक्ति वेदों को जानता है तथा जीवन की नश्वरता और क्षणभंगुरता को जानता है हिमालय की चोटी पर भूखे रहकर अपने प्राण का त्याग करता है, वह ब्रह्मलोक में निवास करता है और सभी प्रकार के दु:खों से मुक्त हो जाता है।[५१]

मनुस्मृति में महाप्रस्थान के बारे में कहा गया है कि व्यक्ति को दक्षिण दिशा में सिर्फ वायु और जल के साथ तब तक चलना चाहिए जब तक कि उसका प्राणान्त नहीं हो जाए।[५२]

पवित्र तीर्थस्थलों पर आत्मबलिदान करने के विधानों का वर्णन बहुत से ग्रन्थों में मिलता है। *तीर्थविवेचन कांडम्* नामक ग्रन्थ में आत्मबलिदान पर व्यापक रूप से चर्चा की गई है । ग्रन्थ के रचयिता लक्ष्मीधर भट्ट को माना जाता है, जो कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्र के मंत्री थे। उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में भारत के प्राचीनतम ग्रन्थों को उद्धृत करते हुए राजसिक, आचार, व्यवहार, कर्मकांड तथा अन्यान्य विषयों का प्रामाणिक सन्दर्भ प्रस्तुत किया है।[५३] इस ग्रन्थ के अनुसार- प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम स्थल पर या काशी में सिर के बल जलती हुई अग्नि के ऊपर उल्टा लटककर, अपने शरीर के मांस, आदि को काट-काटकर पशु-पक्षियों को खिलाकर, जल में प्रवेश करके आदि विधियों से प्राण त्यागने पर व्यक्ति पुनर्जन्म से छुटकारा पा जाता है और उसे सांसारिक बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है।[५४]

प्रयाग में संगम पर इच्छितमरण करनेवाला व्यक्ति स्वर्ग को जाता है और स्वर्ग में लम्बे समय तक वहाँ के सुखों का उपभोग करता है। पुन: उसके जन्म लेने का समय आता है तो वह अच्छे वंश या कुल में जन्म लेता है तथा जम्बूद्वीप का स्वामी बनता है।[५५] *तीर्थविवेचन कांडम* के अनुसार जो व्यक्ति वटवृक्ष से संगम की धारा में कूदकर प्राणान्त करता है, वह रुद्रलोक का निवासी बन जाता है।[५६]

अग्निपुराण में इच्छित मृत्युवरण का समर्थन करते हुए लिखा गया है- जो व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयाग के संगम के पास वटवृक्ष या जड़ के पास अथवा संगम की धारा में डूबकर अपने प्राणत्याग करता है वह विष्णुलोक जाता है।[५७] *मत्स्यपुराण* में आत्ममरण या इच्छित मृत्युवरण पर विस्तृत विवेचन किया गया है। इस पुराण के अनुसार काशी (वर्तमान वाराणसी) में जो इच्छितमरण या आत्मबलिदान किया जाता है, वह अविमुक्त के नाम से जाना जाता है।[५८] काशी भगवान् शंकर का प्रिय क्षेत्र है। यहाँ पर इच्छित मृत्युवरण करनेवालों को स्वयं भगवान् शंकर मुक्ति दिलाते हैं। इस पुराण के अनुसार काशी में व्यक्ति को आग में जलकर, काशी करवट लेकर, पानी में डूबकर, अनशन करके अपने प्राण का त्याग करना चाहिए। ऐसा करने से व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त करता है।[५९] *शिवपुराण* के अनुसार जो व्यक्ति शिव की भक्ति करते हुए आग में जलकर, पहाड़ की चोटी से गिरकर मरता है वह मुक्ति पा लेता है। व्यक्ति अपने आप से मुक्ति पाने के लिए हवनकुण्ड बनाता है। उसमें अग्नि प्रज्वलित करता है तथा भैरव की प्रतिमा की पूजा करता है। अब व्यक्ति यज्ञ की उस अग्नि में हवन के रूप में स्वयं को समर्पित कर देता है।[६०]

आत्रिस्मृति में भी इच्छितमरण की स्वीकृति प्रदान की गई है। इस स्मृति के अनुसार असाध्य बीमारियों से ग्रसित होने पर, वृद्धावस्था के कारण अत्यधिक जर्जर होने पर या धर्म का सम्पादन करने में असमर्थ होने पर व्यक्ति पहाड़ की ऊँची चोटी से कूदकर, आग में जलकर या अगाध जल में समाधि लेकर इच्छित मृत्युवरण कर सकता है।[६१]

अपरार्क ने ब्रह्मगर्भ, विवश्वत, गार्गेय आदि के विचारों को उद्घृत करते हुए ऐच्छिक देहत्याग का समर्थन किया है। इनका मानना है कि असाध्य व्याधि से पीड़ित शरीर के द्वारा तप करने की अपेक्षा इसका त्याग कराना अधिक श्रेयस्कर है। इस अवस्था में व्यक्ति को किसी तरह का प्रमाद नहीं करना चाहिए। उसे यह भी विचार नहीं करना चाहिए कि उसका देहत्याग शास्त्र सम्मत है अथवा नहीं। अपरार्क ने आदिपुराण से भी सन्दर्भ लेकर यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि ऐच्छिक देहत्याग पाप नहीं है। *आदिपुराण* में अनशन, अमरकंटक की चोटी से गिरकर, अग्निप्रवेश करके, वटवृक्ष से कूदकर आदि विधियों की सहायता से इच्छितमरण करने का निर्देश है। उपर्युक्त समस्त विधियों की प्रशंसा करते हुए *अपरार्क संहिता* में कहा गया है कि उक्त विधि से मरण करने से पाप नहीं होता है, बल्कि व्यक्ति उसकी सहायता से जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है।[६२]

मनुस्मृति में इच्छित मृत्युवरण का समर्थन करते हुए लिखा गया है कि एक ब्राह्मण पुनः ब्राह्मण कुल में तभी जन्म लेता है जब वह इच्छापूर्वक मृत्युवरण करता है। मृत्युवरण के लिए वह निम्नलिखित साधनों का उपयोग करता है, यथा-नदी की धारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में डूबकर, ऊँचाई से कूदकर, आग में जलकर, अन्न-जल का त्याग करके।[६४]

धर्मशास्त्र के इतिहास में प्रो० काणे ने अलबरुनी के ग्रन्थ जिसकी रचना १०३० ई० में हुई थी, से भी आत्मबलिदान के धार्मिक उदाहरणों को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार धार्मिक आत्महत्या तभी की जाती थी जबकि व्यक्ति अपने जीवन से थक जाता था, जीवन भारस्वरूप लगने लगता था। अपरिहार्य शारीरिक दोष, असाध्य रोग, वृद्धावस्था, अत्यधिक दुर्बलता आदि की स्थिति में ही आत्ममरण किया जाता था। जाति प्रथा इन्होंने कहा है कि उपर्युक्त विधि से आत्ममरण वैश्य या शूद्र जाति के लोग किया करते थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय भी इन अवस्थाओं में आत्ममरण करते थे, लेकिन उनके लिए अलग व्यवस्था थी। उनके आत्ममरण करने का समय नियत रहता था। उस नियत समय पर वे कुछ लोगों को धन देते थे और यही धन लेनेवाले लोग आत्ममरण करनेवाले व्यक्ति को गंगा की धारा में फेंक देते थे। इस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति के लोग गंगा-जल में समाधि लेकर प्राणों का त्याग करते थे।[६५]

प्रसिद्ध गुप्तकालीन ग्रन्थ *मृच्छकटिक* एवं *रघुवंश* ने भी आत्ममरण का समर्थन किया है। *मृच्छकटिक* के अनुसार राजा शुद्रक ने अग्नि-प्रवेश करके इच्छापूर्वक आत्ममरण किया था।[६६] *रघुवंश* में अज के आत्ममरण का विवरण काव्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार अज जब वृद्ध हो गए और असाध्य बीमारी से ग्रसित हो गए तब उन्होंने गंगा और सरयू की पवित्र जलधारा में जलसमाधि लेकर आत्ममरण ग्रहण किया।[६७] *कुमारगुप्त* ४१४ ई. में गुप्त साम्राज्य के राजा बने। इन्होंने भी अग्नि-प्रवेश करके इच्छापूर्वक मृत्यु ग्रहण किया था।[६८] आठवीं सदी के महान दार्शनिक *कुमारिल* ने भी अग्नि-प्रवेश करके इच्छापूर्वक मृत्युवरण किया था।[६९] दसवीं या ग्यारहवीं सदी में काबुल और लाहौर के राजा जयपाल थे। उन्होंने भी अग्नि-प्रवेश करके इच्छापूर्वक मृत्यु का वरण किया था।[७०] दसवीं सदी में राजा गांगेय ने अपनी १०० पत्नियों के साथ प्रयाग में जलसमाधि लेकर इच्छापूर्वक मृत्यु का वरण किया था।[७१] दसवीं शताब्दी में चन्देल राजा धंगदेव ने भी इच्छापूर्वक मृत्यु का वरण किया था। जब धंगदेव की उम्र १०० साल से अधिक हो गयी तब वे प्रयाग चले आए थे और यहाँ संगम की जलधारा में रुद्र का ध्यान करते हुए जलसमाधि ले लिया था।[७२] चन्देल राजा धंगदेव के मन्त्री अनन्त ने भी प्रयाग में इच्छितमरण किया था।[७३] इसी प्रकार राष्ट्रकूट राजा ध्रुव ने प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम स्थल पर इच्छितमरण किया था।[७४] चालुक्य नरेश अमाभल्ल सोमेश्वर ने भी असाध्य रोग से पीड़ित होने पर तुगभद्रा नदी की जलधारा में डूबकर इच्छितमरण किया था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में इच्छापूर्वक देहत्याग करने के कई उदाहरण मिलते हैं। किन्तु यहाँ इच्छित देहत्याग करने के लिए व्यक्ति मुख्य रूप से बाह्य साधनों का उपयोग करता है, जो निम्नलिखित हैं - जलसमाधि, अग्निप्रवेश, विषभक्षण, अस्त्र-शस्त्र का उपयोग तथा ऊँचाई से नदी की धारा में कूदना या समतल जमीन पर कूदना आदि। इसके अतिरिक्त वह आहार-त्याग को भी अपनाता है। महाप्रस्थान के प्रसंग में इस तथ्य पर प्रकाश डाला गया है।

जैन परम्परा (समाधिमरण) से तुलना - डॉ० सागरमल जैन ने जैनधर्म में वर्णित समाधिमरण (इच्छितमरण) एवं हिन्दू धर्म (ब्राह्मण परम्परा) में वर्णित आत्ममरण के अन्तर को बड़े ही स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार[१५] "जहाँ हिन्दू परम्परा में जल एवं अग्नि में प्रवेश, गिरिशिखर से गिरना, विष या शस्त्र प्रयोग आदि विविध साधनों में मृत्युवरण का विधान है, वहाँ जैन परम्परा में सामान्यतया केवल उपवास द्वारा ही देहत्याग का विधान है। जैन-परम्परा शस्त्र आदि से होनेवाली तात्कालिक देहत्याग की अपेक्षा उपवास द्वारा की जानेवाली क्रमिक देहत्याग को ही अधिक प्रशस्त मानती है। यद्यपि ब्रह्मचर्य की रक्षा आदि कुछ प्रसंगों में तात्कालिक मृत्युवरण को स्वीकार किया गया है।[१६] तथापि सामान्यतया जैन आचार्यों ने राग-द्वेष वश मृत्युवरण जिसे प्रकारान्तर से आत्महत्या भी कहा जा सकता है कि आलोचना की है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि गिरिपतन या अग्निप्रवेश के द्वारा किया जानेवाला मरण लोकमूढ़ता है। जैनों की दृष्टि में समाधिमरण का अर्थ मृत्यु की कामना नहीं वरन् देहासक्ति का परित्याग है। जिस प्रकार जीवन की आकांक्षा दूषित है, उसी प्रकार मृत्यु की आकांक्षा भी दूषित कही गयी है।[१७]

इस प्रकार जैन विद्वानों ने हिन्दू परम्परा में अपनाए गए देहत्याग को एक तरह से आत्महत्या की कोटि में रखकर इसे समाधिमरण से भिन्न बताया है। इसके पीछे उनका यह तर्क है कि हिन्दू परम्परा में जो मृत्युवरण किया जाता है उसके पीछे मृत्यु की कामना होती है। इसी कारण मृत्युवरण करने के लिए हिन्दू लोग बाह्य विधियों का सहारा लेते हैं, यथा- विषपान, अग्निप्रवेश, जलसमाधि, आदि। लेकिन यहाँ वे इस बात पर ध्यान नहीं देते हैं कि इन विधियों से जो मरण ग्रहण किया जाता है उसके पीछे व्यक्ति के मन में मृत्यु की आकांक्षा नहीं होती है, वरन् मोक्ष-प्राप्ति की ही आकांक्षा होती है। मेरी दृष्टि में समाधिमरण करनेवाल के मन में भी मोक्ष-प्राप्ति की ही आकांक्ष रहती है। क्योंकि मानव मन आकांक्षाओं से रहित हो ही नहीं सकता है, भले ही उसकी आकांक्षा उच्च भावना से पूर्ण हो, लेकिन आकांक्षा तो होती है। वैसे भी मोक्ष-भावना को सद्राग कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है और यह संसार की वृद्धि नहीं करता है।

हिन्दू परम्परा में मृत्युवरण के लिए मात्र बाह्य विधियों का ही सहारा नहीं लिया जाता है। समाधिमरण में जिस तरह से अनशनपूर्वक देहत्याग किया जाता है, उसी प्रकार अनशनपूर्वक देहत्याग का विधान यहाँ भी मिलता है। जैसे- महाप्रस्थान लेनेवालों के लिए यह स्पष्ट शब्दों में निर्देश है कि व्यक्ति तीर्थस्थलों, पहाड़ों, निर्जन वनो, क्षेत्रों आदि स्थानों पर तब तक बिना अन्न-जल ग्रहण किए चलता रहे जब तक कि उसका प्राणान्त न हो जाए। प्रश्न होता है- क्या महाप्रस्थान लेनेवाले जो अनशन करते हैं उनके पीछे भी मृत्यु की कामना होती है? मेरी दृष्टि में उनके पीछे मृत्यु की कामना नही होती है अगर किसी तरह की कामना या आकांक्षा होती है तो वह है मोक्ष प्राप्ति की कामना और मोक्ष-प्राप्ति की कामना कोई दूषित भावना नहीं है।*

प्रत्येक धर्म की अपनी-अपनी मान्यताएँ हैं। उन्हीं मान्यताओं के अनुसार व्यक्ति अग्निप्रवेश, जलसमाधि, विषपान, पहाड़ से कूदना आदि विधियों को अपनाकर मृत्युवरण करता है। इन विधियों से जिस समय मरण ग्रहण किया जाता है उस समय व्यक्ति के मन में मृत्यु की कामना भी नहीं होती है। अत: उसे लोकमूढ़ता नहीं कहा जा सकता है। हाँ ! इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह मृत्युवरण करने का उग्र रूप है लेकिन लोकमूढ़ता नहीं है। इस प्रकार से मृत्युवरण करना कभी भी लोकमूढ़ता नहीं हो सकती है। क्योंकि धर्म को माना जाय और शास्त्रों में विश्वास किया जाए तथा इनकी रचना करनेवालों के ज्ञान पर विश्वास किया जाए जिन्होंने मरण की इन विधियों का समर्थन किया है, तो यह मूढ़तापूर्ण नहीं हो सकता है।

एक बात और ध्यान देने की है कि ब्राह्मण परम्परा में भी मृत्युवरण करने के लिए कुछ अनिवार्य योग्यताएँ निर्धारित की गई हैं, जैसे - युवा, स्वस्थ तथा गृहस्थ व्यक्ति मृत्युवरण नहीं कर सकता है। जिन्होंने अपने समस्त कार्य पूर्ण कर लिए, गृहस्थ आश्रम की सारी आवश्यकताओं को पूर्ण कर वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण कर लिया वे ही तीर्थ स्थलों पर अपने मन को शुभ ध्यान से पूर्ण करते थे तथा जब उन्हें यह ज्ञात हो जाता था कि उनके सम्पूर्ण कर्म क्षय हो गए हैं तब वे शास्त्र सम्मत किसी भी विधि को अपनाकर मृत्यु का वरण कर लेते थे। उनके कर्मों का क्षय हुआ है या नहीं इसके बारे में योग्य आचार्य अपनी सम्मति व्यक्त करते थे। दुर्बल शरीरवाले व्यक्ति, असाध्य रोग से ग्रसित व्यक्ति तथा अनिवार्य रूप से मरणासन्न व्यक्ति ही मृत्युवरण करते थे। इस तरह

* जैन परम्परा इसे लोकमूढ़ता इसलिए कहती है कि यह मरणाकांक्षा या स्वर्ग की आकांक्षा है- ***सम्पादक***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के उदाहरण ब्राह्मण परम्परा से सम्बन्धित शास्त्रों तथा इतिहास में देखने को मिलते हैं। अत: ब्राह्मण परम्परा में अनुमोदित मृत्युवरण को सर्वथा आत्महत्या नहीं कहा जा सकता है। जिस प्रकार जैन परम्परा में मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति के लिए समाधिमरण किया जाता है और उसे वे आत्महत्या की कोटि में नहीं रखते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण परम्परा में जो मृत्युवरण किया जाता है वह मात्र मोक्ष प्राप्ति के लिए होता है, मरण की आकांक्षा से नहीं। दोनों ही परम्पराओं में मात्र मरण लेने की विधि को लेकर ही अन्तर है और इसी अन्तर के आधार पर एक परम्परा के देहत्याग को आत्महत्या कहा जाए और दूसरी परम्परा के देहत्याग को आत्महत्या से अलग कहा जाए- यह समीचीन नहीं जान पड़ता है। जहाँ तक अनशनपूर्वक समभाव से देहत्याग की बात है तो समाधिमरण की तरह ही *महाप्रस्थान* में भी अनशनपूर्वक समत्वभाव से देहत्याग का भाव होता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जैन परम्परा के समाधिपूर्वक देहत्याग और ब्राह्मण परम्परा के देहत्याग में मात्र विधि का ही अन्तर है, भावनाओं का नहीं। यदि दोनों ही परम्पराओं में देहत्याग समभावपूर्वक मात्र मोक्ष-प्राप्ति के लिए ही किया जाता है तो एक ही लक्ष्य की प्राप्ति (मोक्ष) के लिए किया गया देहत्याग एक परम्परा में उचित है और दूसरों में उचित नहीं है, यह तर्कसम्मत नहीं जान पड़ता है।

बौद्ध परम्परा और समाधिमरण

बौद्ध परम्परा में आत्महत्या या इच्छितमरण को स्वीकार नहीं किया गया है, लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियों में आत्ममरण की आज्ञा प्रदान की गई है और इसकी प्रशंसा भी की गई है। *जातक* आदि बौद्ध ग्रन्थों में इच्छितमरण करनेवालों पर प्रकाश डाला गया है। प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ *मज्झिमनिकाय* में आत्ममरण के कई दृष्टान्त आए हैं। यद्यपि इसमें उद्धृत आत्ममरण निर्वाण या कैवल्य प्राप्ति की अपेक्षा मन में आए हुए आवेग या मोह को शान्त करने के लिए ही किया गया जान पड़ता था। इस ग्रंथ के अनुसार- एक पति ने अपनी पत्नी की हत्या मात्र इसलिए कर दी थी कि उसे डर था कि अगले जन्म में वह उसकी पत्नी नहीं बन पायेगी तथा बाद में स्वयं उसने भी आत्ममरण किया।[७७] अत: स्पष्ट है कि आत्ममरण करने के पहले उनके मन में विछोह का डर था तथा एक भावना थी कि हो सकता है इस तरह आत्ममरण करने से अगले जन्म में पुन: हम दोनों पति-पत्नी के रूप में मिल जायें। व्यक्ति का यह आत्ममरण मन में आए आवेग को शान्त करने के लिए ही किया गया था, ऐसा कहा जा सकता है।

दीर्घनिकाय[७८] में लिखा गया है कि पायासी नामक स्त्री विवाह के बाद गर्भवती हुई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गर्भावस्था के दौरान वह हर समय इस बात को जानने के लिए बेचैन रहती थी कि उसके गर्भ में पल रहे शिशु का लिंग क्या है? क्या वह पुरुष लिंग का है या स्त्री लिंग का? बहुत समय तक वह अपने मन पर संयम किये रही। लेकिन कुछ समय के बाद वह अपने मन पर संयम नहीं रख सकी और अपनी जिज्ञासा की शान्ति के लिये एक तेज धारदार हथियार की सहायता से अपने गर्भ को काट डाला। परिणामस्वरूप पायासी की भी मृत्यु हो गयी तथा उसके गर्भ में पल रहे शिशु की भी। यद्यपि आत्ममरण का यह उदाहरण समाधिमरण से किसी तरह भी सम्बन्धित नहीं है, परन्तु मात्र जिज्ञासा शान्ति के लिए ऐसा किया गया था। औरत के मन में और किसी तरह की भावना नहीं थी। जहाँ तक जिज्ञासा शान्ति की बात है तो उसके लिए आत्ममरण करना अनिवार्य नहीं है। सम्भवत: पायासी ने भी आत्ममरण करने के लिए गर्भ को नहीं काटा था, बल्कि अपने मन में उत्पन्न हुए कौतुहल की शान्ति के लिए ही उसने ऐसा किया होगा, अत: उसका यह आत्ममरण आत्ममरण नहीं कहलाएगा, परन्तु यह समाधिमरण के सापेक्ष भी नहीं है। अत: प्यासी द्वारा किए गए इस आत्ममरण को जिज्ञासावश किया गया आत्ममरण कह सकते हैं।

थेरीगाथा में भी आत्ममरण के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। इस ग्रन्थ के अनुसार सिंहा बहुत वर्षों से साधना कर रही थी। लेकिन अभी तक उसे दिव्यज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई थी। बहुत समय के बाद (सात साल बाद) उसने अपने मन में यह विचार किया कि मैं इस पापी जीवन से तंग आ गयी हूँ और इससे छुटकारा पाने के लिए अब मैं इसका अंत कर दूंगी। इस भावना के वशीभूत होकर उसने रस्सी के फंदे का फांस अपने गले में बांध लिया तथा मरने का उपक्रम करने लगी। लेकिन ज्यों ही वह झूलकर मरने को तैयार हुई उसी समय उसे दिव्यज्ञान की प्राप्ति हो गयी और उसने मरने का यह विचार त्याग दिया।[९९] सिंहा का यह आत्ममरण समाधिमरण से तुलनीय नहीं है, क्योंकि समाधिमरण में जहाँ देहत्याग मात्र निर्वाण प्राप्ति के लिए किया जाता है, वहीं *थेरीगाथा* के इस उदाहरण में सिंहा द्वारा किया जा रहा आत्ममरण का प्रयास उसकी अपनी असफलता के कारण ही था। लेकिन दिव्यज्ञान की प्राप्ति हो जाने के बाद उसने आत्ममरण नहीं किया। इसका मुख्य कारण यही रहा होगा कि वह यह समझने लगी होगी कि आत्महत्या दिव्यज्ञान प्राप्ति का उपाय नहीं है।

बौद्ध ग्रन्थों में वक्कलि, आनन्द आदि नाम बार-बार प्रयुक्त किये गए हैं। सम्भवत: इस बारे में दो विचार हो सकते हैं। प्रथम विचार के अनुसार ये नाम एक ही व्यक्ति के हों तथा दूसरे मत के अनुसार सम्भव है यह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के नाम हों। सत्यता जो भी हो, यहाँ मेरे लिए यह समस्या नहीं है कि यह नाम एक ही व्यक्ति के थे या भिन्न-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न व्यक्ति के। मेरे लिए तो मात्र इतना ही आवश्यक है कि उन्होंने आत्ममरण का प्रयास किया था या नहीं, अगर किया था, तो क्यों और किस परिस्थिति में? अपने इसी प्रयास को पूरा करने के लिए विभिन्न बौद्ध ग्रन्थों में उद्धृत इन नामों के द्वारा किए गए आत्ममरण के प्रयास का संकलन किया गया है।

धम्मपद के अनुसार वक्कलि भगवान् बुद्ध को बहुत प्यार करता था। उसका भगवान् से अत्यधिक लगाव था। भगवान् बुद्ध उसके इस लगाव से डर गए तथा सोचने लगे कि वक्कलि इसके कारण बन्धन में पड़ता जा रहा है। इस कारण वक्कलि के कल्याण के लिए भगवान् उसे अपने से अलग करते हुए कहीं दूर जाकर तपस्या करने को कहा। वक्कलि भगवान् से अलग रहने की कल्पना भी नहीं कर सकता था। वह भगवान् के इस विछोह को सहन नहीं कर सका और आत्ममरण का निश्चय किया।[८०] वक्कलि द्वारा आत्ममरण करने का यह निश्चय समाधिमरण के समकक्ष नहीं है, क्योंकि यहाँ यह स्पष्ट है कि वक्कलि ने आत्ममरण का यह निश्चय भगवान् बुद्ध से अलग हो जाने की स्थिति में किया था। किसी से विछोह होने के कारण जो आत्ममरण किया जाता है वह समाधिमरण के समान नहीं हो सकता, क्योंकि समाधिमरण करने के पहले व्यक्ति को सभी तरह के राग-द्वेष से मुक्त होना अनिवार्य होता है, अन्यथा उसका यह प्रयास आत्महत्या के समान हो जाता है।

संयुक्तनिकाय के अनुसार वक्कलि असाध्य रोग से पीड़ित हो गया। उसने आत्ममरण का निश्चय किया, क्योंकि रोग के कारण वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पा रहा था तथा उसे असहनीय कष्ट भी हो रहा था। भगवान् बुद्ध ने उसके आत्ममरण के निश्चय को प्रशंसनीय एवं पवित्र कहा तथा उसके निर्वाण के लिए कामना भी की। तत्पश्चात् वक्कलि ने एक तेज धारदार हथियार की सहायता से आत्ममरण किया।[८१]

असाध्य रोग से पीड़ित होने तथा अपने कार्यों का सम्पादन ठीक से नहीं करने के कारण वक्कलि ने आत्ममरण का जो निश्चय किया वह समाधिमरण के समकक्ष अवश्य है, क्योंकि समाधिमरण करनेवाले असाध्य रोग होने की स्थिति में आत्ममरण करते हैं। लेकिन यहाँ भी थोड़ी विभिन्नता दृष्टिगत होती है। वक्कलि ने कष्ट के कारण तथा धारदार हथियार की सहायता से आत्ममरण किया, जबकि समाधिमरण में किसी तरह के कष्टों से ऊबकर आत्ममरण नहीं किया जाता है तथा न ही किसी हथियार की सहायता ली जाती है। अतः यहाँ यही कहा जा सकता है कि वक्कलि को असहनीय कष्ट हो रहा था और उससे बचने के लिए ही उसने हथियार की सहायता से अपना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणान्त कर लिया। अगर वास्तव में यही बात सत्य रही होगी तो वक्कलि द्वारा किया गया यह आत्ममरण समाधिमरण से भिन्न माना जायेगा।

संयुत्तनिकाय में गोधिका नाम की एक श्राविका के आत्ममरण का उल्लेख मिलता है। गोधिका बौद्ध श्राविका थी। वह किसी असाध्य रोग से पीड़ित थी। उसने अपने रोग के निदान का प्रयत्न किया, लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। अन्ततः उसने आत्ममरण किया। स्वयं भगवान् बुद्ध ने गोधिका के आत्ममरण की प्रशंसा की तथा यह कहा कि उसने निर्वाण पा लिया।[८२] गोधिका का यह आत्ममरण समाधिमरण से अवश्य तुलनीय है, क्योंकि बीमारी की स्थिति में उसने उसके निदान का प्रयास किया तथा सफल नहीं होने पर ही उसने आत्ममरण किया हो। हो सकता है ऐसा सम्भव हो कि उसने आत्ममरण बीमारी के कष्ट से नहीं बल्कि बीमारी से छुटकारा पाने के लिए किया हो, क्योंकि उसने ऐसा किया था तभी तो भगवान् बुद्ध ने उसके आत्ममरण की प्रशंसा की तथा यह भी कहा कि उसने निर्वाण प्राप्त कर लिया है।

थेरगाथा में प्रस्तुत नहातक मुनि के आत्ममरण का प्रसंग भी विवेचित करने योग्य है। नहातक मुनि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। बुद्ध से प्रव्रज्या ग्रहण करके अर्हत् पद को प्राप्त किये थे। वे जंगल में अपनी साधना में लीन रहते थे। कुछ समय पश्चात् वे वात रोग से पीड़ित हो गए। इससे उनकी साधना में व्यवधान उत्पन्न होने लगा। एक बार बुद्ध नहातक मुनि से मिले और पूछा कि इस बीमारी के कारण तुम्हारे कार्य-कलापों में व्यवधान हो रहा होगा? तुम किस तरह इस जंगल में अपने धर्म की रक्षा करोगे? इस पर मुनि ने कहा "शरीर में विपुल प्रीति सुख फैलाकर कठिनाइयों को वश में करके जंगल में विहार करूँगा। पाँव, इन्द्रियाँ और पाँच बलों का अभ्यास करके सूक्ष्म ध्यान से युक्त होकर आस्रव रहित होकर जंगल में विचरण करूँगा। मन को सभी विचारों से मुक्त कर लूँगा। उसके बाद मुनि-मृत्यु ग्रहण करूँगा तथा पुनर्जन्म के भवचक्र से मुक्त हो जाऊँगा।[८३] नहातक मुनि द्वारा आत्ममरण का यह निश्चय समाधिमरण से तुलनीय है, क्योंकि *भगवती* में इसी तरह का विचार एकदंगमुनि द्वारा प्रस्तुत किया गया है।[८४]

सप्पदस राजा *शुद्धोदन* का राज पुरोहित था। उसके मन में काम-वितर्क उत्पन्न हुआ करता था। निरन्तर प्रयासों के फलस्वरूप भी उसके मन को शान्ति नहीं मिली थी। निराश होकर एक दिन उसने आत्ममरण का निश्चय किया। उसी समय उसका मन समाधिस्थ हो गया। तदुपरान्त उसने अर्हत् पद प्राप्त किया। अर्हत् पद-प्राप्ति के पश्चात् सप्पदस ने अपने अनुभव को इस प्रकार व्यक्त किया- आत्ममरण के लिए मैं अस्त्र के रूप में उस्तरा लेकर पलंग पर बैठ गया। अपनी धमनी काटने के लिए गले पर उस्तरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रखा ही था कि विवेकपूर्ण विचार उत्पन्न हुआ और चित्त मुक्त हुआ।[८५] सप्पदस द्वारा किया गया आत्ममरण का यह निर्णय समाधिमरण से तुलनीय नहीं है, क्योंकि सर्वप्रथम उसने आत्ममरण का निश्चय अपनी भावनाओं (काम भावना) से मुक्त होने के लिए किया था तथा बाद में आत्ममरण के लिए अस्त्र का प्रयोग किया। यह दूसरी बात है कि उसका विवेक जाग उठा और उसने आत्ममरण नहीं किया। काम एक तीव्र संवेग है और यदि सप्पदस ने मात्र संवेग प्राप्त करने के लिए आत्ममरण का निर्णय किया था तो यह समाधिमरण नहीं कहला सकता, लेकिन अगर धर्मरक्षा के लिए उस संवेग से मुक्ति का प्रयत्न किया था तो समाधिमरण से तुलनीय है।

मेघराज कुष्ठ रोग से पीड़ित था। इस कारण वह बौद्ध विहार से बाहर रहता था। बाद में उसने बुद्ध से इच्छितमरण की आज्ञा माँगी? बुद्ध ने मेघराज को इच्छितमरण करने की आज्ञा दी और उसकी प्रशंसा भी की।[८६] मेघराज का यह आत्ममरण समाधिमरण से तुलनीय है, क्योंकि कुष्ठ रोग उस समय एक असाध्य रोग था, जिससे देह के अंग-प्रत्यंग गल जाते थे। फलतः व्यक्ति अपने कार्यों का सम्पादन करने में असमर्थ हो जाता था। अतः सम्भव है मेघराज का भी अंग-प्रत्यंग गल गया हो और वह किसी कार्य को करने में समर्थ न रहा हो। इसी कारण उसने इच्छितमरण का निश्चय किया हो और भगवान् बुद्ध उससे सहमत भी हो गए हों।

उत्तर सारिपुत्र के शिष्य थे। सारिपुत्र की अस्वस्थता के कारण उनके उपचार हेतु वैद्य बुलाने के लिए उत्तर शहर की ओर जाने लगे। रास्ते में किसी सरोवर के निकट वे अपना कमण्डल रखकर स्नान करने लगे। इसी बीच किसी चोर ने उनके कमण्डल में चोरी का सामान रख दिया। राज-रक्षकों ने उन्हें पकड़ लिया। राज्य की ओर से उन्हें मृत्युदण्ड मिला। फाँसी स्थल पर जाने के समय उनका मन खिन्न था। लेकिन फाँसी के फन्दे पर झूलने के वक्त उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई और उनकी खिन्नता दूर हो गयी। उन्होंने सहर्ष भाव से फांसी के फन्दे को अपना लिया तथा अपने मन में आए भावों को इस तरह से प्रकट किया - "थोड़ी देर पहले मैं मरने से डर रहा था। लेकिन मैंने इसके दुष्परिणाम को जान लिया है, अतः संसार की अब मुझे कामना नहीं रही।[८७]

पहली अवस्था में उत्तर को यह जानकर दुःख हो रहा था कि मैंने पाप कार्य नहीं किया फिर भी मुझे दण्ड मिल रहा है, मैं झूठे ही मृत्यु का भागी हो रहा हूँ। लेकिन दूसरी अवस्था में ज्ञान हो जाने पर उन्हें संसार के मिथ्यात्व का बोध हो गया तथा उनके लिए जीवन और मृत्यु दोनों ही परिस्थितियाँ समान हो गयीं अर्थात् वे समभाव की स्थिति में आ गए। इस स्थिति में उन्होंने जो खुशी-खुशी बिना किसी विषम भाव के मृत्यु का वरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया वह समाधिमरण के तुलनीय है। उनके फांसी के फन्दे पर झूलने का कारण स्वेच्छा नहीं, राजाज्ञा थी।

महानाम का मन ध्यान की अवस्था में एकाग्रचित्त नहीं हो पाता था। जिससे वह बहुत ही खिन्न रहता था। बहुत प्रयत्न करने पर भी उसका चित्त एकाग्र नहीं हो पाया। अन्त में निराश होकर उसने पहाड़ से कूदकर आत्ममरण का निश्चय कर लिया।[८] महानाम का यह आत्ममरण किसी तरह से समाधिमरण के समकक्ष नहीं है, क्योंकि हताशा की स्थिति में पहाड़ से कूदकर आत्ममरण करना आत्महत्या के समान है और आत्महत्या तथा समाधिमरण में बहुत बड़ा अन्तर है।

महायान सम्प्रदाय बौद्ध धर्म की एक शाखा है, जिसमें इच्छितमरण के कई उदाहरण मिलते हैं। भावी के शाक्यमुनि ने पूर्व भवों में आत्ममरण किया था। आत्ममरण के लिए उन्होंने अपना शरीर भूखी शेरनी को अर्पित किया था।[९] वहीं भैषगज के भव में आग में जलकर इच्छितमरण किया था।[१०]

आत्ममरण की ये दोनों स्थितियाँ समाधिमरण के समकक्ष अवतीर्ण नहीं होती हैं। क्योंकि पहली अवस्था में ऐसा सम्भव है कि परोपकार की भावना के वशीभूत होकर भविष्य के शाक्यमुनि ने अपना शरीर भूखी शेरनी को खिला दिया हो। अतः यह समाधिमरण से अलग हटकर कोई अन्य बात हो सकती है। दूसरी अवस्था में भैषगज आग में झुलसकर मरता है। देहत्याग के ये दोनों रूप उग्रमरण हैं जबकि समाधिमरण में इस तरह मृत्युवरण के उग्र रूप का निषेध किया गया है।

चीन, जापान जैसे बौद्ध धर्म को माननेवाले देशों में भी आत्ममरण की परम्परा रही है। चीन में ऐसा विश्वास किया जाता है कि आत्ममरण करने से व्यक्ति अगले जन्म में भगवान् बुद्ध के रूप में जन्म लेगा, वहीं जापान में स्वर्ग प्राप्ति की कामना से आत्ममरण किया जाता है।[११] चीन में आग में झुलसकर आत्ममरण करने की प्रथा है, जिसके लिए ज्वलनशील पदार्थों को इकट्ठा करके अग्निकुण्ड का निर्माण किया जाता है। जब आग पूरी तरह फैल जाती है, तब आत्ममरण करने के लिए व्यक्ति उस अग्निकुण्ड में कूद जाता है।[१२] जापान में आत्ममरण का इच्छुक व्यक्ति बौद्ध मन्त्र *'आमीदा वुत्सु'* का जाप करते हुए समुद्र में डूबकर आत्ममरण करता है। इसके अलावा हेरेकेरी शिझू तथा ऐतिशी जैसी प्रथा भी आत्ममरण के लिए अपनायी जाती है। हेरेकेरी में किसी धारदार अस्त्र की सहायता से अंग-प्रत्यंग काटकर मरण किया जाता है।[१३]

शिझू अथवा ऐतिशी विधि से मरण करनेवाले व्यक्ति के मन में यह दृढ़ विश्वास

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

रहता है कि उसने जो कुछ इस जीवन में नहीं प्राप्त किया है वह अगले जीवन में अवश्य प्राप्त कर लेगा।[१०] जुंशी नामक एक और विधि है जिससे आत्ममरण करनेवाले व्यक्ति को यह विश्वास रहता है कि उसका मालिक पुनः उसे अगले जन्म में मिल जाएगा।[११] आत्ममरण करने के लिए प्रयुक्त उक्त समस्त प्रकार किसी न किसी उद्देश्य प्राप्ति से सम्बन्धित हैं। अधिकांश विधियों में आत्ममरण के लिए बाह्य विधियों का सहारा लिया जाता है। अतः मरण प्राप्त करने की ये सभी विधियाँ समाधिमरण से भिन्न हैं। इस तरह से हम यदि बौद्ध परम्परा में मृत्युवरण करने के लिए अपनायी गयी विधियों पर ध्यान दें, तो निम्नलिखित बातें हमारे सामने उपस्थित होती हैं-

(१) अधिकांश अवस्थाओं में मृत्युवरण के लिए बाह्य विधियों या उपकरणों की सहायता ली जाती है।

(२) बाह्य वस्तुओं में फाँसी लगाकर, अस्त्र द्वारा अंग-भंग करके, पहाड़ से कूदकर, जल में डूबकर तथा आग में झुलसकर आदि विधियों की सहायता से प्राणान्त किया जाता है।

फिर भी यदि बौद्ध परम्परा में उपलब्ध आत्ममरण के उदाहरणों एवं बुद्ध द्वारा उनमें से कुछ पर दी गई सहमति पर विचार किया जाए तो बहुत ही कम ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जो समाधिमरण के तुलनीय हैं। कहने का अर्थ यह है कि सामान्यतः बुद्ध ने इच्छित मृत्युवरण के लिए अपनी सहमति नहीं दी है, फिर भी परिस्थितिवश उन्होंने इसका समर्थन किया है तथा कुछ निर्देश भी दिए हैं। *संयुत्तनिकाय* में उन्होंने कहा है कि जो व्यक्ति अपने को किसी बाह्य उपकरण की सहायता से मारता है और उस स्थिति में यदि वह सांसारिक माया, मोह से विरत रहता है तो उसे आत्मवध का दोष नहीं लगता है। वह निर्वाण का अधिकारी होता है और सांसारिक कष्टों से उसे मुक्ति मिल जाती है।[१२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म में वर्णित समाधिमरण तथा बौद्ध धर्म में प्रतिपादित आत्ममरण की परम्परा में मूलभूत अन्तर है। जैन परम्परा के विपरीत बौद्ध परम्परा में मृत्युवरण के लिए बाह्य विधियों का सहारा लिया जाता है। जैन आचार्यों ने आत्ममरण के लिए बाह्य विधियों का निषेध किया है। इसके पीछे उनका यह तर्क है कि इस तरह से जो मरण किया जाता है उसमें अवश्य ही किसी तरह की आकांक्षा रहती है, क्योंकि यदि किसी तरह की आकांक्षा नहीं रहती है तो फिर शस्त्र के द्वारा क्यों तत्काल मृत्यु का प्रयास किया जाता है? अपने अध्ययन के दौरान मैंने यह स्पष्ट रूप से देखा है कि अधिकतर स्थिति में व्यक्ति किसी न किसी बाह्य विधि की सहायता से शीघ्र मरण को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आतुर है। इसके साथ ही उसके आत्ममरण के पीछे कोई न कोई उद्देश्य अवश्य है। यद्यपि बिना उद्देश्य के कोई भी कार्य नहीं किए जाते हैं, तथापि आत्ममरण के लिए लौकिक बातों से संम्बन्धित कोई उद्देश्य है तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि इससे व्यक्ति को आत्मवध के दोष लगने की सम्भावना रहती है। इस तरह जहाँ बौद्ध परम्परा शस्त्र द्वारा की गई आत्महत्या का समर्थन करती है, वहीं जैन परम्परा उसे अस्वीकार करती है।

बौद्ध परम्परा और जैन परम्परा में वर्णित मृत्युवरण का अन्तर उनकी विधियों को लेकर भी है। यह बात ठीक है कि समाधिमरण लेनेवाले व्यक्ति के मन में न तो मरने की आकांक्षा होती है और न ही जीने की। लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि बौद्ध परम्परा में जो शस्त्रघात किया जाता है उसके पीछे मात्र मृत्यु की ही आकांक्षा होती है। अत: यह आक्षेप कि शस्त्रघात व्यक्ति शीघ्रमरण के लिए करता है, उचित नहीं है। क्योंकि पूर्व में हमने देखा है कि बौद्ध ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि सांसारिक माया, मोह से विरक्त होकर व्यक्ति अगर शस्त्र की सहायता से अपना घात करता है तो वह निर्वाण को प्राप्त करता है। अत: शस्त्रघात की सहायता से किया जानेवाला प्राणान्त निर्वाण प्राप्ति के लिए भी हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि जैन धर्मावलम्बी भी जैनधर्म में वर्णित अनशन को ही अपनाकर अपना प्राणान्त करें। कारण वहाँ भी कुछ प्रसंग ऐसे मिलते हैं जिनमें देहपात करने के लिए अनशन के अतिरिक्त अन्य विधियों को अपनाया जाता है।

जैन मतावलम्बी बौद्ध मतावलम्बी पर यह आक्षेप लगाते हैं कि वे लोग शस्त्र की सहायता से जो मरण करते हैं, वस्तुत: वे निर्वाण प्राप्ति के लिए नहीं वरन् अपने मन के आवेगों को शान्त करने के लिए ऐसा करते हैं। देखा जाए तो प्रकारान्तर से वे आत्महत्या ही करते हैं। उनका यह आक्षेप ठीक नहीं है, जिस प्रकार आत्महत्या के लिए जैनधर्म में असहमति व्यक्त की गई है तथा जीविताशंसा और मरणाकांक्षा को समाधिमरण का दोष बताया गया है, उसी प्रकार बौद्ध धर्म में भी आत्महत्या को दु:ख का कारण मानते हुए इसका निषेध किया गया है।

समाधिमरण लेनेवाले व्यक्ति का अनशन उसके देह पर से ममत्व हटाने के भाव को प्रदर्शित करता है तथा कैवल्य प्राप्ति में सहायक माना जाता है। इसी प्रकार बौद्धों का प्राणत्याग भी निर्वाण प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म में जो प्राणत्याग है वह जैनधर्म के समाधिमरण के समान ही है, क्योंकि दोनों ही परम्पराओं का यह देहत्याग निर्वाण प्राप्ति के निमित्त ही किया जाता है। बौद्ध साहित्यों में मिलने वाले बहुत से आत्ममरण के उदाहरण इसकी पुष्टि करते हैं। अत: बौद्ध धर्म में शस्त्रघात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा जो मरण किया जाता है वह शीघ्रमरण की कामना से मुक्त रहता है। इसके पीछे निर्वाण प्राप्ति की भावना रहती है। इस तरह बौद्धों का आत्ममरण जैनों की ही तरह निर्वाण प्राप्ति का एक साधन है। ऐसा कहा जा सकता है ।

ईसाई परम्परा और समाधिमरण

इच्छितमरण या स्वैच्छिक मृत्युवरण का प्रश्न विश्व के सभी परम्पराओं और धर्मों के समक्ष एक विचारणीय प्रश्न रहा है। इस सम्बन्ध में समय-समय पर सभी परम्परा के लोगों ने अपने-अपने ढंग से विचार प्रस्तुत किए हैं। कभी उन्होंने इसका समर्थन किया है तो कभी विरोध ।[१] ईसाई धर्म के समर्थकों ने भी स्वैच्छिक मृत्युवरण के प्रश्न पर अपने विचार दिए हैं। वैज्ञानिक विकास-काल में बढ़ती हुई आत्महत्या की समस्या से प्रत्येक व्यक्ति बुरी तरह त्रस्त था। यही कारण है कि पादरी, धर्मगुरु, राजा, साधारण जनता, शिक्षाविद्, समाज सुधारक आदि सभी ने इस विषय पर कुछ चिन्तन किया और अपने विचारों को प्रकाश में लाया।

अरस्तु और प्लेटो ने आत्महत्या (इच्छितमरण) पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए इसकी निन्दा की है। उनके अनुसार आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति समाज और राज्य दोनों के लिए अपराधी है, क्योंकि वह राज्य द्वारा बनाए गए नियमों की अवहेलना करता है। उनके विचार में आत्महत्या का कभी भी समर्थन नहीं करना चाहिए।[१३]

इपिक्ट्स (Epicts) मृत्युवरण पर अपने विचार व्यक्त करते हुए आत्महत्या के प्रति अपनी असहमति व्यक्त करते हैं। वे कहते हैं- मित्रों! ईश्वरीय आज्ञा की प्रतीक्षा करो कि कब वह हमें यहाँ (संसार) से मानव जाति की सेवा से मुक्त करके अपने पास आने का संकेत करता है। जब वह संकेत करे तभी उसके पास जाने का प्रयत्न करो अर्थात् बिना उसकी आज्ञा के उसके पास पहुँचने का प्रयत्न मत करो।[१४] कहने का तात्पर्य यह है कि तुम आत्महत्या मत करो जितना अधिक सम्भव हो उससे बचने का प्रयत्न करो।

सन्त जेरोम (St. Jerome) का विचार आत्महत्या के प्रति निषेधात्मक है। वे कहते हैं कि ईसाई धर्म में आस्था रखनेवाले व्यक्ति को आत्महत्या नहीं करनी चाहिए।[१५] सन्त अगस्ताइन (St. Augustine) का विचार आत्महत्या के बारे में बहुत ही प्रतिरोधात्मक है। वे स्पष्ट शब्दों में व्यक्ति को आत्महत्या करने से मना करते हैं। बाद में आत्महत्या करनेवाले व्यक्ति को चर्च विरोधी बताते हुए कहते हैं कि आत्महत्या करने -वाला व्यक्ति चर्च द्वारा धार्मिक कानून या परम्परा का अपमान करता है। ऐसे व्यक्ति पूरे समाज और सम्पूर्ण मानव समुदाय के लिए अभिशाप है। जूड़ा नामक व्यक्ति का उदाहरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देते हुए उन्होंने यह कहा है कि उसने आत्महत्या करके अपने प्रभु यीशु के प्रति विश्वासघात किया।[१०७] ईसाईयों के प्रसिद्ध चर्च सन्तपाल के पादरी डोने (Donne) की दृष्टि में आत्महत्या वह महापाप है जिसके समान दूसरा कोई अन्य पाप नहीं है।[१०८]

सन्त मोन्टेन (St. Montaigne) के अनुसार आत्महत्या एक ऐसा कृत्य है जिसके प्रति किसी भी तरह की सहानुभूति नहीं रखनी चाहिए।[१०९] थॉमस एक्विनो ने आत्महत्या को एक विश्ववासघात माना है। उनके अनुसार आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति अपने स्वामी (ईश्वर) के साथ विश्वासघात करता है। वह ईसा मसीह के साथ विश्वासघात करता है। वह अपने स्वामी (ईश्वर) तथा प्रभु (ईसा मसीह) के साथ विश्वासघात करके स्वयं अपने भाग्य के साथ विश्वासघात करता है[११०] अर्थात् आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति अपने विश्वास का हनन करता है और इस लोक में दुःख पाने के साथ-साथ वह परलोक में भी दुःख पाता है।

फ्रांस के शासक लुई नवम् ने आत्महत्या की समस्या पर अपने विचार प्रकट करते हुए इसे समाज के लिए एक अभिशाप बताया और इसके विरूद्ध एक कानून बनाया, जिसका मुख्य उद्देश्य आत्महत्या की बढ़ती प्रवृत्ति पर रोक लगाना था। इस कानून के अनुसार आत्महत्या करनेवाले व्यक्ति की सारी चल-अचल सम्पत्ति राज्य सम्पत्ति घोषित कर दी जाती थी।[१११] बहुत से अन्य यूरोपीय राज्यों ने फ्रांस के आत्महत्या विरोधी कानून का अनुसरण किया। वहाँ के शासकों ने भी इसी तरह के मिलते-जुलते कानून अपने राज्यों में लागू किये। बाद में फ्रांस के लुई चौदहवें ने आत्महत्या विरोधी कानून का पालन पूरी शक्ति से करवाया तथा इस कानून को नहीं माननेवालों के साथ कड़ाई का व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया।[११२] स्कॉटलैण्ड में भी आत्महत्या को महापाप कहा गया। आत्महत्या करनेवालों को पड़ोसी का हत्यारा कहकर आत्महत्या के विरुद्ध एक व्यापक जन अभियान छेड़ा गया। प्रशासन द्वारा आत्महत्या के विरुद्ध व्यापक कानून बनाया गया तथा इनका कठोरता से पालन करवाने का निर्देश दिया गया।[११३] इंग्लैण्ड में भी इसे महा अपराध की श्रेणी में रखते हुए महापाप की संज्ञा देने के साथ-साथ[११४] आत्महत्या करनेवाले व्यक्ति की सम्पूर्ण सम्पत्ति दण्डस्वरूप राजकोष में जमा कर ली जाने लगी। इसके अलावा दण्डस्वरूप अन्य कई तरह के नियम अपनाए गये। १५९८ ई० में एक औरत जल में डूबकर आत्महत्या कर ली। उसके शरीर को जलाशय से निकाल कर पुनः उसके लाश को फाँसी के तख्ते पर चढ़ाया गया। ऐसा मात्र दण्ड देने के लिए नहीं किया गया होगा, बल्कि इसके पीछे यही भावना रही होगी कि व्यक्ति आत्महत्या करने से बचे, क्योंकि यह इतना बडा अपराध है कि मरने के बाद भी मृतक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को दण्ड मिलता है।

काण्ट ने आत्महत्या के प्रति विरोध प्रकट करते हुए कहा है कि आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति मानवता का ही अनादर करता है।[१०८] शापेनहावर ने (Schopenhauer) आत्महत्या को पागलपन की सनक कहा है। आत्महत्या पर अपना मत प्रकट करते हुए वह लिखता है कि आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति मानवता का अपमान करता है तथा अपने जीने की इच्छा को खत्म करता है या समाप्त कर देता है।[१०९] क्योंकि अक्सर ऐसा देखा गया है कि आत्महत्या करनेवाले व्यक्ति के अन्तर्मन में और अधिक समय तक जीने की ललक रहती है। यह दूसरी बात है कि वह इस भावना से वशीभूत होने के बाद भी अपना प्राणान्त कर लेता है।

इस तरह हम यह देखते हैं कि ईसाई परम्परा में ऐच्छिक देहत्याग का विरोध व्यापक पैमाने पर हुआ है। इन विरोधों के बाद भी कुछ ऐसी विशेष परिस्थितियाँ हैं जिनमें ऐच्छिक देहत्याग की सहमति ईसाई परम्परा में देखने को मिलती है। सहमति ही नहीं, बल्कि इसके पक्ष में प्रबल समर्थन व प्रशंसा के भाव भी विद्यमान हैं। इस विषय पर आगे विस्तारपूर्वक चर्चा की जायेगी।

ईसाई परम्परा के अनुसार निम्नलिखित परिस्थितियों में व्यक्ति मृत्युवरण कर सकता है- अपने धर्म की रक्षा के लिए, स्वधर्म के त्याग की परिस्थितियाँ उपस्थित हो जाने पर, पवित्रता अथवा नैतिक मूल्यों की रक्षा करने के लिए।[११०] इन परिस्थितियों में व्यक्ति द्वारा किये गये मृत्युवरण की प्रशंसा सर्वत्र की जाती है तथा इसकी सहमति ईसाई परम्परा के साथ-साथ अन्य परम्पराओं में भी दी गयी है। इन परिस्थितियों में लिया गया मृत्युवरण जैनधर्म में वर्णित समाधिमरण के समान ही प्रशंसनीय एवं स्वीकार करने योग्य है। इसके विरुद्ध किसी तरह का आक्षेप नहीं लगाया जा सकता है।

डायगलायर्ट (Dioglaert)[१११] के अनुसार निम्नलिखित परिस्थितियों में व्यक्ति मृत्युवरण कर सकता है- अपने साथियों व अपने देश की रक्षा, असह्य रोग हो जाने तथा इसी तरह की अन्य परिस्थितियाँ उपस्थित हो जाने पर व्यक्ति इच्छापूर्वक मृत्यु का वरण कर सकता है। इन परिस्थितियों में उसके द्वारा लिया गया मृत्युवरण समाज के लिए एक आदर्श उपस्थित करता है। इससे उसके उच्च भाव का बोध होता है तथा उसे समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त होता है। उसे आदरणीय स्थान प्राप्त होना भी चाहिए, क्योंकि निःसन्देह वह आदर पाने योग्य कार्य करता है।

अरस्तु और प्लेटो ने एक तरफ आत्महत्या की तीव्र भर्त्सना की है तथा इसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज विरोधी बताया है, वहीं दूसरी ओर उन्होंने ऐच्छिक देहत्याग को प्रशंसनीय भी कहा है। लेकिन आत्ममरण करनेवाला व्यक्ति तभी प्रशंसा का पात्र माना जा सकता है जब वह कुछ विशेष परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने पर देहत्याग करता है। उनके अनुसार निम्न परिस्थितियाँ हैं - असाध्य बीमारी, असह्य शारीरिक दु:ख, वैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाना जिसमें अधिक समय तक जीवित रहना सम्भव नहीं हो, जैसे चारों तरफ भयानक अग्नि में फंस जाना, डूबने जैसी स्थिति पैदा हो जाना, दुष्टात्माओं के बीच फँस जाना, हिंसक पशु और मनुष्यों के बीच घिर जाना आदि परिस्थितियों में यदि व्यक्ति देहत्याग का निर्णय करता है तो उसका यह आत्ममरण या मृत्युवरण प्रशंसनीय है।[११२]

थॉमस मोरे ऐच्छिक देहत्याग का समर्थन करते हैं। वे कहते हैं कि व्यक्ति मृत्युवरण कर सकता है। लेकिन मृत्युवरण करने के पूर्व उसे उसकी सूचना पहले किसी पादरी या न्यायाधीश को दे देनी चाहिए। उनकी आज्ञा मिल जाने पर व्यक्ति मृत्युवरण के लिए स्वतन्त्र है- अर्थात् वह इच्छापूर्वक मृत्युवरण कर सकता है। लेकिन यहाँ भी मोरे ने व्यक्ति की योग्यता को प्रस्तुत किया है, अर्थात् वही व्यक्ति मृत्युवरण कर सकता है जो असह्य, असाध्य एवं दु:खदायी रोग से पीड़ित है।[११३] मोरे का यह विचार ईसाई परम्परा के कनफेशन (Confession) की अवधारणा को मानकर चलता है। सन्त जेरोम के अनुसार-धर्म रक्षार्थ, शारीरिक पवित्रता की रक्षा तथा अन्य इसी तरह की परिस्थितियों में व्यक्ति आत्ममरण कर सकता है।[११४] स्टोक्स (Stokes) ने इच्छापूर्वक मृत्युवरण का समर्थन करते हुए कहा है कि यह व्यक्ति को सभी तरह के दु:खों से छुटकारा दिलाती है,[११५] अर्थात् मृत्युवरण के द्वारा व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेता है, क्योंकि बिना मोक्ष प्राप्त किए वह सभी तरह के दु:खों से मुक्त नहीं हो सकता है।

माण्टेस्क्यू मृत्युवरण के प्रति अपना समर्थन व्यक्त करते हुए कहते हैं कि मृत्युवरण व्यक्ति का अधिकार है।[११६] वाल्तेयर चर्च द्वारा प्रतिपादित मृत्युवरण विरोधी कानून की निन्दा करते हुए कहते हैं कि मृत्युवरण से सम्बन्धित यह कानून मृत्युवरण करनेवाले व्यक्ति के सगे-सम्बन्धियों, पुत्र-पुत्रियों तथा उसके उत्तराधिकारियों को उनके पैतृक अधिकार से वंचित करने का एक षड्यन्त्र है। वे कहते हैं कि अगर मृत्युवरण एक अपराध है तो युद्ध महा अपराध, क्योंकि यह समाज और मानव जाति दोनों के लिए अधिक हानिकारक है।[११७] युद्ध में भाग लेनेवाला व्यक्ति यह मानकर चलता है कि इसमें उसके प्राण भी जा सकते हैं। कमोवेश यह भी एक तरह का ऐच्छिक मृत्युवरण ही है, लेकिन उसकी सर्वत्र प्रशंसा की जाती है। युद्ध में व्यक्ति अपने देश और मातृभूमि की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति देता है और वह प्रशंसनीय माना जाता है, तो क्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मरक्षार्थ प्राणों का त्याग करना उचित नहीं माना जा सकता? संभवत: इन्हीं भावनाओं से उद्वेलित होकर माण्टेस्क्यू ने वाल्तेयर के मृत्युवरण विरोधी कानून की आलोचना करते हुए युद्ध के समय होनेवाली हिंसा को महापाप की संज्ञा दी हो। इसी प्रकार वेकरिया[११४] (Beccaria) तथा होलबेक[११५] (Holbach) मृत्युवरण (आत्महत्या) के विरुद्ध बनाए गए कानून पर अपनी आपत्ति प्रकट करते हुए कहते हैं कि आत्महत्या के विरुद्ध जितने भी कानून बनाए गए हैं वे तर्कपूर्ण नहीं हैं, असंगत हैं। ह्यूम मृत्युवरण पर चर्चा करते हुए कहते हैं-यह सिद्धान्त कि मृत्युवरण करनेवाला व्यक्ति ईश्वर द्वारा बनाए गए नियमों को तोड़ता है, तर्कपूर्ण नहीं है। अपनी वार्ता के क्रम को आगे बढ़ाते हुए वे पुन: कहते हैं कि अगर हम किसी नदी की धारा को बदलने में सक्षम हैं और यदि ऐसा करते हैं तो यह अपराध नहीं है। इसी तरह मृत्युवरण भी अपराध नहीं है।[११६] नदियों की धारा की दिशा बदलकर पुल, बांध बनाए जाते हैं। इस कार्य में हिंसा होती है तथा यह अप्राकृतिक कार्य माना जा सकता है। इसके कारण पर्यावरण को भयंकर खतरे का सामना करना पड़ता है। पर्यावरण-प्रदूषित हो जाता है और प्रदूषित तथा संक्रमित पर्यावरण मानव जीवन का नाश ही करता है। अत: नदी की धारा के दिशा-परिवर्तन द्वारा हम अपने मृत्युवरण को ही स्वीकार करते हैं। फिर भी यह कार्य निरंतर चलता रहता है और तर्क दिया जाता है कि यह मानव की भलाई के लिए ही किया जा रहा है। अगर मृत्युवरण भी इसी भावना को ध्यान में रखकर ग्रहण किया जाए तो क्या इसे अपराध माना जाना चाहिए अथवा नदी की धारा की दिशा बदलने जैसे कार्यों की तरह स्वीकृति प्रदान करनी चाहिए?

प्लिनी मृत्युवरण का समर्थन करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति मृत्युवरण या आत्मबलिदान की शक्ति रखता है तथा जब भी उसे अपनी इस शक्ति का प्रदर्शन करने में प्रसन्नता का अनुभव हो, वह अपनी इस शक्ति का प्रयोग बेहिचक कर सकता है।[११७] युद्ध की वेदी पर, ब्रह्मचर्य की रक्षा का प्रसंग उपस्थित होने पर, धर्म से पतित हो जाने की परिस्थिति में यदि व्यक्ति को देहपात करना ही पड़े तो क्या उसके मृत्युवरण को प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता है? क्या इन परिस्थितियों में देहत्याग न करके धर्म से भ्रष्ट हो जाना चाहिए? यदि नहीं तो, क्या देहत्याग का निर्णय व्यक्ति की शक्ति नहीं मानी जा सकती, अगर हाँ! तो उसे अपनी शक्ति के प्रयोग करने की स्वतंत्रता मिलनी ही चाहिए, अन्यथा वह शक्ति से युक्त शक्तिहीन प्राणी ही माना जाएगा।

अत: स्पष्ट है कि साधारण परिस्थितियों में ईसाई धर्मगुरुओं ने आत्ममरण या आत्मबलिदान का समर्थन कभी भी नहीं किया है, तथापि उन्होंने कुछ विशेष परिस्थितियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में मृत्युवरण करने का भी समर्थन किया है। उदाहरणस्वरूप ईसाई धर्म-ग्रन्थों में उन स्त्रियों की अत्यधिक प्रशंसा की गई है, जिन्होंने अपने सतीत्व की रक्षा के लिए अपना देहत्याग किया था। ईसाई धर्मगुरुओं ने उन स्त्रियों के आत्ममरण की प्रशंसा तो की ही है, साथ ही साथ उन्होंने उनके साथ दयालुता का प्रदर्शन भी किया है एवं उन्हें बहुत ही उच्च स्थान प्रदान किया है। उन्हें सन्तों की श्रेणी में रखकर उनके प्रति असीम आदर के भाव का प्रदर्शन भी किया है।

उपर्युक्त चिन्तन के आधार पर समाधिमरण और ईसाई धर्म के मृत्युवरण में पाए जानेवाले अन्तर पर प्रकाश डाला जा सकता। समाधिमरण में जहाँ स्पष्ट रूप से इस बात पर जोर डाला गया है कि मृत्युवरण व्यक्ति अनशनपूर्वक करता है, वहीं ईसाई धर्म में मृत्युवरण के लिए किसी तरह का स्पष्ट निर्देश नहीं है। इसमें व्यक्ति के ऊपर ही यह छोड़ दिया गया है कि वह मृत्युवरण के लिए कौन-सा मार्ग अपनाए। अत: इस दृष्टि से समाधिमरण और ईसाई धर्म के मृत्युवरण में काफी अन्तर पाया जाता है।

लेकिन परिस्थितियाँ जिनके कारण व्यक्ति देहत्याग करता है पर विचार किया जाए तो दोनों में काफी समानताएँ हैं। क्योंकि ईसाई धर्म में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों में, धर्म की रक्षा के लिए, सतीत्व की रक्षा के लिए ही देहत्याग कर सकता है तथा अन्य साधारण परिस्थितियों में उसे मृत्युवरण करने का अधिकार नहीं है। समाधिमरण भी इन्हीं परिस्थितियों में किया जाता है।

ईसाई धर्म में कभी-कभी मृत्युवरण के लिए बाह्य विधियों का भी सहारा लिया जाता है। इस दृष्टि से यह समाधिमरण से कुछ भिन्न अवश्य है, लेकिन हमें यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि कुछ असाधारण परिस्थितियों में जैनधर्म में भी सत्त्वर विधियों का आलम्बन लेकर देहत्याग किया जाता है।

ईसाई धर्म पर यह भी एक आक्षेप लगाया जा सकता है कि इस धर्म में जितने भी मृत्युवरण के उदाहरण हैं, उनमें से अधिकतर उद्देश्यपूर्ण हैं; जैसे-स्वर्ग प्राप्ति का उद्देश्य, किसी मनोभाव से दूर होने का उद्देश्य तो किसी रोग से होनेवाले कष्टों से बचने का उद्देश्य है, लेकिन बहुत से ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें यह स्पष्ट है कि व्यक्ति ऐसे किसी उद्देश्य के वशीभूत न होकर मात्र निर्वाण प्राप्ति की भावना से ही आत्ममरण किया है। अत: इन उदाहरणों को देखते हुए ईसाई धर्म के मृत्युवरण को मात्र उद्देश्यपरक नहीं कहा जा सकता है।

अन्त में निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि समाधिमरण और ईसाई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परम्परा का मृत्युवरण कुछ अर्थों में, जैसे-प्रक्रिया को लेकर भले ही कुछ भिन्न हो, लेकिन जहाँ तक भावनाओं और परिस्थितियों की बात है तो दोनों में बहुत ही ज्यादा समानता है और इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

सन्दर्भ :

१. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतिकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ।।रत्नकरण्डक श्रावकाचार, ५/१

२. उत्तराध्ययनसूत्र, ७/२,३२.

३. आउरपच्चक्खाणं (दस पयण्णा), गाथा ११, पृ०- ५-६ ,

४. उवही सरीरगं चेव, आहारं च चउव्विहं ।। महाप्रत्याख्यानप्रकीर्णकम् (दस पयण्णा)९,

५. तरुदलमिव परिपक्वं स्नेहविहीनं प्रदीपमिव देहम् ।
स्वयमेव विनाशोन्मुखमवबुध्य करोतु विधिमन्त्यम् ।। उपासकाध्ययन, ८९१
गहनं न शरीरस्य हि विसर्जनं किं तु गहनमिह वृत्तम।
तत्र स्थास्नु विनाश्यं न नश्वरं शोच्यमिदमाहुः ।। वही, ८९२.

६. ज्ञानिन भय भवेत्कस्मात् प्राप्ते मृत्यु महोत्सवे ।
स्वरूपस्थः पुरंयाति देहीदेहांतर स्थिति ।। मृत्युमहोत्सव, ३

७. जीर्ण देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः ।
स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा ।। वही, ८.
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।। गीता, २/२२.

८. खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे । महाप्रत्याख्यानप्रकीर्णक (दस पयन्ना), ७।
रत्नकरण्डकश्रावकाचार, पृ०-२२६-२२८।

९. तत्त्वार्थवार्तिक, ७/२२.

१०. एव नाणेण चरणेण, दंसणेण तवेण य ।
भावणाहि य सुद्धाहिं, सम्मं भावेत्तु अप्पयं ।। उत्तराध्ययनसूत्र. १९/९४.

११. बहुयाणि उ वासाणि सामण्णमणुपालिया ।
मासिएण उ भत्तेण सिद्धिं पत्तो अणुत्तरं ।। वही, १९/९५.

१२. आगर्भा दुःख संतप्तः प्रक्षिप्तो देहपंजरे ।
नात्मा विमुच्यते न्येन मृत्युभूमिपतिं बिना ।। मृत्युमहोत्सव, ५.

१३. देह विनासी मैं अविनासी अपनी गति पकरेंगे ।
नासी जासी में थिरवासी चोखे हैव निरखेंगे ।।
मरूधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ०-२६७.

१४. जैन आचार, डॉ. मोहनलाल मेहता, पृ०- १२०,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. समाधिमरणोत्साहदीपक की प्रस्तावना, ले०- डा० दरबारीलाल कोठिया, पृ०-२३.
१६. मरूधकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ०- २६४.
१७. सम्यग्कायकषायलेखना सल्लेखना । सर्वार्थसिद्धि, ७/२२:,
संस्कृत-हिन्दी-कोश, वामन आप्टे, पृ०-८८२.
१८. आचारांगसूत्र, गाथा २३५, २४१, पृ०- २९१-२९६.
१९. यत्सम्यक् परिणामेसु चितस्याधनमञ्जसा ।। महापुराण, २१/२२६,२०.
उत्तराध्ययनसूत्र, ५/३
२१. वही, ५/३,४,५.
२२. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, पृ०- ७५,
२३. अन्त क्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ।। रत्नकरण्डक श्रावकाचार ,१२३.
उत्तमलेसागुणओ पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ।। संथारपइण्णयं (दस पयन्ना) २२, पृ०-६०।
२४. संथारा क्यों और कैसे, पृ०-६८.
२५. वही, पृ०-६८.
२६. मरणसमाहीपइण्णय (दस पयन्ना) १, गाथा ३७-३९, पृ०- ९८.
२७. कायः स्वस्थोऽनुवर्त्यः स्यत् प्रतिकार्यश्च रोगितः ।
उपकारं विपर्यस्यंस्त्याज्यः सद्भिः खलो यथा ।। धर्मामृत (सागार), ८/६
२८. नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः ।
देहो नष्टो पुनर्लभ्यो, धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः ।। वही, ८/७
२९. सत्फलं प्राप्तयते सद्भिः व्रताया सविडम्बनात् ।
तत्फलं सुख साध्यं स्यात्मृत्युकाले समाधिना ।। मृत्युमहोत्सव,१४.
३०. तप्तस्य तपश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलंमृत्युः समाधिना ।। वही, १६
३१. मरणस्यानिष्टत्वात् यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसञ्चयपरस्य स्वगृहं- विनाशोऽनिष्टः।
तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति। दुष्परिहारे च पण्यविनाशो
यथा न भवति तथा यतते। एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसंचये प्रवर्तमानः तदाश्रयस्य
न पातमभिवान्छति। तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणा विरोधेन परिहरति। दुष्परिहारे
च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतत। सर्वार्थसिद्धि,७/२२
३२. आगर्भा दुःख संतप्तः प्रिक्षिप्तो देहपंजरो ।
नात्मा विमुच्यते न्येन मृत्यु भूमिपतिं बिना।। मृत्युमहोत्सव,५.
३३. समाधिमरण भावना, पृ०- ८.
३४. धर्मामृत (सागर) । ८/२७,२८
३५. भगवती आराधना, १९९५-२००३.
३६. उत्तराध्ययनसूत्र, ५/३
३७. वही, ५/१८,२५,३२

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

३८. मृत्युमार्गं प्रवृत्तस्य वीतरागो ददातु मे।
समाधि बोधिपाथेयं यावन् मुक्तिपुरी पुरः ।।समाधि सप्तपदी, १.

३९. वृथा संकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम् ।
आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया ।। मनुस्मृति, ५/८९
सम्पा० - पं० श्री हरगोविन्दशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९६५।

४०. यमपुराण, २०/२१

४१. आदिपर्व, १९/२०

४२. उद्धृत, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-१, पृ०-१०.

४३. ततोऽग्निं स समाधाय हुत्वा चाज्येन मन्त्रवत् ।
शरभङ्गो महातेजाः प्रविवेश हुताशनम् ।। रामा०(अरण्य०) ५/३८.

४४. दृष्टमेतन्महाबाहो क्षयं ते रोमहर्षणम् ।
लक्ष्मणेन वियोगश्च तव राम महायशः ।। वही- उत्तरकाण्ड, (१०६/८)

४५. तां नदीमाकुलावर्त्तां सर्वत्रानुसरन्नृपः।
आगतः सप्रजो रामस्तं देशं रघुनन्दनः ।।वही, ११०/२ एवं विशेष द्रष्टव्य- दी हिस्ट्री ऑफ सुसाइड इन इण्डिया, पृ०-५२.

४६. तीर्थ प्रकाश (वीरमित्रोदया) पृ०-२४२-४८, ३४२, ३४७, ३७२-७३
तीर्थस्थली सेतु, पृ० २९०-३१६
तीर्थविवेचन कांडम्, अध्याय २४ पृ०-२५८

४७. चतुर्विद्ये च यत्पुण्यं सत्यवादिषु चैव यत ।
स्नात एव तदाप्नोति गंगायमुनसंगमे ।। वनपर्व, ८५/८५

४८. महापथस्य यात्रा च कर्त्तव्याः तुहिनोपरि।
आश्रित्यं सत्यं च सद्यः स्वर्गप्रदा हि सा ।। ब्रह्मपुराण उद्धृत तीर्थविवेचन कांडम, पृ०-२५८.

४९. से लोएसणं च वित्तेसणं च परिइन्नाय गोपहेण गच्छेज्जां, णो महापहेणं गच्छेज्जा इसिभासियाइ, १२/१

५०. सरस्वत्युत्तरे तीरे यस्त्यजेदात्मनस्तनुम् ।
पृथूदके जप्यपरो नैनं श्वोमरणं तपेत् ।। शल्यपर्व, ३९/३३

५१. शरीरमृत्सृजेत् तत्र विधिपूर्वमनाशके ।
अध्रवं जीवितं ज्ञात्वा यो वै वैदान्तगो द्विजः ।।
- अनुशासन पर्व, २५/६३ एवं २५/६४.

५२. अपराजितां वास्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः ।
आ निपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ।। मनुस्मृति, ६/३१

५३. तीर्थविवेचनकांडम् पुस्तक के अध्ययन के आधार पर ।

५४. अग्निप्रवेशं ये कुर्युर विमुक्ते विधानतः ।
प्रविशन्ति सुखं ते मां न पुनर्भाविनो जनाः ।। तीर्थविवेचन कांडम्, पृ०-२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५५. स्त्रीसहस्राकुले रम्ये मन्दाकिन्यास्तटे शुभ ...
..ततः स्वर्गात् परिभ्रष्टा जम्बूद्वीपपतिर्भवेत...। वही, पृ०-१३८-१३९.

५६. बटमूलं समासाद्य यस्तु प्राणान् परित्यजेत् ।
सर्वलोकानतिक्रम्य रूद्रलोकं स गच्छति ॥ वही, पृ०-१४२

५७. अग्निपुराण, १११/१३, विशेष द्रष्टव्य-धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-३, पृ०- १३३६.

५८. मत्स्यपुराण, ७६/७५
अविमुक्तं प्रसादेन विमुक्तो जायते यतः। काशी खण्डव, ७७ श्लोक.-२५
उद्धृत-काशी मोक्षनिर्णय, शिवानंद सरस्वती, धर्मसंघ शिक्षा मण्डल, दुर्गाकुण्ड वाराणसी, पृ०- ५

५९. वाराणसी तु भुवनत्रयसारभूतारम्या सदा मम पुरी गिरिजापुत्रि अत्रागता विविधदुष्कृत कारिणोऽपि पापक्षया द्विरजसः प्रतिभान्तिमर्त्याः । मत्स्यपुराण, ७६/७८.
एतत्स्मृतं प्रियतम् मम देवि ! नित्यं क्षेत्रं विचित्रतरुगल्मलतासु पुष्पम् ।
अस्तिन्भृतास्तनुभृतः पद्माप्नुवान्त मूर्खागमेन रहितापि न सशयोऽत्रा ॥
वही, ७६/७९

६०. शिशानाले क्षिपेत कायं तं पातं भैरवप्रदम् पतङ् गोदेयार्थ पाता वाऽऽत्मभातावता द्विजे तथा ते फलदाः सर्वे क्रमतो भैरवं प्रदम् भवनानि विचित्राणि असंख्येयानि संख्यया ॥ शिवपुराण, उद्धृत तीर्थविवेचन कांडम्, पृ०-२६२.

६१. वृद्धः शौचस्मृतेलुर्प्त प्रत्याख्यातभिषक्रक्रियः।
आत्मानं घातयेद्यस्तु भृग्वम्न्यनशनाम्बुभिः ॥ आत्रि स्मृति, २१८.

६२. तथा च ब्राह्मगर्भः। यो जीवितं न शक्नोति महाव्याध्युपपीडितः .....?
महाप्रस्थान गमनं ज्वलनाम्बुप्रवेशनम्। भृगुतनं चैव वृथा नेच्छत्तु जीवितुम्। अपकरार्क की टिप्पणी, याज्ञवल्क्य स्मृतिः, पृ०- ५३६.

६३. आसां महर्षिचर्याणां त्यक्तवाऽन्यतमया तनुम् ।
वीत शोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥
मनुस्मृतिः ६/३२: एवं, ६/१७,३१.

६४. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-३, पृ०-१३३३-३४.

६५. मृच्छकटिक, १/४

६६. सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमारमादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम् ।
रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षः प्रायोपवेशनमर्तिनृपतिर्वभूव ॥
रघुवंश, ८/९४, उद्धृत The History of in india, P. 96.

६७. शौर्यसत्यव्रतधरो यः प्रयागगतो घने ।
अम्भसीव करीषाग्नौ मग्नः स पूष्पपूजितः ॥ वही पृ०-९६

६८. श्रुत्यर्थधर्मविमुखां सुगतां निहन्तुम् ।
जातम् गुहम् भुवि भवन्तमहैन्न जानः ॥ वही, पृ०-९१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६९. तीर्थविवेचन कांडम्, पृ०-२५९, उद्धृत वही०, पृ०- ९६.
७०. Epigraphic a of Indica XII p.-211
७१. Ibid p-137. year-55
७२. Ibid. p.-200-201. year-29
७३. Indian antiquities XII. पृ० १५९.
७४. जैन, बौद्ध, और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृ० ४३९.
७५. आचारांग १/८/४/२१५, जै. बौ. गी. आ. द. तु. अ. (भाग-२) पृ० २६५
७६. रत्नकरंडकश्रावकाचार, २२ उद्धृत -जै. बौ. गी.आ.द.तु. अ. पृ०-४३९.
७७. मज्झिमनिकाय II, १०९, ७८. दीर्घनिकाय II, २४६
७९. थेरगाथा, ७७. ८०. धम्मपद , ३८१
८१. संयुत्तनिकाय (III), १२३, विशेष द्रष्टव्य बुद्ध-कथा, पृ०-७०६.
८२. संयुत्तनिकाय (III), १२०. ८३. थेरगाथा, २२०
८४. भगवतीसूत्र (घासीलाल जी), पृ०-४३८-४४२
८५. थेरगाथा, २१५. ८६. वही, १६४.
८७. वही, १२१. ८८. वही, ११५.
८९. जातकमाला (i) ९०. सद्धर्मपुण्डरीक, xxii
९१. Encyclopaedia of Religion & Ethics, xii, पृ०-२६
९२. वही, XII, पृ०-२६ ९३. वही, पृ०-२६
९३. The History of Suicide in India पृ०-१८९.
९४. वही, पृ०-१९० ९५. संयुत्तनिकाय (III), १२०-१२३.
९७. Encyclopaedia of Religion & Ethics Vol. Xii. P. 30
९८. Friends : wait for God: when he shall give the signal and release from this service, then go to him.....
Epicts, Dissert i, ix 16, for detailed study to see E.R.E., Vol. xii, p. 24
९९. St. Jerome, Commentari in Jonem I,p. 12.
100. St. Augustine, De Civitate Dei, pp. 1,16 Seq.
101. Donne, Biathom to, p. 45.
102. Motaign, Essays, II,3.
103. Wester Marck, Op. ii, pp. 215,53.
104. Ibid, p. 254.
105. Wester Marck op, ii p. 254.
106. Principles of the Scotland Erskine Rankine, p. 559.
107. History of the Criminal Law of England-Stephen, P.104.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

108. Metaphysics be Anfangungsgrundeder Tungendlebr ekant. P. 73.
109. Introduction to the Wisdom of Life. Schopenhauer. P. 515.
110. The History of Suicide in India. p. 196.
111. Atma Marana (Suicide) may be demanded by a man"s duty to his country or his friends or by Condition of serere pain or of physical eisablement or incurable disease.
112. Encyclopaedia of Religion & Ethies., Xii. P. 24.
113. Utopia By Thomas More. P. 45.
114. Commentari in Janam- St. Jerome. P. 12.
115. The History or Suicide in India. P. 196.
116. Letters Persanes. p. 76.
117. Commentaire sur be livre Das detits et des peines. P. 19.
118. Beccaria. Deidelitti. e delle pene. 35 (Opere. i. 101.)
119. Holbach. System de la nature. i. p. 369.
120. The History of Suicide in India. p. 202.
121. EP. iii. 7: Vol. 24. iii 16. Historia Naturallis. ii 5(7)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय अध्याय

समाधिमरण सम्बन्धी जैन साहित्य

जैन साहित्य भारतीय वाङ्मय का महत्त्वपूर्ण अंग है। प्राचीन जैन साहित्य अर्धमागधी, शौरसेनी एवं महाराष्ट्री प्राकृत में रचा गया है। आगे चलकर संस्कृत अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती एवं हिन्दी भाषा में भी विपुल साहित्य की रचना हुई है। उधर दक्षिण भारत में जैनाचार्यों ने तमिल और कन्नड़ में भी पर्याप्त ग्रन्थ रचे हैं। प्रस्तुत अध्याय में इन सबकी चर्चा तो सम्भव नहीं है। अत: हम केवल उन्हीं ग्रन्थों पर प्रकाश डालेंगे जो मुख्यत: समाधिमरण की साधना से सम्बन्धित हैं।

जैन साहित्य के हम दो भेद कर सकते हैं- (१) महावीर के पूर्व का साहित्य और (२) महावीर एवं उनके परवर्ती आचार्यों का साहित्य। महावीर के पूर्व जो जैन साहित्य रचा गया था वह यद्यपि इस समय उपलब्ध नहीं है, लेकिन उसके रचे जाने के प्रमाण अवश्य मिलते हैं। महावीर के पूर्व ऋषभ, नेमिनाथ, अरिष्टनेमि पार्श्व आदि जो तीर्थङ्कर हुए थे उनकी दार्शनिक एवं आचार सम्बन्धी मान्यताओं/उपदेशों का संकलन किया गया था । चूँकि वे महावीर के पहले रचे (संकलित) गए थे, इसी कारण उन्हें पूर्व कहा जाता है। पूर्व साहित्य के ग्रन्थों की संख्या चौदह मानी जाती है।[1]

महावीर के युग का साहित्य वह है जिसमें महावीर के उपदेश या सिद्धान्त संकलित किए गए हैं। महावीर ने अपने धार्मिक या दार्शनिक सिद्धान्तों को न तो संकलित किया और न कोई साहित्यिक रूप ही प्रदान किया, परन्तु महावीर के प्रमुख शिष्यों तथा परवर्ती आचार्यों ने उनके उपदेशों को संकलित करके उन्हें एक साहित्यिक रूप दिया। रचनाकारों के आधार पर उस साहित्य के निम्नलिखित विभेद किए गए हैं-

(१) **अंग-प्रविष्ट** - जिनकी रचना (संकलन) गणधर अर्थात् महावीर के प्रधान शिष्यों के द्वारा हुई।

(२) **अंग-बाह्य** - जिनकी रचना अन्य आचार्यों द्वारा हुई । परन्तु समय के साथ-साथ धीरे-धीरे जब यह साहित्य नष्ट होने लगा तब जैन श्रमणों (आचार्यों) ने तीन बार महासम्मेलन करके उसे पुन: संकलित किया और उसे नष्ट होने से बचाया। ये तीनों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महासम्मेलन[३]- (१) पाटलिपुत्र वाचना, (२) माथुरी वाचना और (३) वल्लभी वाचना के नाम से जाने जाते हैं।

(१) पाटलिपुत्र वाचना- प्रथम सम्मलेन महावीर निर्वाण के लगभग १६० वर्षों बाद ईसा पूर्व ३६७ ई० में हुआ, जिसमें ग्यारह अंगों का संकलन किया गया।

(२) माथुरी वाचना - द्वितीय सम्मेलन महावीर निर्वाण संवत् ८२५ के लगभग आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में हुआ, जिसमें अंग-प्रवृष्ट एवं अंग-बाह्य ग्रन्थों का संकलन स्मृति के आधार पर किया गया। इसी समय वल्लभी में भी नागार्जुन की अध्यक्षता में एक वाचना हुई थी।

(३) अन्तिम वल्लभी वाचना- महावीर निर्वाण संवत् ९८० के लगभग वल्लभी में तृतीय सम्मेलन हुआ, जिसमें विभिन्न पाठान्तरों का केवल एक समन्वयात्मक रूप ही प्रस्तुत किया गया, कोई नई वाचना नहीं जोड़ी गयी।

जैन आगम साहित्य के अंग, उपांग, छेद, मूल, प्रकीर्णक आदि विभिन्न उपविभाग हैं। इन सभी उपविभागों से सम्बन्धित ग्रन्थों में जैनधर्म के दार्शनिक, नैतिक एवं धार्मिक विचार संकलित हैं। आगम साहित्य के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने अन्य ग्रन्थों की भी रचना की है। इन समग्र प्राचीन आगम साहित्य में निम्नलिखित ग्रन्थ समाधिमरण की साधना प्रर प्रकाश डालते हैं- (१) *आचारांग*, (२) *स्थानांग*, (३) *समवायांग*, (४) *उपासकदशांग* (५) *अन्तकृत्शा*, (६) *अनुत्तरोपपातिकदशा*, (७) *उत्तराध्ययन* एवं (८) *दशवैकालिक*। इनके अतिरिक्त शौरसेनी प्राकृत में रचित *मूलाचार* में समाधिमरण की साधना पर पर्याप्त विवरण उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त प्राकृत भाषा के ग्रन्थों में यथाप्रसंग समाधिमरण की साधना की चर्चा हुई है, किन्तु कुछ ग्रन्थ ऐसे भी लिखे गए हैं जो मुख्यत: समाधिमरण की साधना को ही प्रतिपादित करते हैं। इनमें निम्न प्रमुख प्राकृत ग्रन्थ हैं -

(१) *आतुरप्रत्याख्यान*, (२) *महाप्रत्याख्यान*, (३) *मरणविभति*, (४) *भक्तपरिज्ञा*, (५) *संस्तारक* और (६) *भगवती आराधना*।

इनके अतिरिक्त संस्कृत भाषा में रचित निम्न ग्रन्थ भी समाधिमरण की साधना का विवरण प्रस्तुत करते हैं- (१) *आराधनासार*, (२) *समाधिशतक*, (३) *रत्नकरंडकश्रावकाचार*, (४) *धर्मामृत* (सागार), (५) *उपासकाध्ययन* आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ हम इन सभी ग्रन्थों में समाधिमरण की साधना के विवरण किस रूप में उपलब्ध हैं, इस पर संक्षिप्त चर्चा करेगें।

(क) प्राकृत भाषा में रचित ग्रन्थों में समाधिमरण

आचारांग

विद्वानों की मान्यता है कि आचारांग में स्वयं भगवान् महावीर के विचार संकलित हैं। गणधर गौतम ने इसे सूत्रबद्ध किया था और इसकी रचना सम्भवत: ईसा पूर्व पाँचवी-छठी शताब्दी में हुई, ऐसा माना जाता है।[४] द्वादशांगी में इसका प्रथम स्थान है। यह ग्रन्थ दो श्रुतस्कन्धों में विभाजित है। दोनों श्रुतस्कन्धों को मिलाकर इसमें कुल २५ अध्ययन, ८५ उद्देशक और १८ हजार पद हैं।[५] प्रथम श्रुतस्कन्ध में ९ अध्याय एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध में १६ अध्याय हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध द्वितीय श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा अधिक प्राचीन है।

आचारांग में मुख्य रूप से मुनि-धर्म का विवरण मिलता है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में समाधिमरण की चर्चा है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्याय इस प्रकार हैं- प्रथम अध्याय-शस्त्रपरिज्ञा, द्वितीय-लोकविजय, तृतीय-शीतोष्णीय, चतुर्थ-सम्यक्त्व, पंचम-लोकसार, षष्ठ-धूत, सप्तम-महापरिज्ञा, अष्टम-विमोक्ष तथा नवम-उपधानश्रुत । इनमें से अष्टम में समाधिमरण की साधना की चर्चा है।

अष्टम अध्ययन विमोक्ष के नाम से जाना जाता है। विमोक्ष का अर्थ परित्याग करना या अलग हो जाना है। मुक्ति या निर्वाण प्राप्ति के लिए कर्म का नाश होना आवश्यक है। कर्म के नाश के लिए त्याग आवश्यक है।[६]

इस अध्याय में समाधिमरण के स्वरूप और उसके तीन भेद--- (१) भक्त प्रत्याख्यान, (२) इंगिनीमरण और (३) प्रायोपगमनमरण का विस्तारपूर्वक वर्णन है। इसके साथ-साथ इसमें समाधिमरण की तीन कोटियों जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट का विवरण भी मिलता है। समाधिमरण के लिए संयम, ज्ञान, धैर्य और निर्मोह नामक चार आवश्यक बातों पर भी प्रकाश डाला गया है।[७]

स्थानांग

बारह अंगों में स्थानांग को तृतीय अंग माना गया है। 'स्थान' और 'अंग' इन दो शब्दों से मिलकर बनने के कारण इसे स्थानांग कहा जाता है। प्रस्तुत आगम में एक से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेकर दस तक की संख्या वाले पदार्थों का उल्लेख किया गया है। संख्या-क्रम से जीव, पुद्गल आदि की स्थापना की गई है।[८]

स्थानांग दस अध्ययनों में विभक्त है। प्रत्येक अध्ययन में प्रत्येक विषयों का वर्णन संख्या की सहायता से किया गया है। उदाहरणस्वरूप प्रथम अध्ययन में प्रत्येक प्रतिपाद्य विषय के लिए जहाँ एक संख्या का प्रयोग मिलता है, वहीं दशम अध्ययन में दस संख्या का।[९]

द्वितीय अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में समाधिमरण की चर्चा मिलती है। इसमें मृत्यु (मरण) के विविध प्रकार, समाधिमरण के दो रूप भक्त प्रत्याख्यान और प्रायोपगमनमरण का विवरण उपलब्ध है। मरण के विविध प्रकारों का वर्णन जोड़े बनाकर किया गया है, जैसे- बलन्मरण-वशार्तमरण, निदानमरण-तद्भवमरण, गिरिपतनमरण-तरुपतनमरण, जलप्रवेशमरण-अग्निप्रवेशमरण, विषभक्षणमरण-शस्त्रावपाटनमरण, वैहायसमरण-गिद्धपट्ठमरण या गृद्धस्पृष्टमरण, भक्तप्रत्याख्यानमरण- प्रायोपगमनमरण। भक्तप्रत्याख्यान एवं प्रायोपगमनमरण के निर्हारिम एवं अनिर्हारिम दो रूपों पर भी विचार किया गया है।[१०]

समवायांग

बारह अंगों में *समवायांग* का स्थान चौथा है। आचार्य अभयदेव ने इस आगम को समवाय या समवाओ कहा है।[११] आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार इसमें जीव आदि पदार्थों का सादृश्यसामान्य से निर्णय लिया गया है। अतः इसका नाम 'समवाय' है।[१२]

समवायांग में १०० समवाय हैं। इसका वर्तमान उपलब्ध पाठ १६६७ श्लोक परिमाण का है। समाधिमरण का विवरण मुख्यरूप से सत्तरहवें समवाय में मिलता है। इस समवाय में सत्तरह प्रकार के असंयमों का वर्णन करते हुए मरण के सत्तरह प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है। इसी में समाधिमरण की भी चर्चा की गयी है। मरण के सत्तरह प्रकार निम्न हैं[१३] - (१) अवीचिमरण (२) अवधिमरण, (३) आत्यन्तिकमरण, (४) वलन्मरण, (५) वशार्तमरण, (६) अन्तःशल्यमरण, (७) तद्भवमरण, (८) बालमरण, (९) पंडितमरण, (१०) बाल पंडितमरण, (११) छद्मस्थमरण, (१२) केवलिमरण, (१३) वैहायसमरण, (१४) गृद्धस्पृष्टमरण, (१५) भक्तप्रत्याख्यानमरण, (१६) इंगिनीमरण, (१७) पादपोपगमनमरण। इस प्रकार इस समवाय से मरण के विविध रूपों के स्वरूप विदित हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपासकदशांग

उपासकदशांग में श्रावकों के आचरण एवं व्रतों का विवेचन कथानक के रूप में मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ अंगसूत्रों में एकमात्र ऐसा सूत्र है, जिसमें भगवान् महावीर के समकालीन दस श्रमणोपासकों के जीवन का चित्रण किया गया है और जिन्होंने अपने जीवन के अन्तिम क्षण में समाधिमरण किया था।[१४]

प्रस्तुत आगम दश अध्ययनों में बंटा है। प्रत्येक अध्ययन में एक-एक श्रमणोपासक के जीवन-चरित्र का वर्णन मिलता है। उदाहरणस्वरूप प्रथम अध्ययन में आनन्द[१५], द्वितीय अध्ययन में कामदेव[१६], तृतीय में चुलनीपिता[१७], चतुर्थ में सुरादेव[१८], पंचम में चुलनीशतक[१९], षष्ठ में कुंडकौलिक[२०], सप्तम में सकडालपुत्र[२१], अष्टम में महाशतक[२२], नवम में नन्दिनी पिता[२३] तथा दशम में सालिहीपिता[२४] की जीवन गाथा का वर्णन है। इन सबों में उनके समाधिमरण ग्रहण करने तथा उन पर होनेवाले उपसर्गों के सहन करने का वर्णन मिलता है।

अन्तकृत्दशा

इस आगम में जीवन-मरण के दु:खों का अन्त कर देनेवाले व्यक्तियों के जीवन वृत्त का वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ में दस अध्ययन हैं। *नन्दी*[२५] में इसके आठ वर्गों का उल्लेख है, जबकि *समवायांग*[२६] में दस अध्ययन एवं सात वर्गों का उल्लेख है। प्रस्तुत आगम में एक श्रुतस्कन्ध तथा आठ वर्ग हैं, जिनमें क्रमश: दस, आठ, तेरह, दस-दस, सोलह, तेरह और दस अध्ययन हैं।[२७] छठे, सातवें, आठवें वर्ग में महावीर के समकालीन ३९ उग्र तपस्वियों एवं साध्वियों के समाधिमरण का विवरण मिलता है।[२८] सातवें, आठवें वर्ग में सम्राट श्रेणिक की नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा आदि महारानियों के समाधिमरण लेने का विवरण मिलता है।[२९]

अन्तकृत्दशा पर संस्कृत में दो वृत्तियाँ मिलती हैं- एक आचार्य अभयदेव सूरि की और दूसरी आचार्य घासीलाल जी की।[३०]

अनुत्तरोपपातिकदशा

प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का नवां अंग है। इसमें दस अध्ययन हैं। नन्दी[३१] में इसके तीन वर्गों का उल्लेख है जबकि *स्थानांग*[३२] में केवल दस अध्ययन का वर्णन है। लेकिन *समवायांग*[३३] में दस अध्ययन और तीन वर्ग इन दोनों का उल्लेख किया गया है। वर्तमान में यह आगम तीन वर्गों में विभक्त है। इसमें क्रमश: १०, १३ और १० अध्ययन हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह यह आगम कुल ३३ अध्ययनों में विभाजित है। प्रत्येक अध्ययन में एक-एक महान आत्मा का वर्णन है।

प्रथम वर्ग में जालि, मयाली, उपजालि, पुरुषसेन, वारिसेन, दीर्घदन्त, लष्टदन्त, विहल्ल, वेहायस और अभयकुमार इन दस राजकुमारों का उल्लेख मिलता है। इसमें इन कुमारों के जीवन वृत्तान्त के साथ-साथ उनकी कठोर और उग्र साधना का विवेचन भी किया गया है।[३४]

द्वितीय वर्ग में दीर्घसेन, महासेन, लष्टदन्त, गूढ़दन्त, शुद्धदन्त, हल्ल, द्रुम, द्रुमसेन, महाद्रुमसेन, सिंह, सिंहसेन, महासिंहसेन और पुष्पसेन के जीवन वृत्तान्त का वर्णन किया गया है।[३५]

तृतीय वर्ग में धन्यकुमार, सुनक्षत्रकुमार, ऋषिदास, पेल्लक, रामपुत्र, चन्द्रिक, पृष्टिमात्रिक, पेढालपुत्र, पोट्टिल और वेहल्ल आदि दश कुमारों का उल्लेख है।[३६] इन सभी कुमारों ने समाधिमरण किया था।

उत्तराध्ययन

प्राचीन जैन आगम साहित्य में *उत्तराध्ययन* का महत्त्वपूर्ण स्थान है। *कल्पसूत्र* (१४६) के अनुसार इसमें संकलित उपदेश श्रमण महावीर के हैं।[३७] लेकिन कुछ विद्वानों के अनुसार यह मात्र महावीर के उपदेश का संकलन नहीं है, बल्कि अन्य आचार्यों एवं प्रत्येक बुद्धों के उपदेश भी इसमें संकलित हैं।[३८] वस्तुतः *उत्तराध्ययन* एक उपदेशात्मक ग्रन्थ है। इसमें धर्म, दर्शन, अध्यात्म, योग आदि से सम्बन्धित सभी सामग्री की प्रचुरता है।

प्रस्तुत आगम में ३६ अध्ययन हैं[३९] (१) विनय-श्रुत, (२) परिषह-प्रविभक्ति, (३) चतुरंगीय, (४) असंस्कृत, (५) अकाममरणीय, (६) क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय, (७) उरभ्रीय, (८) कापिलीय, (९) नमिप्रव्रज्या, (१०) द्रुमपत्रक, (११) बहुश्रुत, (१२) हरिकेशीय, (१३) चित्त-संभूतीय, (१४) इषुकारीय, (१५) सभिक्षुक, (१६) ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान, (१७) पापश्रमणीय, (१८) संजयीय, (१९) मृगापुत्रीय, (२०) महानिर्ग्रन्थीय, (२१) समुद्रपालीय, (२२) रथनेमीय, (२३) केशि-गौतमीय, (२४) प्रवचनमाता, (२५) यज्ञीय, (२६) सामाचारी, (२७) खलुंकीय, (२८) मोक्षमार्ग गति, (२९) सम्यक्त्व-पराक्रम, (३०) तपोमार्ग-गति, (३१) चरण-विधि, (३२) अप्रमाद स्थान, (३३) कर्मप्रकृति, (३४) लेश्या, (३५) अनगार-मार्ग-गति और (३६) जीवाजीव-विभक्ति।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

पाँचवें अध्ययन अकाममरणीय एवं ३६ छत्तीसवें अध्ययन जीवाजीवविभक्ति में समाधिमरण का उल्लेख मिलता है। अकाममरणीय में सकाम या पंडितमरण (समाधिमरण) तथा अकाममरण का विस्तार से वर्णन किया गया है[४०] तो जीवाजीवविभक्ति में उत्कृष्ट, मध्यम तथा जघन्य सल्लेखना का वर्णन है। इसके साथ ही द्वादशवर्षीय समाधिमरण का भी उल्लेख है।[४१]

दशवैकालिक

मूल आगमों में दशवैकालिक का तीसरा स्थान है। *नन्दी* में आवश्यक व्यतिरिक्त के कालिक एवं उत्कालिक ये दो भेद किए गए हैं। दशवैकालिक का उत्कालिक में प्रथम स्थान है।[४२] प्रस्तुत आगम में दस अध्ययन हैं और विकाल में पढ़े जा सकते हैं। इसी कारण इसका नाम दशवैकालिक है। इसके रचयिता शयम्भव हैं तथा रचना-काल वीर संवत् ७२ के लगभग है।[४३]

इसके दूसरे और नवें अध्ययन में ४ उद्देशक हैं, शेष अध्ययनों में उद्देशक नहीं हैं। चतुर्थ व नवम अध्ययन गद्यात्मक तथा पद्यात्मक दोनों रूप में हैं। शेष सभी अध्ययन पद्यात्मक हैं। कुल पद्यों की संख्या ५०९ और चूलिकाओं की ३४ है, जबकि चूर्णियों में पद्यों की संख्या ५३६ और चूलिकाओं की ३३ हैं।[४४]

प्रथम अध्ययन में द्रुमपुष्पिक (धर्मप्रशंसा), द्वितीय में श्रामण्यपूर्वक (संयम और उसकी साधना), तृतीय में क्षुल्लकाचार, चतुर्थ में षड्जीवनिकाय, पंचम में पिण्डैषणा, षष्ठ में महाचार कथा, सप्तम में वाक्यशुद्धि, अष्टम में आचारप्रणिधि, नवम में विनय समाधि एवं दशम में भिक्षुक के लक्षण एवं उनकी अर्हता का विवेचन किया गया है।

आचार प्रणिधि नामक अष्टम अध्ययन में समाधिमरण का उल्लेख मिलता है। इस अध्ययन में श्रमणों को पात्र, कम्बल, शय्या, मलमूत्र त्यागने के स्थान, संथारा व आसन के प्रतिलेखन की विधि से अवगत कराया गया है। उन्हें सभी प्रकार के परीषहों को सहन करने का सन्देश दिया गया है तथा अपने कषायों को अल्प करके समाधिमरण ग्रहण करने का भी निर्देश किया गया है।

मूलाचार

मूलाचार अचेल मुनिधर्म के प्रतिपादक शास्त्रों में प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। मूलाचार के रचयिता कौन हैं यह एक विवादास्पद प्रश्न है। कुछ विद्वानों के अनुसार मूलाचार के रचयिता कुन्दकुन्दाचार्य[४५] हैं तो कुछ के अनुसार वट्टकेराचार्य हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचयिता को लेकर विवाद का जो भी विषय रहा हो अधिकतर विद्वानों ने इसके रचयिता वट्टकेराचार्य को ही माना है।[५६]

सम्पूर्ण ग्रन्थ बारह अधिकारों में विभाजित है-(१) मूलगुण, (२) बृहत्प्रत्याख्यान-संस्तरस्तव, (३) संक्षेपप्रत्याख्यान, (४) समाचार, (५) पंचाचार, (६) पिण्डशुद्धि, (७) षडावश्यक, (८) द्वादशानुप्रेक्षा, (९) अनगारभावना, (१०) समयसार, (११) शीलगुण और (१२) पर्याप्ति।

बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तव नामक अधिकार में समाधिमरण का विवरण मिलता है। इसमें मरण के तीन भेदों- बालमरण, बालपंडितमरण और पंडितमरण का उल्लेख किया गया है, जिसमें समाधिमरण के स्वरूप, समाधिमरण के प्रति क्षपक का उत्साह, उसकी पात्रता, आदि विषयों पर विस्तृत विवरण है। समाधिमरण के महत्त्व को दिखाते हुए उसे निर्वाण-द्वार कहा गया है।[५७]

मुख्य रूप से समाधिमरण पर चर्चा करनेवाले प्राकृत ग्रन्थ

आतुरप्रत्याख्यान प्रकीर्णक

आतुरप्रत्याख्यान प्रकीर्णक अन्तकाल प्रकीर्णक या बृहदातुरप्रत्याख्यान के नाम से भी जाना जाता है। प्राकृत में इसे *आउरपच्चक्खाण पइण्णय* कहते हैं। इसके रचयिता वीरभद्र हैं।[५८] यद्यपि इस प्रकीर्णक में गाथाओं की कुल संख्या मात्र ७१ है, तथापि यह समाधिमरण की चर्चा के लिए पूर्ण है।

इसमें मृत्यु के दो स्वरूप बालमरण एवं पंडितमरण पर विस्तार से वर्णन मिलता है। पंडितमरण की प्राप्ति के लिए ६३ प्रकार की साधना का उल्लेख है।[५९] इसमें बालमरण के स्वरूप, दोष आदि का भी विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।[६०] समाधिमरण के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए उसे मोक्ष प्राप्ति का साधन माना गया है।[६१] इसमें बालपंडितमरण का भी वर्णन मिलता है।[६२] इस ग्रन्थ के अनुसार बालमरण करने वाला जीव संसार चक्र में पड़ जाता है, जबकि पंडितमरण करनेवाला जीव संसार के भवचक्र से छूट जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[६३]

महापच्चक्खाण

महापच्चक्खाण या महाप्रत्याख्यान १४२ गाथाओं का छोटा सा ग्रन्थ है। सम्पूर्ण गाथाओं में प्रत्याख्यान (त्याग) पर बल दिया गया है। प्रत्याख्यान पर बल देने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कारण इसकी सभी गाथाएँ किसी न किसी रूप में समाधिमरण से सम्बन्धित हैं।

इसमें पंडितमरण[५४], संसारपरिभ्रमण[५५], पञ्चमहाव्रत[५६], वैराग्य[५७], व्युत्सर्ग[५८], पंडितमरण[५९], बालमरण[६०], एकत्वभावना[६१], आदि का विवेचन जागतिक सम्बन्धों की संयोगिकता[६२], ममत्व-त्याग[६३], निन्दा-आलोचना[६४], आलोचनाफल[६५], भावनाशुद्धि[६६], निर्वेद[६७] आदि विषयों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

इसमें प्रत्याख्यान के महत्त्व का निरूपण बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है तथा यह बताया गया है कि इसके सम्यक् पालन से सिद्धि (मुक्ति) की प्राप्ति होती है।[६८] प्रत्याख्यान या त्याग से तात्पर्य समाधिमरण से ही है, क्योंकि समाधिमरण भी एक प्रकार का प्रत्याख्यान ही है।

मरणविभक्ति प्रकीर्णक

मरणविभक्ति को मरणसमाधि नाम से भी जाना जाता है। इसमें कुल ६६१ गाथाएं हैं। लेकिन देवेन्द्रमुनि जी का मानना है कि इसमें कुल गाथाएं ६६३ हैं तथा इसकी रचना निम्नलिखित आठ श्रुतग्रन्थों को आधार बनाकर की गई है[६९] (१) मरणविभक्ति, (२) मरणविशोधि, (३) मरणसमाधि, (४) सल्लेखनाश्रुत, (५) भक्तपरिज्ञा, (६) आतुरप्रत्याख्यान, (७) महाप्रत्याख्यान और (८) आराधना।

इस प्रकीर्णक में मरणविधि[७०], आराधना[७१], पंडितमरण[७२], सशल्यमरण-निःशल्यमरण[७३], संक्लिष्ट भावना[७४], असंक्लिष्ट भावना[७५], शुद्ध विवेक[७६], बालमरण[७७], अभ्युद्दतमरण[७८], आचार्यपदमूल[७९], बाह्य-आभ्यन्तर सल्लेखना[८०], पंचमहाव्रत[८१], व्युत्सर्ग[८२], आराधनाभेद एवं फल[८३], परीषहसहन[८४], ममत्वत्याग[८५], बारह भावना[८६], पादपोपगमन[८७] समाधिमरण लेनेवालों के कथानक[८८] आदि का उल्लेख है।

समाधिमरण का विवेचन चौदह अधिकार-सूत्रों की सहायता से किया गया है। इनमें से कुछ हैं-- आलोचना, सल्लेखना, क्षमापना, काल, उत्सर्ग, उद्ग्रास, संथारा, निसर्ग, वैराग्य, मोक्ष आदि।[८९] इसमें सनतकुमार[९०], गजसुकुमाल[९१], स्कन्दक शिष्य[९२] आदि प्रमुख व्यक्तियों के समाधिमरण का उल्लेख प्रस्तुत किया गया है।

भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक

भत्तपरिण्णापइण्णय या *भक्तपरिज्ञा* प्रकीर्णक में गाथाओं की कुल संख्या १७३ है। यह वीरभद्र द्वारा रचित है। इस ग्रन्थ में अभ्युद्यतमरण[९३], उसके भेद[९४], गुरु[९५], मुनि[९६],

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि के कार्यों का विवरण, पंचमहाव्रत[९७], परिषहसहन[९८] एवं इस मरण के महत्त्व[९९] पर प्रकाश डाला गया है। इसके साथ-साथ ज्ञान के महत्त्व[१००] एवं अशाश्वत सुख[१०१] आदि का भी वर्णन किया गया है।

इसमें अभ्युद्यतमरण के तीन भेद-भक्तप्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण तथा प्रायोपगमनमरण का उल्लेख है। भक्तप्रत्याख्यानमरण के दो भेद-सविचार एवं अविचार का भी वर्णन मिलता है। भक्तप्रत्याख्यानमरण का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए इसकी महत्ता पर भी प्रकश डाला गया है। इसमें लिखा है कि व्यक्ति साधनाक्रम के अनुसार ही फल पाता है, यथा[१०२] - जघन्य साधक सौधर्म देवलोक को प्राप्त करता है, उत्कृष्ट साधक अच्युत कल्प में उत्पन्न होता है तथा श्रमण मोक्ष प्राप्त करता है।

संस्तारक प्रकीर्णक

संथारगपइण्णय या संस्तारक प्रकीर्णक में १२२ गाथाएँ हैं। इसकी सभी गाथाएँ समाधिमरण की साधना का उल्लेख करती हैं।

इस प्रकीर्णक में समाधिमरण का स्वरूप[१०३], उसके लाभ एवं सुख[१०४], समाधिमरण लेनेवाले व्यक्तियों के उदाहरण[१०५], संथारे पर आरूढ़ व्यक्ति के मन में उठनेवाले भावों[१०६] का सुन्दर चित्रण किया गया है।समाधिमरण को सर्वश्रेष्ठ व्रत कहा गया है तथा इसकी तुलना संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं के साथ की गयी है। उदाहरणस्वरूप- जिस तरह पर्वतों में श्रेष्ठ मेरु पर्वत, तारों में श्रेष्ठ चन्द्र, समुद्रों में स्वयंभूरमण (समुद्र विशेष) है उसी प्रकार सभी व्रतों में सर्वश्रेष्ठ समाधिमरण व्रत है।[१०७]

इसमें उन महान आत्माओं का भी वर्णन है, जिन्होंने समाधिमरणपूर्वक अपना देहत्याग किया था। उनमें प्रमुख हैं- अर्णिकापुत्र[१०८], गजसुकोमल ऋषि[१०९], अवन्ति[११०], चाणक्य[१११], अमृतघोष[११२], चिलातिपुत्र[११३] आदि।

भगवती आराधना

भगवती आराधना को *"मूलाराधना"* भी कहा जाता है। इसके रचयिता आचार्य शिवार्य हैं। इसमें कुल गाथाओं की संख्या २१६४ है। समाधिमरण पर लिखा गया यह सबसे बड़ा ग्रन्थ है।

इसमें आराधना, मरण के विविध प्रकार, समाधिमरण एवं उसके तीन भेदों भक्तप्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण, प्रायोपगमनमरण, बारह अनुप्रेक्षाएँ तथा समाधिमरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेनेवाले व्यक्तियों के नामों पर विस्तारपूर्वक विवेचन मिलता है।

आराधना की चर्चा करते हुए इसकी उपयोगिता, प्रतिज्ञा, स्वरूप, भेद आदि का विस्तृत उल्लेख है।[११४] मरण के सत्तरह प्रकार[११५] जैसे अवीचीमरण, तद्भवमरण, अवधिमरण, वैहायसमरण, पृष्ठमरण, बालमरण, पण्डितमरण, बालपण्डितमरण, पण्डित-पण्डितमरण आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। भक्तप्रत्याख्यानमरण का विस्तृत विवेचन है। इसे अविचार एवं सविचार दो भागों में बाँटा गया है तथा सविचार भक्तप्रत्याख्यानमरण का उल्लेख चालीस अधिकार-सूत्रों की सहायता से किया गया है।[११६] उपसर्ग सहन करते हुए जिन व्यक्तियों ने समाधिमरणपूर्वक अपना देहत्याग किया था, उनका भी उल्लेख है। इनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं[११७]- धर्मसिंह, ऋषभसेन, जयसेन, थकताल, सुकुमाल, गजकुमार, सुकौशल आदि। इसमें यथास्थान कषाय क्षीण करनेवाली साधना आस्रव, निर्जरा, नरकगति वेदना, तथा मोक्ष आदि विषयों का भी उल्लेख किया गया है।[११८]

(ग) समाधिमरण को प्रकाशित करने वाले संस्कृत ग्रन्थ

आराधनासार

इसके रचयिता आचार्य देवसेन हैं। इसमें कुल ११५ गाथाएँ हैं।[११९] जिनमें दार्शनाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्राराधना और तपाराधना का उल्लेख किया गया है। साथ ही इसमें परीषह एवं उपसर्गों को सहन करते हुए विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा लिए गए समाधिमरण का भी वर्णन मिलता है। प्रमुख व्यक्तियों के नाम इस प्रकार हैं[१२०]- शिवभूति, सुकोमल, गुरुदत्त, पाण्डव, गजकुमार आदि।

इसमें समाधिमरण लेने की योग्य अवस्था का विस्तृत विवेचन है। समाधिमरण लेने की मुख्य अवस्था है[१२१]- अत्यधिक वृद्धावस्था, जीर्ण-शीर्ण काया, अचानक मृत्यु का प्रसंग उपस्थित होना आदि। इन अवस्थाओं में समाधिमरण करने से व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

इसमें यह भी लिखा हुआ है कि व्यक्ति को समाधिमरण करने से पूर्व अपने कषाय को अल्प कर लेना चाहिए, क्योंकि अल्प कषाय से युक्त व्यक्ति के मन की चंचलता समाप्त हो जाती है तथा उसके मन में किसी तरह का क्षोभ उत्पन्न नहीं होता है। वह शुभध्यान में लीन रहता है तथा मोक्ष पद की प्राप्ति करता है।[१२२]

इस प्रकार यह ग्रन्थ मुख्य रूप से आराधना पर बल देते हुए आराधना के द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही समाधिमरण करने पर जोर देता है।

समाधिशतक

समाधिशतक ग्रन्थ के रचयिता श्री पूज्यपाद स्वामी हैं। इस ग्रन्थ में १०५ श्लोक हैं।[१२३] ये सभी श्लोक आत्मकल्याणकारी हैं।

इस ग्रन्थ में आकुलताओं से बचने के लिए आत्मानुभव, आत्मध्यान एवं आत्मसमाधि के अभ्यास पर बल देते हुए शरीर पर से ममत्वभाव हटाने का निर्देश मिलता है। साथ ही बाह्य आकुलताओं पर विजय पाने के लिए विभिन्न प्रकार के तपों का भी निरूपण किया गया है।[१२४]

इसमें समाधिमरण के स्वरूप उसके अतिचारों का भी विवरण मिलता है।[१२५] प्रस्तुत कृति पर तीन टीकाएँ एवं एक वृत्ति उपलब्ध होती है। टीकाकार एवं वृत्तिकार के अनुक्रम से नाम हैं[१२६] - प्रभाचन्द्र, पर्वतधर्म, यशचन्द्र तथा मेघचन्द्र ।

न्यायाचार्य श्री यशोविजय जी ने भी गुजराती भाषा में समाधिशतक लिखा है।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

इसके रचयिता स्वामी समन्तभद्र हैं। इसे *रत्नकरण्डक उपासकाध्ययन* या समीचीन धर्मशास्त्र के नाम से भी जाना जाता है। इसमें कुल १५० गाथाएँ (श्लोक) हैं।[१२७]

मूल ग्रन्थ सात अधिकारों में बँटा है-[१२८]

(१) सम्यग्दर्शन, (२) सम्यग्ज्ञान, (३) अणुव्रत, (४) गुणव्रत, (५) शिक्षाव्रत, (६) सल्लेखनाव्रत और (७) प्रतिमाव्रत।

इसके षष्ठाधिकार में समाधिमरण का उल्लेख मिलता है। इसमें समाधिमरण (सल्लेखना) के स्वरूप, विधि, फल (महत्त्व), मोक्ष, स्वर्गादि वैभव का स्वरूप तथा समाधिमरण के अतिचारों पर प्रकाश डाला गया है।[१२९]

इसमें बताया गया है कि व्यक्ति उपसर्ग, दुर्भिक्ष, दुष्काल, अत्यधिक वृद्धावस्था आदि में अगर समाधिमरणपूर्वक देहत्याग करता है तो उसे निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। लेकिन व्यक्ति को समाधिमरण का यह व्रत अपने कषायों को अल्प करके ग्रहण करना चाहिए तथा मन में किसी तरह के सांसारिक भावों को स्थान नहीं देना चाहिए।

धर्मामृत (सागार)

धर्मामृत (सागार) के रचयिता पं० आशाधर जी हैं। सागार का अर्थ होता है-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृहस्थ। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी व्यक्ति मोक्ष या निर्वाण की साधना कर सकता है इसी का विवरण इसमें मिलता है।[१३०]

यह आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में गृहस्थ के लक्षण स्पष्ट किये गये हैं। गृहस्थ को आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रहरूपी ज्वर से पीड़ित बताया गया है।[१३१]

द्वितीय अध्याय में अनुज्ञा, अष्टमूल, मद्य, मांस, आहार नियम तथा इसी तरह की अन्य जैन शिक्षाओं का उल्लेख है।[१३२]

तृतीय अध्याय से सप्तम अध्याय तक नैष्ठिक श्रावक का वर्णन है। इन अध्यायों में नैष्ठिक के भेद, ग्यारह प्रतिमा, बारह व्रत, श्रावकों की दिनचर्या आदि का विवरण उपलब्ध होता है।[१३३]

अष्टम अध्याय में समाधिमरण के स्वरूप, विधि, योग्य स्थान, योग्य संस्तर, समाधिमरण और आत्महत्या में अन्तर, कार्य एवं कषाय को क्षीण करनेवाली साधना का विवरण प्रस्तुत किया गया है। आहारत्याग एवं विभिन्न प्रकार के तपों का आलम्बन, समाधिमरण में सहायक आचार व उसके अतिचार, महत्त्व तथा समाधिमरण की पूरक साधनाओं का भी विस्तृत विवरण मिलता है।[१३४]

५. उपासकाध्ययन

उपासकाध्ययन में सोमदेव सूरिकृत *यशस्तिलक* के अन्तिम तीन आश्वास हैं। स्वयं सोमदेव ने इसका नामकरण उपासकाध्ययन किया है। यद्यपि उपासकाध्ययन यशस्तिलक का ही एक अंश है तथापि यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है।[१३५]

उपासकाध्ययन ४६ कल्पों में विभाजित है। प्रथम कल्प सिद्धान्त बोध, द्वितीय आत्मस्वरूप मीमांसा, तृतीय आगम पदार्थ परीक्षण तथा चतुर्थ मूढ़तामन्थन का उल्लेख करता है। बाद के १६ कल्पों में सम्यग्दर्शन के आठ अंगों तथा अंजन कुमार, वज्र कुमार जैसे मुनियों के कथानक का उल्लेख है। २२वें से २५वें तक के चार कल्पों में मद्य, मांस, मधु के दोषों का वर्णन मिलता है। २६ से ३२ तक के सात कल्पों में पाँच अणुव्रतों का विवरण है। इसी प्रकार ३४ वें में सामायिक शिक्षा, ३५वें में समय सामाचार-विधि, ३६वें में पूजन-विधि, ३७ वें में स्तवन-विधि, ३८ वें में जप-विधि, ३९ वें में ध्यान-विधि, ४० वें में श्रुताराधना-विधि, ४१ वें में प्रोषधोपवास-विधि, ४२ वें में भोगोपभोग व्रत, ४३ वें में दान-विधि, ४४ वें में ग्यारह प्रतिमा, ४५वें में समाधिमरण तथा ४६ वें में जैन सिद्धान्त से सम्बन्धित कुछ अन्य बातों का विवेचन किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके ४५ वें कल्प में समाधिमरण की विधि, उसके अतिचार, उपवास, कार्य एवं कषायों को कृश करने के उपायों का वर्णन मिलता है।[१३६]

सन्दर्भ :

१. सर्वश्रुतात् पूर्वं क्रियते इति पूर्वाणि, उत्पादपूर्वाऽदीभि चतुर्दशः ।
- स्थानांगवृत्ति, १०/१

२. तं समवाओ दुविहं पण्णतं, तं जहा- अंगपविट्ठं अंगबाहिरं च।
- नन्दीसूत्र, पृ०-१६०.

३. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ०-३६-३९.

४. आचारांग: एक अनुशीलन, पृ०-६.

५. वही, पृ०- ६

६. आचारांगसूत्र (प्रथम श्रुतस्कन्ध) संपा०-मधुकर मुनि, पृ०-२३९।

७. वही, पृ०- २७८, २९०, २९४.

८. स्थानांगसूत्र, पृ०- २९.

९. वही, प्रथम से दस स्थान

१०. वही, २/४/४११-४१६

११. आत्मादयो भावा अत्रिदेयता यस्मिन्नसौ समवाय इति। समवायांग वृत्ति, पत्र-१

१२. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), जीवप्रबोधिनी टीका, गाथा-३५६.

१३. सत्तरसविहे मरणे पण्णते। तं जहा - अवीईमरण, ओहिमरणे आयंतियमरणे बलायमरणे वसट्टमरणे अंतोसल्लमरणे तब्भवमरणे बालमरणे पंडितमरणे बालपंडितमरणे छउमत्थमरणे केवलिमरणे वेहाणसमरणे गिद्धपिट्ठमरणे भत्तपच्चक्खाण इंगिणिमरणे पाओवगमणमरणे। सम० सू०, १७/१२१, पृ०-५३

१४. उवासगदसाओ, पृ०-९. १५. वही, पृ० २-४

१६. वही, पृ०-८२-८४ १७. वही, पृ०-१०२-१०४.

१८. वही, पृ०-११६-११७. १९. वही, पृ०-१२२-१२३

२०. वही, पृ०-१२८-१२९ २१. वही, पृ०-१३७-१४०.

२२. वही, पृ०-१६७-१७०. २३. वही, पृ०-१८६-१८८.

२४. वही, पृ०-१८९-१९१ २५. अट्ठवग्गा-नन्दीसूत्र, ८८.

२६. दस अज्झयणा सत वग्गा-समवायांग प्रकीर्णक, सम० सू० ९६.

२७. अन्तकृत्दशासूत्र, पृ०-२४. २८. वही, पृ०-२८.

२९. वही, पृ०-३०-३१.

३०. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ०-७१३.

३१. तिण्णिवग्गा- नन्दीसूत्र, ८९ ३२. स्थानांग- १०/११४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३. दस अज्झयणा तिण्णिवग्गा.... समवाओ पइण्ण, समवाओ, ९७
३४. अनुत्तरोपपातिकसूत्रम् , पृ०-६. ३५. वही, पृ०-७.
३६. वही, पृ०-८.
३७. उत्तराध्ययनसूत्र, सम्पा०-साध्वी चन्दना, अन्तर के बोल, पृ०- २
३८. वही, प्रस्तावना पृ०-५. ३९. वही, प्रथम से छत्तीस अध्ययन।
४०. उत्तराध्ययनसूत्र , ५/२, ३, ४/२१, २८/३२.
४१. वही, ३६/२५१-२५५.
४२. से किं तं उक्कालिअं ? उक्कालिअं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा-दसवेआलियं-नन्दीसूत्र, ८०।
४३. दसवेआलियं, वाचना प्रमुख-आचार्य तुलसी, पृ०-२८.
४४. जैन आगम साहित्य: मनन और मीमांसा, पृ०-३११.
४५. मूलाचार (पूर्वार्द्ध) - आद्य-उपोद्घात, पृ०-१८.
४६. वही, पृ-१८, वि० द्र०- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-४, पृ०-२६९. भारतीय संसकृति में जैन धर्म का योगदान, हीरालाल जैन, पृ०-१०, जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ०-५९१.
४७. मूलाचार (पूर्वार्द्ध), गाथा ९२-१०७.
४८. आउरपच्चक्खाणपइण्णयं, मंगलाचरण से
४९. वही, गाथा११ ५०. वही, ३७-४७
५१. वही, ४८-७१ ५२. वही, १-९
५३. वही, ६८-७० ५४. वही, ४१-५०
५५. वही, १३५-१३६ ५६. वही, ६८-७६
५७. वही, १२१-१२५. ५८. वही, १११-११२
५९. वही, ४१-५०. ६०. वही, ९०-९२
६१. वही, १३-१६. ६२. वही, १६
६३. वही, ९-११. ६४. वही, ८
६५. वही, ३०. ६६. वही, ३५-३६
६७. वही, ३७-४०, ५१-६७.
६८. एयं पच्चक्खाणं अणुपालेऊण सुविहिओ सम्मं।
वेमाणिओ व देवो हविज्ज अहवावि सिज्झिज्जा ।।
६९. जैन आगम साहित्य:मनन और मीमांसा, पृ०-३९५.
७०. मरणविभत्तिपइण्णयं गाथा १०-१३.
७१. वही, १४-१५. ७२. वही, २२-४४.
७३. वही, ५१-५२. ७४. वही, ५९-६५.
७५. वही, ६६-६७. ७६. वही, ७०-७७.
७७. वही, ७८-८०. ७८. वही, ८४-९२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७९. वही, १७७-१८८.　　८०. वही, १८९-२०९.
८१. वही, २५८-२६९.　　८२. वही, २९७-३०२.
८३. वही, ३१८-३२४.　　८४. वही, ३६६-३८५.
८५. वही, ४०२-४०५.　　८६. वही, ५७०-६४०.
८७. वही, ५२५-५५०.　　८८. वही, ४०६-५२५.
८९. वही, ८१-८२.　　९०. वही, ४०९-४१२.
९१. वही, ४३२-४३३.　　९२. वही, ४४४.
९३. भत्तपरिण्णा पइण्णयं, ५-९.　　९४. वही, ९.
९५. वही, १२-१९, २४-२८, २९-३३, ५३-१५३.
९६. वही, १२-१९, २४-२८, २९-३३, ५३-१५३.
९७. वही, ३४-३७.　　९८. वही, १५६-१७१
९९. वही, १७२-१७३.　　१००. वही, ३-४
१०१. वही, ५.
१०२. परिणामविसुद्धीए　　सोहम्मे सुरवरो महिड्ढीओ
आराहिऊण जायइ भत्तपरिन्नं जहन्नं सो।
उक्कोसेण गिहत्थो अच्चुयकप्पम्मि जायए अमरो।
निव्वाणसुहं पावइ साहू सव्वट्ठसिद्धिं वा ॥ वही, १७०-१७१.
१०३. संथारगपइण्णयं, गाथा, ३१-४३.
१०४. वही, ४४-५५.
१०५. वही, ५६-८७.　　१०६. वही, ८१-१२२.
१०७. मेरु व्व पव्वयाणं, सयंभुरमणु व्व चेव उदाहीणं।
चंदो इव ताराणं, तह संथारो सुविहियाणं ॥ वही, ३०.
१०८. वही, ५६-५७.　　१०९. वही, ८६-८७.
११०. वही, ६५-७४.　　१११. वही, ७३-७४.
११२. वही, ७५-७६.　　११३. वही, ८५.
११४. भगवती आराधना, गाथा, १-४६.
११५. वही, २५-२८　　११६. वही, ६४-२०२३
११७. वही, २०६७-२०७०, २१५५-५६.
११८. वही, २१६२ एवं आगे भी. ११९. आराधनासार, सम्पादकीय, पृ०- ५.
१२०. वही, विषय सूची.
१२१. यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा।
यावच्चेंन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ॥
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्।
संदीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥ वही, पृ०- ५८.

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

१२२. सल्लेहिया सल्लेखिता: संन्यस्ता: परित्यक्ता: कसाया कषाया: मुणिणो मुनेर्महात्मन: चित्तसंखोहं चित्तसंक्षोभं मनोविक्षेपं ण करंति न कुर्वन्ति चितक्खोहेणविणा चित्तक्षोभेण विना मनोविक्षेपराहित्येन उत्तमं परम-कोटिमारुढ़ं धम्म धर्मस्वरूपस्वभावं प्रतिपद्यते स कषायसंन्यासी मुनि: प्राप्नोति ।। आराधनासार, पृ०-६९-७०

१२३. समाधिशतक, पृ०-१५६.

१२४. वही, पृ०-१५६-१६१.

१२५. न जानन्ति शरीराणि सुखदु:खान्यबुद्धय: ।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ।। वही, ६१।
आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मन: ।
मन्यते निर्भयं त्यक्तत्वा वस्त्रं वस्त्रांतरग्रहम् । वही, ७७.

१२६. जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग ४, पृ०-२५८

१२७. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, अनु०- पन्नालाल वसन्त, प्रस्तवाना, पृ०-९।

१२८. वही, प्रथम से सप्तम अधिकार.

१२९. वही, ५/१, ३-१२.

१३०. धर्मामृत (सागार), संपा०- अनु०-कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रधान सम्पादकीय, पृ०-५.

१३१. वही, १/२

१३२. वही, द्वितीय अध्याय (सम्पूर्ण) ।

१३३. वही, तृतीय अध्याय से सप्तम अध्याय के अनुसार ।

१३४. वही. प्रधान सम्पादकीय ।

१३५. इयता ग्रन्थेन मया प्रोक्तं चरितं यशोधरनृपस्य ।
इत उत्तरं तु वक्ष्ये श्रुतपठितमुपासकाध्ययनम् ।।यशस्तिलक, 5/155,
विशेष द्रष्टव्य-उपासकाध्ययन, पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रस्तावना, पृ०- १.

१३६. वही, कल्प ४५ के आधार पर.
उपवासादिभिरङ्गे कषायदोषे च बोधिभावनया ।
कृतसल्लेखनकर्मा प्रायाय यतेत गणमध्ये ।। वही, ८९६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय अध्याय

समाधिमरण एवं मरण का स्वरूप

मृत्यु की अपरिहार्यता

जन्म और मृत्यु जीवन रूपी शृंखला के दो छोर हैं। जन्म जीवन का एक शरीर में प्रारम्भ है तो मृत्यु उस शरीर में उसकी समाप्ति का सूचक। जन्म की अन्तिम परिणति मृत्यु में है। जन्म के साथ मृत्यु अनिवार्य रूप से जुड़ी है। जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु अवश्य होती है। अगर जीने का अपना मूल्य है तो मरने का भी अपना अलग मूल्य है। जीवन में संयोग का सुख है इस कारण जीना अच्छा लगता है, जबकि मृत्यु में वियोग का दुःख है, अतः वह अच्छी नहीं लगती है। फिर भी मृत्यु की अनिवार्यता या अपरिहार्यता से कोई इन्कार नहीं कर सकता है। मृत्यु अपरिहार्य है। इसे स्पष्ट करते हुए *आचारांग* से कहा गया है मृत्यु अनागम (नहीं आना) नहीं है।[1] मृत्यु अवश्य ही आयेगी। यह अवश्यंभावी योग है, अपरिहार्य स्थिति है। लाख प्रयत्न करने पर भी इससे बचा नहीं जा सकता। तात्पर्य यह है कि मृत्यु प्राणी की एक विवशता है। वह जन्मा है, इसलिए उसे मरना भी होगा। यही ध्रुव सत्य है। इसी बात को गीताकार ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि मृत्यु निश्चित है[2] अर्थात् जो जन्मा है, वह निश्चित ही मरेगा। अतः मरना निश्चित ही है तो इस निश्चित मृत्यु से भय कैसा? परन्तु व्यक्ति इससे भयभीत रहता है और आनेवाली अपनी सम्भावित मृत्यु से बचने का प्रयत्न करता रहता है, परन्तु उसम सफल नहीं हो पाता है।

साधारणतः देखा जाता है कि व्यक्ति अपनी मृत्यु से बचने के लिए नाना प्रकार के उपायों का सहारा लेता है। लेकिन वह मृत्यु के हाथों से नहीं बच पाता है। *उत्तराध्ययन* में कहा गया है कि व्यक्ति जीवन भर धन आदि का संग्रह करता रहता है तथा अपनी मृत्यु को दूर करने के उपायों की खोज में लगा रहता है। इस क्रम में वह नाना प्रकार के अच्छे-बुरे कर्मों का सम्पादन करता रहता है। कभी वह अच्छे व शुभ कर्मों का सम्पादन करता है तो कभी बुरे कर्मों का। लेकिन उसके ये सभी प्रयत्न अन्ततः व्यर्थ हो जाते हैं और उसकी मृत्यु हो जाती है।[3] अतः ऐसा विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि कोई भी जन्म लेने वाला प्राणी मृत्यु से नहीं बच सकता है चाहे वह इससे बचने के लिए कितना भी प्रयत्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर ले। *सूत्रकृतांग* में इसे स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर कहते हैं कि जिस प्रकार ताल (ताड़) का फल बन्ध से छूटकर नीचे गिर पड़ता है, उसी प्रकार आयुष्य क्षीण होने पर प्रत्येक प्राणी जीवन से च्युत हो जाता है।[४]

ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार थावच्चापुत्र के मन में जब वैराग्य उत्पन्न होता है। तब उसकी माता धन-वैभव, सगे-सम्बन्धियों का प्रलोभन देकर दीक्षा न ग्रहण करने का आग्रह करती है, किन्तु थावच्चापुत्र पर उसके अनुनय-विनय का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वह अपने निश्चय पर अटल रहता है। तब इच्छा न होते हुए भी माता ने थावच्चापुत्र बालक का निष्क्रमण स्वीकार कर लिया अर्थात् दीक्षा की अनुमति दे दी। तत्पश्चात् थावच्चापुत्र की माता श्रीकृष्ण के पास गई और उनसे अनुरोध किया कि हे देवानुप्रिय! मैं अपने एकलौते पुत्र का निष्क्रमण सत्कार करना चाहती हूँ, अत: आप प्रव्रज्या अंगीकार करने वाले थावच्चापुत्र के लिए छत्र, मुकुट और चामर प्रदान करें, यही मेरी अभिलाषा है। इस पर श्रीकृष्ण ने थावच्चापुत्र के संयम की परीक्षा लेनी चाही और उससे कहा कि तुम अपना वैराग्य का यह निश्चय छोड़ दो तथा सांसारिक उपभोगों का भोग करो। मैं (श्रीकृष्ण) तुम्हें सभी कष्टों से बचाऊँगा।[५] उनके ऐसा कहने पर थावच्चापुत्र ने श्रीकृष्ण से पूछा कि क्या आप मेरे जीवन का अन्त करनेवाले आते हुए मरण को रोक सकते हैं अगर आप ऐसा कर सके तो मैं आपकी बात मान लूँगा।[६] थावच्चापुत्र के ऐसा पूछने पर श्रीकृष्ण ने कहा मरण का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। किसी के द्वारा भी उसका निदान सम्भव नहीं है[७] अर्थात् मृत्यु अनिवार्य है। *प्रश्नव्याकरणसूत्र* में स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि प्रत्येक प्राणी की मृत्यु अनिवार्य है।[८] *भगवती आराधना* के अनुसार जीव जन्म लेता है और अपने कर्मों का फल भोगता है, नवीन कर्मों का उपार्जन करता है और अन्त में मृत्यु को प्राप्त करता है।[९] कहने का तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए मृत्यु एक अनिवार्य एवं अपरिहार्य तथ्य है। इससे कोई कभी नहीं बच सकता है।

इन जैन साहित्यों के अतिरिक्त ब्राह्मण परम्परा से सम्बन्धित कई धर्म ग्रन्थों में भी मृत्यु की अपरिहार्यता का विशद वर्णन मिलता है।

मार्कण्डेयपुराण में मृत्यु की चर्चा करते हुए लिखा गया है - जीव की उत्पत्ति गर्भ में होती है, फिर वह गर्भ से निकलकर वृद्धि करता है और अन्त में मृत्यु को प्राप्त करता है[१०] अर्थात् जन्म लेने के बाद मृत्यु अनिवार्य है, अपरिहार्य है। *पद्मपुराण* के अनुसार जीव निरन्तर जन्म लेता एवं मरता रहता है।[११] पुन: इसी में कहा गया है कि मानव शरीर पाँच तत्त्वों से मिलकर बना है और अन्त में जर्जरित होकर मृत्यु को प्राप्त करता है।[१२] जन्म लेना, वृद्धि करके यौवनावस्था को प्राप्त करना उसके बाद ह्रास करते हुए वृद्धावस्था को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त करना और अंत में मृत्यु को प्राप्त करना यही क्रम अनादि काल से चला आ रहा है। इस क्रम को तोड़ पाना या इससे मुक्त हो जाना संभव नहीं है।

पाश्चात्य विचारकों में जैक्यूज कोरोन (Jacques Choron) का नाम मृत्यु सम्बन्धी अध्ययनों के लिए विख्यात है। इन्होंने मनुष्य और मृत्यु के सम्बन्धों पर आधारित एक पुस्तक (Death and Modern Man) लिखा है, जिसके अनुसार सभी जीव मरणशील है।[१३] मृत्यु से बचना संभव नहीं है। विजमैन ने जन्म और मृत्यु को दो भिन्न प्रक्रिया माना है। जहाँ जन्म जीवन का प्रारम्भ है वहीं मृत्यु उस जीवन का अंत। मृत्यु जीवन के समान ही उपयोगी और अनिवार्य है। अपने मत के समर्थन में इन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि जीवन के लिए मृत्यु प्राकृतिक रूप से अनिवार्य है एवं मृत्यु जीवन के अन्त या त्याग का नाम नहीं है।[१४]

पाश्चात्य विचारकों में क्लाइड वर्नार्ड (Clayde Bernard) का नाम मृत्यु और जीवन के अध्ययन के साथ व्यापक रूप से जुड़ा हुआ है। इन्होंने इस विषय पर बड़ी गहराई से अध्ययन किया है। अपने अध्ययन के सार रूप में मृत्यु और जीवन में सम्बन्ध स्थापित करते हुए इन्होंने कहा है कि जीवन मृत्यु से अनिवार्य रूप से जुड़ी है।[१५] तात्पर्य यह है कि मृत्यु जीवन की अपरिहार्य आवश्यकता है। मृत्यु के बिना जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि प्रत्येक जीव अपनी स्थिति में निरन्तर परिवर्तन करता रहता है। वह निरंतर जीवन से मृत्यु की ओर अग्रसर होता रहता है और अन्त में मृत्यु को प्राप्त होता है।[१६]

मि० कैरेल (Carrel) ने मृत्यु की अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि व्यक्ति मृत्यु के पंजे से कभी नहीं बच सकता है। इनके अनुसार मृत्यु का कारण चाहे बाह्य हो या आन्तरिक, चाहे वह जीवन से जुड़ा हो या बाह्य आकस्मिक घटनाओं से, व्यक्ति जब तक जीवन से जुड़ा हुआ है, वह मृत्यु से नहीं बच सकता है। वह मृत्यु पर कभी भी विजय नहीं प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति अपनी सभी चैत्तसिक लक्षणों, यथा- गतिशीलता, चंचलता, सुन्दरता, कुरूपता, लोभ, दु:ख-सुख, माया, मोह आदि का मूल्य जीवनत्याग करके चुकाता है।[१७] व्यक्ति के ये सभी लक्षण उसकी मृत्यु के साथ समाप्त हो जाते हैं। विलियम शर्लाक के अनुसार मृत्यु सभी दु:खों का राजा है।[१८] व्यक्ति साधारण दु:खों से डरा सहमा रहता है। मृत्यु तो दु:खों का राजा है, अत: व्यक्ति इससे और ज्यादा भयभीत रहता है। मृत्यु के कारण डरते रहना मृत्यु की उपस्थिति का बोधक है। मृत्यु व्यक्ति के जीवन का अन्त कर देती है और जीवन का अन्त सामान्य रूप से किसी को ग्राह्य नहीं होता है। यही कारण है कि मृत्यु से व्यक्ति डरता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरहेन्वर्ग के अनुसार मृत्यु व्यक्ति द्वारा स्वयं उत्पन्न की जाती है। इनके अनुसार मृत्यु एक महान विपत्ति है जो प्रकृति और जीवों के परस्पर टकराव से उत्पन्न होती है। इस प्रकार मृत्यु एक प्रक्रिया है जो जीवों द्वारा स्वयं ही उत्पन्न की जाती है।[२९] प्रकृति से टकराव का अर्थ है प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध कार्य करना और नष्ट-भ्रष्ट हो जाना। उदाहरणस्वरूप अग्नि द्वारा जहाँ हम बहुत से अपने कार्यों को पूरा करते हैं, वहीं अगर दहकती हुई अग्नि की भट्टी या दावानल जैसी किसी चीज में कूद जायें, तो जलकर मृत्यु हो जाती है। यद्यपि यह प्रत्येक स्थिति में नहीं होता है, लेकिन जीव और प्रकृति में टकराव के इस तरह के अन्य कई उदाहरण मिल जाते हैं।

प्रो० लुडविग आर० मूलर (Ludwig R. Muller)[३०] के अनुसार मनुष्य जब तक जीवित रहता है, मृत्यु के कारण डरा और सहमा रहता है। इसी तरह के विचार डॉ० फ्रेंक (Frank) के भी हैं। डॉ० फ्रेंक लिखते हैं कि मृत्यु से डरना मानव जीवन की अनिवार्य प्रतिक्रिया है।[३१] थॉमस एक्विनों (Thomas Aquino) के अनुसार व्यक्ति मृत्यु से दूर रहना चाहता है और उसके बारे में सोचकर उदास हो जाता है।[३२] इन सभी विद्वानों के अनुसार व्यक्ति मृत्यु से डरता है, लेकिन वह क्यों मृत्यु से डरता है इस पर अगर विचार करें तो हम पायेंगे कि प्रत्येक प्राणी मृत्यु को दु:ख रूप मानता है। वह इसे जीवन को अन्त करने वाली प्रक्रिया के रूप में देखता है। यही कारण है कि मृत्यु की अवधारणा उसे दु:ख और उदास कर देती है। लेकिन उसके दु:खी और उदास होने से मृत्यु उसके पास से नहीं हटती है। कभी न कभी वह उसके जीवन का अन्त अवश्य कर देती है।

ई० एच० कोनेल (E. H. Connel) के अनुसार मानव जीवन का अन्त अनिवार्य है और जीवन का यह अन्त मृत्यु के रूप में होता है।[३३] तात्पर्य यही है कि मृत्यु अपरिहार्य है, इससे नहीं बचा जा सकता है। डॉ० प्रद्युम्न के अनुसार मृत्यु अवश्यंभावी है। संसार में ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही तरह के व्यक्तियों की मृत्यु होती है। लेकिन इन दोनों की मृत्यु में बुनियादी अन्तर होता है। ज्ञानी 'मृत्यु अनिवार्य है' इस अवधारणा को समझकर मृत्युवरण (इच्छापूर्वक) करके मृत्युंजयी होता है, वहीं अज्ञानी मृत्यु से बचने के लिए छटपटाता है और दु:ख का भागी बनता है।[३४]

मृत्यु जीव के अस्तित्व की एक अत्यन्त वास्तविक स्थिति है। मृत्युकाल आने पर जीव स्व में विलीन होने पर विवश हो जाता है। इसी क्षण उसे स्पष्ट होता है कि स्व ही उसका अपना और असली सहचर है और जिसे वह अन्त तक अपना कहता आया था वह पर है, क्योंकि अन्त समय में उसने मेरा साथ छोड़ दिया। जीवन भर व्यक्ति उसी 'पर' की चाकरी में लगा रहता है, लेकिन मृत्यु की बेला में जब 'पर' का वर्चस्व चूक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है उस समय जीव के सामने रिक्तता और अन्धकार का साम्राज्य व्याप्त हो जाता है। उससे बचने के लिए वह नाना उपाय करता है, यथा-संगीत सुनना, व्यापार करना, धन संग्रह करना, युद्ध करना आदि। वह अपने मौलिक स्वरूप को भूलने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहता है, लेकिन उसके बचाव के सारे प्रयास निरर्थक हो जाते हैं और अन्त में उसकी मृत्यु हो जाती है।[२५]

मृत्यु एक गहरी सुरंग है जिसमें अन्धकार है, दुर्गन्ध है और एक गम्भीर सन्नाटा है। हमें उसी रास्ते से गुजरना है जिसमें हमारी वासनाओं की प्रेत छायाएँ, दबी हुई महत्त्वाकांक्षाओं की जीवित शव यात्राएं, खण्डित व्यक्तित्व की टूटती उल्काएँ, काल भैरव की दहकती ज्वालाएँ हमारी प्रतीक्षा में खड़ी हैं। यही हमारा सही परिवार है, जिसकी हमने बराबर उपेक्षा की है, इससे बचने के लिए हमेशा भागते फिरे हैं, लेकिन इससे बचना सम्भव नहीं है। मृत्युबोध को सही रूप में समझकर हम पलायनवादी रास्ता छोड़ सकते हैं अर्थात् मृत्यु की अनिवार्यता को समझकर व्यक्ति को जीवन और मृत्यु दोनों परिस्थितियों में समान भाव बनाए रखना चाहिए।[२६] यहाँ विद्वान् लेखक ने मृत्यु की अनिवार्यता पर अपने विचारों के प्रदर्शन के साथ-साथ शांतिपूर्ण मृत्यु प्राप्त करने का सन्देश भी सामान्य जन को दिया है।

काका कालेलकर ने अपने चिन्तन में जीवन और मृत्यु को एक समान स्थान दिया है। मृत्यु को उन्होंने जीवन के लिए आवश्यक माना है। उनके अनुसार जीवन और मृत्यु दिन और रात के समान है। जिस प्रकार दिन के बाद रात और रात के बाद दिन के आने का क्रम चलता रहता है, उसी प्रकार जीवन और मृत्यु का क्रम निरन्तर चलता रहता है। मृत्यु और जीवन के क्रम के आधार पर आपने मृत्यु को जीवन के लिए एक शाश्वत कारण माना है। आप कहते हैं कि जिस प्रकार थका मांदा मजदूर विश्राम चाहता है, पका हुआ फल जमीन पर गिरकर नयी यात्रा शुरू करने के लिए वृक्ष से अलग होता है, उसी तरह जीव (व्यक्ति) भी जीवन-यात्रा कायम रखने के लिए मृत्यु प्राप्त करता है।[२७]

मृत्यु ईश्वर प्रदत्त एक वरदान है। अगर मृत्यु नहीं होती तो क्या होता? इसकी कल्पना ही भयावह है। अनन्त काल तक सिर्फ जीते ही रहना पड़ता तो इससे हम हैरान हो जाते, परेशान हो जाते। कहीं न कहीं तो जीवन का अन्त होना चाहिए। अगर जीवन का कहीं अन्त नहीं होता तो हमारी स्थिति लोककथा के उस राजा के समान होती जिसने अपना राज्य अपने कारण खोया था। कथा कुछ इस प्रकार है-किसी राजा की प्रतिज्ञा थी कि जो भी कहानीकार उसे ऐसी कहानी सुनाए जिसका कभी भी अन्त नहीं हो तो वह अपना राज्य उस कहानीकार को सौंप देगा, अन्यथा कहानीकार को अपने जीवन से हाथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धोना पड़ेगा। एक कहानीकार ने राजा को अनाज के गोदाम की कहानी सुनाना प्रारम्भ किया। उसने वर्षों तक एक टिड्डी द्वारा एक अन्न के दाने को गोदाम से बाहर लाने तथा पुनः दूसरी टिड्डी द्वारा अन्न के दूसरे दाने बाहर लाने का शब्द दुहराना प्रारम्भ किया। अन्ततः राजा कहानीकार को अपना राज्य सौंप दिया और टिड्डी दल तथा अनाज के गोदाम से अपना पीछा छुड़ाया। लेकिन यहाँ इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि राजा के दिमाग में बहुत समय तक टिड्डी दल और अनाज के गोदाम की गूँज गूँजती रही होगी। इसी तरह यदि हमारे सामने भी अनन्तकाल तक जीने की समस्या उपस्थित हो जाए तो हम भी उस राजा की तरह अपना सर्वस्व देकर मृत्यु की कामना करने लगेंगे।

मृत्यु आवश्यक होने के साथ-साथ हमारे लिए उपयोगी भी है। क्योंकि मृत्यु के कारण ही विश्व में जन्म-मरण का चक्र निर्विध्न चलता रहता है। यदि मृत्यु नहीं होती तो विश्व में नए-नए प्राणियों का जन्म भी नहीं होता। मृत्यु के कारण ही संसार के सभी कार्य ठीक ढंग से क्रियान्वित होते हैं। मृत्यु सभी का परम मित्र है। यह कभी किसी को निराश नहीं करती है। यह व्यक्ति को सभी प्रकार के दुःखों से मुक्ति दिलाती है।

कविवर रविन्द्र के अनुसार मृत्यु जीवन से उतना ही सम्बन्धित है जितना जन्म से। जन्म अगर जीवन प्रभात है तो मृत्यु जीवन की शाम।[२८] वाल्स व्हाइटमैन के अनुसार मृत्यु से अधिक सुन्दर कोई घटना नहीं है। वाल्स मृत्यु पर अपनी टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि मृत्यु से डरना व्यर्थ है, क्योंकि यह तो जीवन का एक सर्वोच्च साहसिक अभियान है।[२९] जिन लिखते हैं कि मृत्यु से बचा नहीं जा सकता, क्योंकि जीवन के मध्य भी हम मृत्यु में ही होते हैं।[३०] गांधी जी के अनुसार मृत्यु में किसी तरह का आतंक नहीं होता है, बल्कि मृत्यु तो एक प्रसन्नतापूर्ण निद्रा है जिसके पश्चात् जागरण का आगमन होता है।[३१]

विज्ञान के अनुसार मृत्यु अनिवार्य तथ्य है। विज्ञान की मान्यता है कि सभी जीवों का शरीर कोशिकाओं (Cells) से बना होता है। कोशिकाओं में विभिन्न तरह की क्रियाओं तथा विभाजन एवं वृद्धि होने के कारण जीवों का शरीर निर्मित होता है। कोशिकाओं का एक सीमा तक विभाजन होना आवश्यक है, क्योंकि कोशिकाएं विभाजित होकर अन्य कोशिकाओं का निर्माण करती हैं, इससे जीवों के शरीर के अंगों का निर्माण होता है। लेकिन कोशिकाओं का यह विभाजन तीव्रता से तथा निर्धारित सीमा से अधिक होने लगता है तो वह जीव की मृत्यु का कारण बन जाता है।[३२] जीवधारियों का यह शरीर विभिन्न प्रकार के जटिल भौतिक एवं रासायनिक पदार्थों से मिलकर बनता है। इसमें गति, चेतना, वृद्धि, आदि चैत्तसिकगुण पाए जाते हैं।[३३] जेवियर वाचेट (Xavier Wachet) के अनुसार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवधारियों के ये चैत्तसिक गुण एक साथ मिलकर या अलग-अलग मृत्यु को आने से रोकते रहते हैं। लेकिन मृत्यु फिर भी आ ही जाती है और यह जीवधारियों के जीवन का अन्त कर देती है।[३४]

जर्मनी के जीवविज्ञान के प्रो० अगस्त वीजमैन (August Weismann) ने मृत्यु पर गहराई से अध्ययन किया है। अपने अध्ययन के उपरान्त वे लिखते हैं कि मृत्यु सभी जीवधारियों का गुण है और यह जीवधारियों के जीवन का अन्त करनेवाली एक प्रक्रिया है। अपनी वार्ता के क्रम में वे पुन: लिखते हैं कि बहुत से छोटे-छोटे जीव जो साधारण धूल, आग, पानी, हवा में नष्ट हो जानेवाले होते हैं, अनुकूल परिस्थितियों में लम्बे समय तक जीवित रहते हैं और जीवन की सभी आवश्यक क्रियाओं का सम्पादन ठीक से करते रहते हैं, लेकिन एक निश्चित समय के बाद वे नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् उनकी मृत्यु हो जाती है। वे पुन: लिखते हैं कि मृत्यु जीवन के लिए प्राथमिक आवश्यकता भले ही नहीं हो परन्तु यह गौण या द्वितीय आवश्यकता अवश्य है।[३५]

जीवन और मरण के चक्र को सदैव प्रवर्तित होते रहने के लिए मृत्यु का होना अपरिहार्य है, क्योंकि इस संसार में जीव जन्म ही लेते रहे और उसकी मृत्यु नहीं हो तो सृष्टि का यह चक्र रुक जायेगा। जनसंख्या इतनी अधिक हो जाएगी कि जीवन जीना दूभर हो जायेगा। जीवनयापन के साधन भी उपलब्ध नहीं हो सकेंगे। सुखोपभोग के साधन के लिए छीना-झपटी होगी। इस संसार में चारों ओर अराजकता का राज्य कायम हो जायेगा, मृत्यु का भय समाप्त हो जायेगा और कोई भी बुरे कर्मों से नहीं डरेगा। अच्छे कर्म तथा शुभ विचार लोप हो जायेंगे, क्योंकि ऐसी मान्यता है कि व्यक्ति मृत्यु के भय से ही अच्छे कर्मों का सम्पादन तथा मन में शुभ विचारों का चिन्तन करता है।

यह तो मानी हुई बात है कि जन्म लेनेवाला जीव कभी न कभी तो मृत्यु को प्राप्त अवश्य करता है। व्यक्ति का शरीर, सभी इन्द्रियाँ आदि पुद्गलों के पिण्डकोश हैं। इसमें सड़न-गलन की प्रक्रिया अनिवार्य रूप से चलती रहती है। शरीर क्रमश: जीर्ण-शीर्ण होता जाता है और एक क्षण ऐसा आता है कि जीव की मृत्यु हो जाती है। दार्शनिकों की मान्यता है कि जीवों का शरीर पाँच भौतिक तत्त्वों के संयोग से बना है। कभी न कभी तो तत्त्वों के इस संयोग में वियोग होगा। जिस क्षण भी इसका वियोग होता है उसी क्षण व्यक्ति या जीव की मृत्यु हो जाती है। दर्शनशास्त्र जहाँ शरीर की रचना को पाँच तत्त्वों का संयोग मानता है, वहीं विज्ञान भी शरीर को भिन्न-भिन्न भौतिक एवं रासायनिक तत्त्वों से मिलकर बना मानता है। वैज्ञानिकों के अनुसार इन तत्त्वों में एक सन्तुलन बना रहता है। इन तत्त्वों के सन्तुलन में जब किसी तरह का बदलाव होता है तो एक प्रकार का विक्षोभ उत्पन्न होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। यद्यपि शरीर इस सन्तुलन को बनाए रखने का प्रयास करता है, लेकिन जब विक्षोभ ज्यादा हो जाता है और शरीर तत्त्वों के संयोग के सन्तुलन को कायम नहीं रख पाता है, उसी क्षण उस शरीरधारी जीव की मृत्यु हो जाती है। तत्त्वों में यह असन्तुलन कभी न कभी अवश्य उत्पन्न होता है। इस रूप में मृत्यु का होना भी अवश्यंभावी है। संसार की भौतिक वस्तुओं का जिस तरह से नाश होता रहता है, उसी प्रकार से भौतिक तत्त्वों से निर्मित जीवों के शरीर का भी नाश होता रहता है। सांसारिक पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश का क्रम निर्बाध गति से चलता रहता है। इसी तरह से जन्म-मरण का भी क्रम अपनी निर्बाधता को बनाए रखता है अर्थात् मृत्यु अपरिहार्य है।

मृत्यु की अपरिहार्यता को जानकर व्यक्ति को अपने शरीर, धन-सम्पत्ति आदि से जो ममत्व है उसका त्याग कर देना चाहिए। उसे अपना जीवन निर्लिप्त भाव से व्यतीत करना चाहिए। अपने मन में ऐसा विचार करना चाहिए कि संसार की सभी वस्तुएं नश्वर हैं, कोई भी वस्तु अनादि व शाश्वत नहीं है। कभी न कभी उनका विनाश होगा ही। यह कभी भी किसी के पास स्थायी रूप से नहीं रह सकता है। अत: अशाश्वत, छूट जानेवाली वस्तु से किसी प्रकार का मोह करना व्यर्थ है। व्यावहारिक रूप में भी देखा जाता है कि जो वस्तु छूटनेवाली होती है, अपने पास नहीं रह सकती है उसके प्रति व्यक्ति मोह नहीं रखता है। अत: व्यक्ति को ऐसा विचार करके जीवनमृत्यु के भय से मुक्त होकर जीवन-यापन करना चाहिए। अगर वह निर्लिप्तता का भाव रख लेता है तो जीवन-मरण के प्रति उसे सुख-दु:ख का बोध ही नहीं रहता है।

मरण के विविध प्रकार

जन्म और मरण दो ऐसे विषय हैं जिन पर अनादिकाल से ही चिन्तन किया जा रहा है। विभिन्न जैनग्रन्थों में मृत्यु के स्वरूप पर विस्तृत विवरण उपलब्ध है। मृत्यु के स्वरूप की चर्चा करते हुए उनमें इसके विभिन्न प्रकारों पर भी प्रकाश डाला गया है। यहाँ हम जैनग्रन्थों के आधार पर मरण के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करेंगे।

उत्तराध्ययन में मरण के दो प्रकारों का विवरण मिलता है। वे दो प्रकार हैं[३६]- (१) अकाममरण और (२) सकाममरण।

अकाममरण - अज्ञानतावश विषय-वासनाओं व भोगों में रत रहना, धर्म का उल्लंघन कर अधर्म को स्वीकार करना तथा मिथ्या जगत को सत्य समझकर हमेशा मृत्यु के भय से भयभीत रहना आदि गुण बालजीव के हैं। इन जीवों के मरण को ही अकाममरण या बालमरण कहा जाता है। बाल शब्द का अर्थ मूर्ख, मूढ़ आदि होता है। मृत्यु की शाश्वत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्यता को जानते हुए भी मृत्यु के उपस्थित होने पर उसे अस्वीकार करना ही बालमरण (अकाममरण) है। यहाँ अकाम शब्द उद्देश्यहीन का बोधक माना गया है।

सकाममरण - सकाममरण का सामान्य अर्थ होता है कामना सहित मरण। किन्तु यहाँ सकाम शब्द का यह अर्थ अभीष्ट नहीं है। यहाँ सकाम शब्द का अर्थ है- उद्देश्यपूर्वक या साधनापूर्वक मृत्यु का वरण। इसमें मृत्यु का वरण समभावपूर्वक किया जाता है। मृत्यु के समय व्यक्ति किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करता है, अपितु उसकी आत्मा जाग्रत एवं सजग रहती है। यह मरण पंडित जीवों को प्राप्त होता है। इस कारण इसे पंडितमरण भी कहा जाता है। पंडित शब्द का अर्थ ज्ञानी, सत्य को समझनेवाला आदि से है।

मूलाचार- में आचार्य वट्टकेर ने मरण के विविध रूपों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार मुख्यरूप से मरण के तीन भेद हैं[३७]- (१) बालमरण, (२) बालपंडितमरण और (३) पंडितमरण।

बालमरण- असंयत सम्यग्दृष्टि जीव को बाल कहा जाता है। ऐसे बाल जीवों का मरण बालमरण कहलाता है।

बालपंडितमरण - संयतासंयत जीव बालपंडित कहे जाते हैं। एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से विरत नहीं रहने के कारण ये बाल हैं तथा द्वीन्द्रिय जीवों की हिंसा से अलग रहने के कारण ये पंडित कहे जाते हैं। इस प्रकार के जीवों के मरण को बालपंडितमरण कहते हैं।

पंडितमरण - पंडितों का मरण अर्थात् देहत्याग अथवा शरीर का अन्यथारूप होना पंडितमरण है, इसके द्वारा केवल शुद्ध ज्ञान के धारक केवली भगवान् संयतमरण करते हैं। यहाँ संयत शब्द से छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक संयत विवक्षित है। यद्यपि केवली भगवान् के मरण को पंडित पंडितमरण कहते हैं, किन्तु यहाँ पर पंडितमरण में ही उसका अन्तर्भाव कर लिया गया है, क्योंकि संयम के स्वामी में सामान्यत: भेद नहीं है। चूँकि संयत जीव पंडित कहे जाते हैं, अत: संयत जीवों का जो मरण होता है, वह पण्डितमरण कहलाता है। यह मरण "केवल शुद्ध ज्ञान" के धारक केवली भगवान् करते हैं, क्योंकि केवली भगवान् सभी तरह के ज्ञान से पूर्ण होते हैं। पंडित शब्द यहाँ ज्ञानी के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। *समाधिमरणोत्साहदीपक* में मरण के सात प्रकारों का उल्लेख मिलता है[३८] —

(१) बाल-बालमरण, (२) बालमरण, (३) बालपण्डितमरण, (४) भक्तप्रत्याख्यान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पण्डितमरण (५) इंगिनीपंडितमरण, (६) प्रायोपगमन पंडितमरण तथा (७) पंडित-पंडितमरण। इनमें भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रयोपगमन ये तीन पण्डितमरण के प्रकार हैं।

(१) बाल-बालमरण- यह मरण मिथ्यादृष्टि जीव को होता है। मिथ्यादृष्टि का अर्थ होता है सांसारिक जीवन को सत्य मानना। इस मरण के कारण ही जीवों के जन्म-मरण की शृंखला बढ़ती है। ये बालजीव पाँच प्रकार के होते हैं[३९] -

(क) अव्यक्त बाल -इस तरह के बाल जीवों का शरीर धर्म, अर्थ, कामादि पुरुषार्थों को करने में असमर्थ होता है। वस्तुतः ये अविकसित जीव होते हैं।

(ख) व्यवहार बाल - ऐसे बाल जीव लौकिक एवं शास्त्रीय व्यवहार को नहीं जानते हैं।

(ग) दर्शन बाल - ऐसे बाल जीव तत्त्व श्रद्धान् से रहित मिथ्यादृष्टि होतें हैं।

(घ) ज्ञान बाल- ऐसे बाल जीव भेद-विज्ञान या सम्यग्ज्ञान से रहित होते हैं।

(ङ) चारित्र बाल - ऐसे बाल जीव सम्यक्-चारित्र से रहित अर्थात् अव्रती होते हैं।

(२) बालमरण- वे जीव जो सम्यग्दर्शन से तो युक्त हैं, परन्तु सम्यक्-चारित्र से युक्त नहीं होते हैं। ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के मरण को बालमरण कहते हैं।[४०]

समाधिमरणोत्साहदीपक में बालमरण का जो निरूपण किया गया है वह *उत्तराध्ययन* से भिन्न प्रतीत होता है, क्योंकि *उत्तराध्ययन* में पूर्णतः बाल जीव के मरण का उल्लेख किया गया है जबकि *समाधिमरणोत्साहदीपक* में बालमरण पूर्ण अज्ञानी जीव का नहीं माना गया है। यहाँ जीव को सम्यग्दर्शन से युक्त माना गया है, लेकिन सम्यक्-चारित्र से भ्रष्ट।

(३) बालपंडितमरण[४१] - देशव्रतों के धारक श्रावकों को बालपण्डित कहा जाता है। ऐसे श्रावक सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा ज्ञानी हैं, लेकिन उनका चारित्र अणुव्रत रूप होने से अल्प या बाल ही होता है। अतः ऐसे बालपण्डित जीवों के मरण को ही बालपंडितमरण कहते हैं।

(४) भक्तप्रत्याख्यानमरण[४२] - चारों प्रकार के आहार का त्याग करके प्राण त्यागने को भक्तप्रत्याख्यानमरण कहते हैं । इस मरण को स्वीकार करनेवाला जीव (बहुधा पंडित जीव) मृत्यु की प्रतीक्षा काल में अपने शरीर की देखभाल स्वयं भी करता है और दूसरों के द्वारा भी करवाता है या करवा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(५) इंगिनीमरण[४३] - इसमें भी आहार त्यागकर प्राण-विसर्जन किया जाता है। लेकिन इस मरण को स्वीकार करनेवाला जीव अपने शरीर की सेवा स्वयं करता है, दूसरों से नहीं करवाता है।

(६) प्रायो (पादो) पगमनमरण[४४] - इस मरण को स्वीकार करनेवाला जीव अपनी सभी क्रियाओं का निरोध करके अचल भाव से एक स्थान पर अवस्थित रहकर अपने प्राण का त्याग करता है। वह न तो स्वयं अपने शरीर की सेवा करता है और न दूसरों से ही करवाता है।

(७) पण्डित-पण्डितमरण[४५] - केवल ज्ञानियों अर्थात् वीतराग एवं सर्वज्ञ के मरण को पंडित-पंडितमरण कहा जाता है। पंडित-पंडितमरण जीव एक ही बार करता है, क्योंकि इसके पश्चात् वह जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त हो जाता है।

समाधिमरणोत्साहदीपक में वर्णित इन सात प्रकार के मरणों में से बाल-बालमरण और बालमरण को अशुभ माना गया है। बालपंडितमरण, पंडितमरण एवं इसके तीन भेदों तथा पंडित-पंडितमरण को शुभ माना गया है। इन शुभ मरणों में पंडित-पंडितमरण परम शुभ है, पंडितमरण मध्यम कोटि का शुभ है, जबकि बालपंडितमरण जघन्य शुभ है।[४६] इस तरह से इस ग्रन्थ में उत्तम शुभ,मध्यम शुभ तथा जघन्यशुभ के रूप में मरण के विभेद किए गये हैं। ग्रन्थकार ने मरण के इन तीन भेदों द्वारा व्यक्ति को पंडितमरण नामक शुभ मरण प्राप्त करने का परामर्श दिया है।[४७]

व्याख्याप्रज्ञप्ति एवं *स्थानांग* में प्रारम्भ में मरण के दो विभेद किए गए हैं, तत्पश्चात् पुन: उनका विभाजन किया गया है। इस सभी विभाजनों को जोड़ने पर दोनों आगमों में मरण के कुल प्रकारों की संख्या चौदह हो जाती है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में मरण के दो भेद हैं[४८] - बालमरण और पंडितमरण, जबकि *स्थानांग* के अनुसार मरण के दो प्रकार हैं[४९]- अप्रशस्तमरण और प्रशस्तमरण। पुन: बालमरण एवं अप्रशस्तमरण के बारह-बाहर प्रकार बताए गए हैं तथा पंडित एवं प्रशस्त मरण के दो प्रकार। इस प्रकार *भगवती* एवं *स्थानांग* में मरण के चौदह भेद मिलते हैं। *उत्तराध्ययननिर्युक्ति* की व्याख्या के अनुक्रम में *शान्ताचार्य*[५१] ने बालमरण के १२ भेदों का उल्लेख किया है, जो निम्न हैं-

(क) अप्रशस्त मरण- यह मरण कषाय (तीव्र) के आवेश में होता है। इसके बारह प्रकार हैं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) बलन्मरण- परिषहों से पीड़ित होने पर संयम त्याग करके मरना।

(२) वशार्त्तमरण - इन्द्रिय-विषयों के वशीभूत होकर मरना।

(३) निदानमरण -भावी जीवन में धन, वैभव, भोग आदि की प्राप्ति की इच्छा रखते हुए मरना।

(४) तद्भवमरण - मरकर उसी भव में पुन: उत्पन्न होना और मरना।

(५) गिरिपतनमरण- पर्वत से गिरकर मरना।

(६) तरुपतनमरण - वृक्ष से गिरकर मरना।

(७) जलप्रवेशमरण- नदी में बहकर या जल में डूबकर मरना ।

(८) अग्निप्रवेशमरण - आग में झुलसकर मरना।

(९) विषभक्षणमरण - विषपान करके मरना ।

(१०) शस्त्रावपाटनमरण - शस्त्र की सहायता से मरना।

(११) वैहायसमरण - फांसी की रस्सी में झूलकर मरना।

(१२) गिद्धपट्ठ या गृद्धस्पृष्टमरण - विशालकाय मृत पशु के शरीर में प्रवेश करके मरना।

(ख) प्रशस्त मरण - तीव्र कषाय के आवेश से रहित होकर तथा समभावपूर्वक मरण प्राप्त करना प्रशस्तमरण कहलाता है। इसके दो भेद हैं-[५२]

(१) भक्तप्रत्याख्यानमरण - भक्त-पान (आहार-जल) का क्रम से त्याग करते हुए समाधिपूर्वक प्राणत्याग करने को भक्तप्रत्याख्यानमरण कहते हैं। इस मरण में व्यक्ति दूसरों द्वारा की गई वैयावृत्य को स्वीकार करने के साथ-साथ स्वयं भी अपने शरीर की देखभाल करता है।

(२) प्रायोपगमनमरण - कटे हुए वृक्ष के समान निश्चेष्ट पड़े रहकर प्राणत्याग ने को प्रायोपगमनमरण कहते हैं। इस मरण को स्वीकार करनेवाला व्यक्ति ने तो स्वयं अपनी वैयावृत्य (सेवा -सुश्रुषा) करता है और न किसी अन्य से करवाता है।

भक्तप्रत्याख्यान एवं प्रायोपगमन दोनों ही प्रकार के मरण को उत्तम माना गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन दोनों ही प्रकार के मरण के निर्हारिम एवं अनिर्हारिम जैसे दो उपविभाग हैं।[५३] निर्हारिम- मरण स्थान से मृत शरीर को बाहर ले जाना या हटा देना। अनिर्हारिम- मरण स्थान से मृत शरीर को बाहर नहीं लाना, उसे वहीं पड़े रहने देना।

श्वेताम्बर परम्परा में *समवायांग* तथा दिगम्बर (यापनीय) परम्परा में *भगवती आराधना* में मरण के विविध प्रकार का उल्लेख मिलता है। दोनों ही परम्पराओं से सम्बन्धित ग्रन्थों में मरण के सत्तरह-सत्तरह प्रकारों का विवेचन किया गया है।

समवायांग के अनुसार[५४]- (१) अवीचिमरण, (२) अवधिमरण, (३) आत्यन्तिकमरण, (४) बलन्मरण, (५) वशार्त्तमरण, (६) अन्तः शल्यमरण, (७) तद्भवमरण, (८) बालमरण, (९) पंडितमरण, (१०) बालपंडितमरण (११) छद्मस्थमरण, (१२) केवलीमरण, (१३) वैहायसमरण (१४) गृद्धस्पृष्टमरण, (१५) भक्तप्रत्याख्यानमरण, (१६) इंगिनीमरण, (१७) पादपोपगमनमरण।

भगवती आराधना के अनुसार[५५] - (१) अवीचिमरण, (२) तद्भवमरण, (३) अवधिमरण, (४) आद्यन्तमरण, (५) बालमरण, (६) पंडितमरण, (७) आसण्णमरण, (८) बालपंडितमरण, (९) सशल्लमरण, (१०) बलायमरण, (११) वसट्टमरण, (१२) विप्पाणसमरण, (१३) गिद्धपुट्ठमरण, (१४) भक्तप्रत्याख्यानमरण, (१५) इंगिनीमरण, (१६) प्रायोपगमनमरण और (१७) केवलीमरण।

समवायांग एवं *भगवती आराधना* में मरण के इन सत्तरह प्रकारों में सामान्य तौर पर समानता ही दृष्टिगोचर होती हैं। लेकिन कहीं-कहीं कुछ प्रकारों में नामों व उनकी क्रम संख्या में कुछ विभिन्नता भी दिखाई देती है। उदाहरणस्वरूप भगवती आराधना में अवधिमरण के दो स्पष्ट विभाजन (१) देशावधिमरण और (२) सर्वावधिमरण मिलते हैं। लेकिन *समवायांग* में अवधिमरण का इस तरह स्पष्ट विभाजन नहीं है। हां ! यह और बात है कि इन दोनों तरह के मरणों के अन्तर का स्पष्टीकरण भी समवायांग में अवश्य मिलता है। *समवायांग* में छद्मस्थमरण का उल्लेख है, लेकिन भगवती आराधना में इस नाम के मरण का विवरण नहीं मिलता है। *भगवती आराधना* में आसण्णमरण की चर्चा है, जिसका उल्लेख समवायांग में नहीं है। इन विभिन्नताओं के अतिरिक्त कोई अन्य अन्तर मरण को लेकर इन दोनों ग्रन्थों में स्पष्टतः नहीं मिलता है। *समवायांग* एवं *भगवती आराधना* के आधार पर मरण के इन प्रकारों का विवेचन निम्न है-

(१) अवीचिमरण - आयु के अनुभव (उदय) को जीवन कहते हैं। आयु का उदय प्रतिक्षण होता रहता है। इसी प्रकार आयु के क्षीण या भंग को मरण कहते हैं। आयु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का उदय तथा क्षय प्रत्येक क्षण होता रहता है। प्रत्येक क्षण होनेवाले मरण को ही अवीचिमरण कहा जाता है।[५६] *समवायांग*[५७] के अनुसार भी प्रति समय होनेवाला मरण अवीचिमरण है। पुन: इसके अनुसार जिस मरण में कोई विच्छेद या व्यवधान न हो उसे अवीचिमरण कहते हैं।

इस तरह से हम देखते हैं कि दोनों ही ग्रन्थों में अवीचिमरण का अर्थ प्रतिक्षण होनेवाला मरण ही कहा गया है। अत: दोनों ग्रन्थों में अवीचिमरण की अवधारणा है।

(२) तद्भवमरण- *भगवती आराधना* के अनुसार भवान्तर प्राप्तिपूर्वक उसके अनन्तर पूर्ववर्ती भव का विनाश तद्भवमरण कहलाता है। तद्भवमरण जीव ने अनन्त बार किया है। यह तद्भवमरण दुर्लभ नहीं है,[५८] क्योंकि अनेक जीव जिस योनि या गति का त्याग कर मरते हैं, वे पुन: उसी गति में उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे-मनुष्य का रूप पाकर पुन: मनुष्य रूप में जन्म लेना। *समवायांग*[५९] में तद्भवमरण पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जो जीव वर्तमान भव में जिस आयु का भोग कर रहा है, उसी भव के योग्य आयु को बांधकर यदि मरण करता है तो वह तद्भवमरण कहलाता है। यह मरण मनुष्य या तिर्यंच गतिवाले जीवों को ही प्राप्त होता है। देव या नारकों को यह मरण प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि ऐसा नियम है कि देव या नारकी मरकर पुन: देव या नारकी नहीं हो सकते हैं। उनका जन्म तो मनुष्य या तिर्यंच पंचेन्द्रियों में ही होता है।

(३) अवधिमरण- जीव वर्तमान में जैसा मरण प्राप्त करता है यदि आगामी भव में उसी प्रकार का मरण प्राप्त करेगा तो ऐसे मरण को अवधिमरण कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है[६०]- (क) देशावधिमरण - वर्तमान में जैसी आयु का उदय होता है वैसी ही यदि एक देशबन्ध कर जीव मरण को प्राप्त करता है तो वह देशावधिमरण कहलाता है। (ख) सर्वावधिमरण- वर्तमान में जो आयु जैसी प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशों को लेकर उदय में आ रहा है, वैसी ही प्रकृति आदि को लिए हुए यदि पुन: आयुबन्ध करता है और उसी प्रकार भविष्य में उदय होता है तो उसे सर्वावधिमरण कहते हैं।

समवायांग[६१] के अनुसार कोई जीव वर्तमान भव की आयु को भोगता हुआ आगामी भव की भी उसी आयु को बांधकर मरे और आगामी भव में भी यदि उसी आयु को भोगकर मरता है, तो ऐसे जीव के वर्तमान भव के मरण को अवधिमरण कहा जाता है। अर्थात् जो जीव आयु के जिन दलिकों का अनुभव करके मरता है, यदि पुन: उन्हीं दलिकों का अनुभव करते हुए मरे तो वह मरण अवधिमरण कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) आद्यन्तमरण -वर्तमान मरण यदि भावीमरण से असमान होता है तो वह मरण आद्यन्तमरण है। वर्तमान में जिस प्रकार की प्रकृति, स्थिति, अनुभव, आयु आदि द्वारा मरण होता है यदि एक देश या सर्वदेश से उस प्रकार का मरण नहीं होता तो वह आद्यन्तमरण कहलाता है।[६२]

समवायांग के अनुसार जो जीव नारकादि के वर्तमान आयुकर्म के दलिकों को भोगकर मरता है और मर कर भविष्य में उस आयु को भोगकर नहीं मरता, ऐसे जीव के वर्तमान भव के मरण को आत्यन्तिकमरण (आद्यन्तमरण) कहा जाता है।[६३]

(५) बालमरण - बाल अर्थात् अज्ञानी, अबोध, मिथ्यादृष्टि, असंयमी आदि के मरण को बालमरण कहा जाता है।[६४] *समवायांग* में अव्यक्त या अविरत जीव को बाल कहा गया है। अत: अविरत, अव्यक्त, असंयमी आदि जीवों का जो मरण होता है, उसे बालमरण कहते हैं। प्रथम गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान तक के जीवों का मरण बालमरण कहलाता है।[६५]

(६) पंडितमरण- ज्ञान, दर्शन, चारित्र से युक्त जीव पंडित कहलाते हैं। ऐसे जीवों के मरण को पंडितमरण कहते हैं। चार प्रकार के पंडित जीव होते हैं[६६]-

(क) व्यवहारपंडित- लोक, वेद और समय के व्यवहार में निपुण जीव व्यवहारपंडित कहलाते हैं। अत: इनके मरण को व्यवहारपंडितमरण कहते हैं।

(ख) दर्शनपंडित - क्षायिक, क्षयोपशमिक या औपशमिक सम्यग्दर्शन से युक्त जीव दर्शनपंडित कहलाते हैं। ऐसे जीवों के मरण को दर्शनपंडितमरण कहते हैं।

(ग) ज्ञानपंडित- मति आदि पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञान से युक्त जीव ज्ञानपंडित कहलाते हैं। अत: इनके मरण को ज्ञानपंडितमरण कहते हैं।

(घ) चारित्रपंडित- सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय, यथाख्यातचारित्र में से किसी एक से युक्त होनेवाले जीव चारित्रपंडित कहलाते हैं। ऐसे जीवों के मरण को चारित्रपंडितमरण कहते हैं।

समवायांग में पंडितमरण पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि संयमी सम्यग्दृष्टि जीव पंडित कहलाता है। ऐसे जीवों के मरण को ही पंडितमरण कहते हैं। छठे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान से युक्त जीवों का मरण पंडितमरण कहलाता है।[६७]

(७) ओसण्णमरण - निर्वाण-मार्ग से विचलित हो जानेवाले संयमियों को जब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है तो वे ओसण्ण कहलाते हैं। ऐसे ही संघ से बहिष्कृत संयमियों का मरण ओसण्णमरण है। ओसण्णमरण करनेवाले जीवों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और संसक्त जीव ओसण्ण कहलाते हैं,क्योंकि ये मोक्ष के लिए प्रस्थान करनेवाले श्रमण संघ से बहिष्कृत होते हैं।[६८]

(८) बालपंडितमरण - सम्यग्दृष्टि संयतासंयत जीव के मरण को बालपंडितमरण कहा गया है। स्थूल हिंसा आदि से विरत रहने के कारण ये जीव दर्शन और देशचारित्र से पंडित होते हैं, लेकिन सूक्ष्म असंयम से युक्त होने के कारण ये बाल भी होते हैं। अत: ये बालपंडित जीव कहलाते हैं और इनका मरण बाल पंडितमरण[६९] कहलाता है।

समवायांग में बालमरण पर चर्चा करते हुए कहा गया है- देशसंयमी पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावकवर्ती जीव (मनुष्य) या तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव के मरण को बालपंडित मरण कहते हैं।[७०]

(९) सशल्यमरण - विभिन्न प्रकार के दोषों से युक्त मनवाले जीव अपने दोषों की आलोचना किए बिना ही मरण करते हैं, उनके मरण को ही सशल्यमरण के नाम से अभिहित किया जाता है। यह मरण संयत, संयतासंयत और अविरत सम्यग्दृष्टि का होता है।[७१] दोष विभिन्न प्रकार के हैं- मोक्षमार्ग का दोष लगना, मिथ्यामार्ग का कथन करना, मान कषाय से प्रेरित होकर अच्छे कुल की कामना करना, क्रोधावेश से प्रेरित होकर शत्रु के अहित की कामना करना, व्रत के फल के रूप में इस भव और पर भव में अच्छे भोग की प्राप्ति की कामना करना आदि।

समवायांग[७२] में सशल्यमरण को ही अन्त:शल्यमरण माना गया है। इसके अनुसार मन के भीतर किसी प्रकार का शल्य (विषयवस्तु) रखकर मरनेवाले जीव के मरण को अन्त:शल्यमरण (सशल्यमरण) कहते हैं। उदाहरणस्वरूप कोई संयमी पुरुष अपने व्रतों में लगे हुए दोषों का लज्जा, अभिमान आदि के कारण बिना आलोचना किए ही मरण करता है तो उसके मरण को सशल्यमरण कहा जाता है।

(१०) बलायमरण (वलन्मरण) - विषय-वासनाओं से मुक्त व्यक्ति बहुत काल से रत्नत्रय का पालन करता आ रहा हो, लेकिन मरते समय उसका ध्यान विषय-वासनाओं की ओर आ जाता है और शुभ ध्यान से चूक जाता है तो ऐसे व्यक्ति के मरण को बलायमरण कहते हैं। अत: दर्शनपंडित, ज्ञानपंडित, चारित्रपंडित का भी बलायमरण सम्भव है।[७३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समवायांग में बलायमरण पर इस तरह से प्रकाश डाला गया है[७४]- संयम, व्रत, नियमादि धारण किए हुए धर्म से च्युत या पतित होते हुए अव्रत दशा में मरनेवाले जीवों के मरण को बलन्मरण (बलायमरण) कहते हैं।

(११) वसट्टमरण (वशार्त्तमरण)-इन्द्रिय-विषय-वासनाओं से बुरी तरह प्रभावित होकर जीव का जो मरण होता है वह वसट्टमरण कहलाता है अर्थात् आर्त एवं रौद्रध्यानपूर्वक मरण को वसट्टमरण कहते हैं[७५]।

समवायांग में वसट्टमरण पर चर्चा की गई है। इस ग्रन्थ के अनुसार[७६]- इन्द्रिय-विषय-वासनाओं के वश में होकर मरनेवाले जीवों के मरण को वशार्त्तमरण कहते हैं। इन्द्रिय-विषय-वासनाओं के कारण जीव को पीड़ा होती है, लेकिन वह इस पीड़ा से पीड़ित होकर भी वासनाओं के अधीन ही मरण करता है। जैसे- रात में कीट-पतंगे दीप की ज्योति से आकृष्ट होकर जलकर मरते हैं, उसी प्रकार किसी भी इन्द्रिय के विषय से पीड़ित होकर मरना वसट्टमरण है।

(१२) विप्पाणसमरण (वैहायसमरण)- उपसर्ग (देवकृत या मनुष्यकृत) अपरिहार्य स्थिति न टलनेवाला संकट आदि उपस्थित हो जाए और जीव (व्यक्ति) को यह ज्ञात हो जाए कि उपस्थित संकटापन्न स्थिति से बचना सम्भव नहीं है, उसके धर्म नष्ट होने की स्थिति उत्पन्न हो जाए तो धर्म की रक्षा के लिए व्यक्ति श्वास रोककर जो मरण करता है वह विप्पाणस (विप्रणाश) मरण कहलाता है।[७७]

ऐसा प्रतीत होता है की *भगवती आराधना* में वर्णित विप्पाणसमरण *समवायांग* में वर्णित वैहायसमरण के समकक्ष है। *समवायांग* के अनुसार फांसी लगाकर जो मरण किया जाता है, वह वैहायसमरण कहलाता है।[७८] चूँकि फांसी लगाने की प्रक्रिया में भी व्यक्ति का श्वास अवरूद्ध हो जाता है और उसकी मृत्यु हो जाती है।

(१३) गृद्धपुट्ठमरण - उपसर्गादि तथा संकटापन्न अवस्था में धर्म की रक्षा के लिए शस्त्र की सहायता से जो मरण किया जाता है वह गृद्धपुट्ठमरण कहलाता है[७९]।

समयवांग में गृद्धपुट्ठमरण का अर्थ *भगवती आराधना* से भिन्न है। इस ग्रन्थ के अनुसार गृद्धपुट्ठ के दो रूप बतलाए गए हैं[८०]-

गृद्धस्पृष्टमरण - गिद्ध, चील, पंक्षियों के द्वारा जिसका मांस नोंच-नोंच कर खाया जा रहा हो, ऐसे जीव (व्यक्ति) के मरण को गृद्धस्पृष्टमरण कहा जाता है।

गृद्धपृष्ठमरण-मरे हुए हाथी, ऊँट आदि के शरीर में प्रवेश कर अपने शरीर को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गिद्धों आदि का भक्ष्य बनाकर मरनेवाले जीवों के मरण को गृद्धपृष्ठमरण कहा जाता है।

भक्तप्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण एवं प्रायोपगमनमरण की चर्चा *भगवती आराधना* एवं *समवायांग* के आधार पर यहाँ नहीं की जा रही है। इनकी विधि तथा अन्य सभी विशेषताएं सभी ग्रन्थों में प्राय: समान ही है। *समाधिमरणोत्साहदीपक* के आधार पर इन तीनों प्रकार के मरण पर प्रकाश डाला जा चुका है।

(१७) पंडित-पंडितमरण - व्यवहार, सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र में जो पंडित हैं, उन्हें पंडित कहते हैं। पंडित के चार भेद हैं जिनकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। इन चार प्रकार के पण्डित के मध्य में जिनका पण्डित्य, ज्ञान, दर्शन और चारित्र में अतिशयशाली है, उन्हें पण्डित-पण्डित कहते हैं। ऐसे जीव के मरण को पंडित-पंडितमरण कहते हैं।[८१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मरण के मुख्य रूप से दो ही प्रकार हैं- **१.** विवेकसहितमरण और **२.** विवेकही-नमरण। मरण के इन्हीं दोनों भेदों का उपविभाग करते-करते कहीं इनकी संख्या दो मानी गई है, कहीं पाँच और किसी-किसी ग्रंथ में इसके १४ भेद कर दिए गए हैं, तो किसी में इसके १७ प्रकार भी मिलते हैं। वस्तुत: मरण के ये भेद मृत्यु ग्रहण की जानेवाली विभिन्न प्रकार की विधियों पर आधारित हैं।

समाधिमरण और आत्महत्या में अन्तर

समाधिमरण और आत्महत्या दोनों ही में स्वेच्छापूर्वक देहत्याग किया जाता है। इसी कारण सामान्य व्यक्ति समाधिमरण और आत्महत्या को एक समझ लेते हैं। वस्तुत: ऐसी बात नहीं है। समाधिमरण और आत्महत्या में मूलभूत अन्तर है।

जहाँ व्यक्ति मुख्य रूप से अपनी समस्याओं से ऊबकर मन की सांवेगिक अवस्था से ग्रसित होकर आत्महत्या करता है, वहीं समाधिमरण में व्यक्ति मन की सांवेगिक अवस्थाओं से पूरी तरह मुक्त होकर समभावपूर्वक मृत्यु का वरण करता है।

आत्महत्या व्यक्ति क्यों करता है ? इस प्रश्न पर थॉमस जी मसारक ने अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं- व्यक्ति अपनी समस्याओं से घिरा रहता है, वह उन समस्याओं से मुक्त होना चाहता है, इसके लिए वह अथक प्रयास करता है, लेकिन जब वह इन समस्याओं से मुक्त नहीं हो पाता है तो आत्महत्या या प्राणघात करके समस्याओं से छुटकारा पा लेता है। आत्महत्या किन-किन परिस्थितियों एवं समस्याओं के कारण किया जाता है, इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं-- व्यक्ति प्राकृतिक तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भौतिक संसाधनों के कारण उत्पन्न समस्याओं से बचने के लिए ही आत्महत्या करता है। **प्राकृतिक कारण**- उस स्थान विशेष या देश विशेष का मौसम, वातावरण (गर्मी, सर्दी, आर्द्रता) आदि। **भौतिक संसाधन** के कारण हैं- शारीरिक अक्षमता, सामाजिक कारण, राजनीतिक कारण, राष्ट्रीय कारण तथा आर्थिक कारण आदि। इन समस्त कारणों से उत्पन्न समस्याओं की पूर्ति नहीं कर पाने के कारण और उससे बचने के लिए ही व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है।[८२]

डॉ० उपेन्द्र ठाकुर विभिन्न विद्वानों के चिन्तन के आधार पर आत्महत्या के कारण और अवस्थाओं का चित्रण अपनी पुस्तक "द हिस्ट्री ऑफ स्यूसाईड" में करते हैं। वे लिखते हैं कि व्यक्ति निम्न परिस्थितियों में आत्महत्या के संबंध में विचार करता है अथवा आत्महत्या कर लेता है । उनके अनुसार ये परिस्थितियाँ इस प्रकार की हो सकती हैं-[८३] आत्महत्या व्यक्ति मुख्य रूप से मन की भावनाओं के आवेश में आकर करता है। उसके समक्ष कई तरह की समस्याएं आ जाती हैं। इन समस्याओं की पूर्ति के लिए वह शक्ति भर प्रयास करता है। लेकिन समस्याओं की पूर्ति न होने के कारण उसके मन में क्षोभ, ग्लानि, अपमान, पश्चाताप आदि विभिन्न तरह की भावनाएं उत्पन्न होने लगती हैं। इन्हीं समस्त भावनाओं के आवेग के वशीभूत होकर वह अपना प्राणघात कर लेता है अर्थात् आत्महत्या कर लेता है । इन समस्याओं के अतिरिक्त व्यक्ति कभी-कभी धार्मिक भावावेश में भी आत्महत्या कर लेता है।

श्री तूकोल के अनुसार[८४]- व्यक्ति आत्महत्या, मानसिक, शारीरिक, सामाजिक, व्यक्तिगत कष्टों से ग्रस्त होने पर करता है। किसी भी व्यक्ति के समक्ष व्यक्तिगत समस्याओं में परिवार, विवाह, प्रेम, रोजी-रोटी, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-मिलन, शारीरिक दुर्बलता आदि की समस्याएं होती हैं। एक ओर सामाजिक स्तर पर समाज में अपना उच्च स्थान कायम रखने की, अधिक धन-दौलत कमाने की, यश पाने की कामना रहती है तो दूसरी ओर अपमान, ग्लानि, क्षोभ से बचने की भी लालसा रहती है। कभी-कभी व्यक्ति के समक्ष राजनीतिक समस्या भी मुँह बाये खड़ी रहती है। प्रत्येक व्यक्ति देश का सम्मान, देश के सर्वोच्च पद पाने की लालसा आदि समस्त समस्याओं का निदान करना चाहता है। यदि यह सम्भव होता है तो ठीक है, अन्यथा व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है।

युवाचार्य महाप्रज्ञ (वर्तमान आचार्य) के अनुसार व्यक्ति आत्महत्या किसी तरह के आवेश, आवेग या उत्तेजना के वशीभूत होकर करता है। इस अवस्था में व्यक्ति पहाड़ से लुढ़ककर, वृक्ष से गिरकर, आत्मदाह, विषपान आदि बाह्य विधियों की सहयाता से आत्मघात करता है।[८५] वर्ल्ड हेल्थ आरगेनाइजेशन (World Health Organisation) ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्महत्या के कारणों पर प्रकाश डालते हुए इसमें अपनाने वाली विधियों पर भी व्यापक चर्चा की है। उनके अनुसार व्यक्ति ऊँचाई से कूदकर, जल समाधि लेकर, गाड़ी के नीचे दबकर, गोली मारकर, विषपान करके, आदि विधियों की सहायता से आत्महत्या करता है। आत्महत्या करते वक्त व्यक्ति की मानसिक स्थिति ठीक नहीं रहती है। उस समय व्यक्ति के सोचने समझने की शक्ति खत्म हो जाती है।[८६]

उपर्युक्त चिन्तन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आत्महत्या एक असामान्य व्यक्ति की मनोदशा का परिचायक है। सामान्य अवस्था में व्यक्ति देहत्याग के विषय में बात करना भी पसन्द नहीं करता है, लेकिन कुछ परिस्थितियों में वह देह का त्याग कर देता है। आत्महत्या करते वक्त व्यक्ति उत्तेजना की चरम सीमा को पार कर जाता है, क्योंकि ऐसा नहीं करने पर मोहग्रस्त होकर वह देहत्याग नहीं कर सकता है। समाधिमरण की प्रक्रिया में भी देहत्याग किया जाता है, लेकिन दोनों अवस्थाओं में किया जानेवाला देहत्याग भिन्न है। एक आवेग और आवेश युक्त अवस्था में किया जाता है तो दूसरा आवेग और आवेश मुक्त अवस्था में किया जाता है। अत: दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। इन दोनों में पाये जानेवाले अन्तरों का चित्रण जैनग्रंथों एवं आधुनिक चिन्तकों के विचारों के आधार पर किया जा सकता है।

आत्महत्या और समाधिमरण के अन्तर को स्पष्ट करते हुए *सर्वार्थसिद्धि*[८७] एवं *तत्त्वार्थवार्तिक*[८८] में कहा गया है कि आत्महत्या जहाँ व्यक्ति बलपूर्वक या अपनी आन्तरिक इच्छा के विरुद्ध करता है, वहीं समाधिमरण कभी भी बलपूर्वक नहीं कराया जाता है। वह व्यक्ति की स्वत: प्रेरणा पर निर्भर करता है। व्यक्ति निश्चय करता है कि धर्म की रक्षा के लिए समाधिमरण द्वारा देहत्याग करे या नहीं। अत: आत्महत्या और समाधिमरण का एक अन्तर यह भी है कि जहाँ आत्महत्या बलपूर्वक और जीवन की आकांक्षा रखते हुए परिस्थितिवश की जाती है वहीं समाधिमरण कभी भी बलपूर्वक या जीवन की आकांक्षा होते हुए नहीं किया जाता है।

तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार राग-द्वेष क्रोधादिपूर्वक प्राणों के नाश किए जाने को अपघात या आत्महत्या कहते हैं। लेकिन समाधिमरण में न तो राग है, न द्वेष है और न ही प्राणों के त्याग का अभिप्राय ही है। इसे ग्रहण करनेवाला व्यक्ति जीवन और मरण दोनों के प्रति अनासक्त रहता है।[८९] जीवन और मरण के प्रति अनासक्त रहने के कारण उसे न तो जीवन की आकांक्षा होती है और न ही शीघ्र मृत्यु की, अर्थात् वह जो देहत्याग करता है मात्र इस भाव से की मृत्यु अनिवार्य है, यह शरीर नष्ट होनेवाला है। इसके प्रति राग रखना व्यर्थ है। अगर यह शरीर नष्ट होनेवाला है तो इसका पालन-पोषण करने से कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाभ नहीं है। अत: इसके प्रति अनासक्त होना ही श्रेयस्कर है। जबकि आत्महत्या करनेवाले व्यक्ति के मन में इस तरह की भावना नहीं रहती है। उसके मन में मात्र यही भावना रहती है कि इस देह का त्याग करना है, वह भी शीघ्रतापूर्वक। समत्व का भाव उसके मन में नहीं रहता है। अपने तीव्र आवेग की पूर्ति के लिए ही वह देहत्याग करता है।

समाधिमरण करने के लिए काय और कषाय दोनों को ही क्षीण करना पड़ता है।[९०] क्योंकि तीव्र कषाय से युक्त होने पर व्यक्ति समत्व का भाव नहीं अपना सकता है और समत्व के अभाव में समाधिमरण सम्भव नहीं है। शरीर अगर अधिक स्वस्थ है और उसे निरंतर पोषण मिल रहा है, तो मरणकाल देर से आ सकता है। मरणकाल के देर होने से व्यक्ति अपने लक्ष्य से हट सकता है। इसके अतिरिक्त शरीर का पोषण करने का अर्थ है शरीर पर रागभाव रखना। जबकि समाधिमरण की साधना के लिए राग-द्वेष दोनों ही भावों से मुक्त रहना अनिवार्य है। यही कारण है कि स्वस्थ व्यक्ति को काय और कषाय क्षीण करने के लिए लम्बे समय तक कठिन साधना की आवश्यकता पड़ती है। काय को क्षीण करने के लिए आहारादि का त्याग करना पड़ता है । आहारत्याग करने के लिए कठिन तप आदि की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कषायों को अल्प करने के लिए कषायों से सम्बन्धित विषय-वासनाओं से मन को मुक्त करना पड़ता है। इसके लिए भी कठिन व्रत आदि की आवश्यकता होती है। लेकिन दूसरी ओर आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति काय और कषाय को क्षीण नहीं करता है। अपने मन के संवेगों से ग्रस्त होकर किसी भी बाह्य विधि की सहायता से अपने प्राण का त्याग करता है।

धर्मामृत (सागार)[९१] के अनुसार समाधिमरण देहादिक विकारों के होने पर अथवा ऐसे सुनिश्चित कारण उपस्थित होने पर जिससे कि यह देह नष्ट हो जानेवाला हो आदि अवस्था में अपने शील व्रतादि की रक्षा करते हुए सम्यक् रीति से देहत्याग करके ग्रहण किया जाता है । उस समय व्यक्ति का मन समस्त तरह के आवेशों से मुक्त रहता है। लेकिन आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति मात्र इन्हीं परिस्थितियों में ही देहत्याग नहीं करता है, वह किसी भी परिस्थिति में देहत्याग करता है। देहत्याग के पीछे,उसके मन में शील व्रतादि की रक्षा का प्रयोजन नहीं रहता है। यदि कोई प्रयोजन रहता है तो वह है मात्र अपने आवेश की शान्ति का।

आचार्य पूज्यपाद आत्महत्या एवं समाधिमरण के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं[९२]-व्यक्ति राग-द्वेष-मोह से युक्त होकर बाह्य साधनों की सहायता से आत्महत्या करता है, लेकिन समाधिमरण व्यक्ति राग-द्वेष से मुक्त होकर करता है। उस व्यक्ति के मन में किसी के प्रति न तो राग होता है और न द्वेष ही। वह अपने शरीर पर से भी ममत्व के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव का त्याग कर देता है। अत: समाधिमरण और आत्महत्या में मुख्य अन्तर है- जहाँ आत्महत्या राग-द्वेष से युक्त होती है वही समाधिमरण राग-द्वेष से मुक्त होता है।

डॉ० दरबारीलाल कोठिया के अनुसार[९३]- आत्महत्या या आत्मघात तीव्र क्रोधादि के आवेश में आकर या अज्ञानतावश शस्त्र-प्रयोग, विषभक्षण, अग्नि-प्रवेश, जल-प्रवेश, गिरि-पात आदि घातक क्रियाओं से किया जाता है, जबकि समाधिमरण में इन क्रियाओं का और क्रोधादिक आवेश का अभाव रहता है। समाधिमरण योजनानुसार शान्तिपूर्वक मरण है जो जीवन सुधार सम्बन्धी सुयोजना का एक अंग है।

फुलचन्द वरैया, जैनमित्र में लिखते हैं कि जहाँ राग-द्वेष भाव की उपस्थिति नहीं होती है, वहाँ अहिंसा है और जहाँ राग-द्वेष से युक्त भाव की उपस्थिति होती है, वहाँ हिंसा है । समाधिमरण करनेवाला व्यक्ति राग-द्वेष से मुक्त होकर वीतरागतापूर्वक देहत्याग करता है।[९४] अत: उसका देहत्याग हिंसाभाव से मुक्त होता है। लेकिन आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति राग-द्वेष से युक्त होकर देहत्याग करता है। अत: उसका यह देहत्याग हिंसा से युक्त होता है। कारण राग-द्वेष से युक्त व्यक्ति प्रमादी होता है और प्रमादवश जो प्राणघात किया जाता है वह हिंसा है।[९५] अत: समाधिमरण और आत्महत्या में एक अन्तर यह भी हुआ कि जहाँ समाधिमरण राग-द्वेष-भाव से मुक्त होने के कारण हिंसा से मुक्त होता है, वही आत्महत्या राग-द्वेष से युक्त होने के कारण हिंसा से युक्त होती है।

फूलचन्द बरैया के अनुसार समाधिमरण और आत्महत्या की विधि में भी अन्तर है। जहाँ आत्महत्या दु:ख से छुटकारा पाने की भावना से की जाती है वहीं समाधिमरण प्रीतिपूर्वक या प्रेमपूर्वक किया जाता है। व्यक्ति को जब यह भलीभाँति विदित हो जाता है कि उसका मरणकाल आ चुका है, तब वह नि:शल्य नि:कषाय भाव से जीने मरने की अभिलाषा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध आदि की आकांक्षा से रहित होकर समाधिमरण करता है।[९६] लेकिन आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति मन में विभिन्न तरह की अभिलाषा को संजोए रहता है। उसकी अभिलाषा अगर पूर्ण हो जाती है तो उसे खुशी होती है, अन्यथा दु:ख। इसी दु:ख के कारण वह अपना प्राणत्याग करता है। अत: समाधिमरण जहाँ प्रीतिपूर्वक नि:शल्य नि:कषाय भाव से किया जाता, वहीं आत्महत्या दु:खपूर्वक सशल्य और सकषाय भाव से की जाती है।

आचार्य श्री नानालाल जी महाराज समाधिमरण और आत्महत्या के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि आत्मघात या आत्महत्या व्यक्ति तीव्र संक्लेश, क्रोधादि के आवेश एवं परेशानियों के वशीभूत हताश होकर अज्ञानतावश शस्त्र-प्रयोग, विषभक्षण, अग्निप्रवेश,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जलप्रवेश, गिरिपतन आदि घातक क्रियाओं के द्वारा करता है। जबकि इन समस्त क्रियाओं तथा क्रोधादि के आवेश का समाधिमरण में सर्वथा अभाव रहता है । समाधिमरण शान्ति एवं विवेकपूर्वक देहादिक पदार्थों के प्रति ममत्व का त्याग है, जो जीवन की सम्पूर्णता का एक अंग है। समाधिमरण एक आध्यात्मिक क्रिया है जो आत्म-सुधार एवं आत्म-उत्थान का एक अन्तिम एवं सर्वोत्तम विचारपूर्ण यत्न है।[९७]

न्यायाविद् श्री तूकोल ने समाधिमरण और आत्महत्या के अन्तर पर भलीभाँति विचार किया है। उन्होंने इन दोनों के अन्तर को निम्नलिखित ढंग से व्यक्त किया है- समाधिमरण करनेवाला व्यक्ति जन्म-मरण के चक्कर से बचने के लिए तथा मोक्ष-प्राप्ति की भावना से ही देहत्याग करता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए समस्त संचित कर्मों का क्षय तथा आगे आनेवाले कर्मों को रोकना होता है। इसके लिए वह दीर्घ समय तक नाना प्रकार के तपों की साधना करता है, जिससे कि उसके कर्मों का क्षय और मन निर्मल हो जाए। लेकिन आत्महत्या व्यक्ति उस समय-विशेष की कुछ परिस्थितियों से बचने के लिए करता है। ये परिस्थितियाँ हैं- अपमान, अपराध, भावनात्मक लगाव आदि इन परिस्थितियों से बचने के लिए वह शीघ्र मृत्यु की कामना करता है। किसी प्रकार की साधना करने की अपेक्षा बाह्य विधियों की सहायता से वह अपना प्राणघात करता है।[९८]

समाधिमरण और आत्महत्या करने की परिस्थितियाँ भी भिन्न हैं। समाधिमरण व्यक्ति मात्र उन परिस्थितियों में प्रसन्नतापूर्वक करता है, जिनमें की जीवनयापन करना कठिन प्रतीत होता है। जैसे- अकाल, भूखमरी, उपसर्ग, वृद्धावस्था, असाध्य रोग आदि के कारण शरीर जर्जरित हो जाने पर धर्म रक्षार्थ व्यक्ति अपना देहत्याग करता है, लेकिन आत्महत्या किसी भी समय किसी भी परिस्थिति में की जाती है। इसके लिए अकाल, उपसर्ग, वृद्धावस्था आदि परिस्थितियाँ अनिवार्य नहीं हैं।[९९]

समाधिमरण करते समय व्यक्ति के मन में सांसारिक वस्तुओं तथा अन्य भौतिक पदार्थों के प्रति जो आसक्ति होती है उससे पूरी तरह मुक्त रहता है। मन को पूरी तरह भावावेश से मुक्त करने के लिए व्यक्ति सभी तरह के संवेगों को छोड़ देता है अर्थात् मन में उत्पन्न होनेवाले संवेगों से पूरी तरह मुक्त हो जाता है। वह राग की पूर्ण समाप्ति के लिए अपने परिवार और मित्र का त्याग करता है और ऐसा करने के लिए उनसे क्षमा माँगता है। आचार्य से अपने गुण-दोषों को कहकर उसकी आलोचना करता है। वह सभी से क्षमा मांगता है और सभी को उसके अपराध के लिए क्षमा प्रदान करता है तथा धर्म में पूर्ण आस्था व्यक्त करते हुए सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करता है।[१००] इस तरह सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करके वह समाधिपूर्वक अपना देहत्याग करता है। लेकिन आत्महत्या करनेवाला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं करता है। उसका मन सांसारिक वस्तुओं और भोग-विलासों में लगा रहता है। अपने परिवार और मित्र के प्रति उसके मन में प्रीति रहती है। इस तरह राग से युक्त होकर मन में संक्लेश रखते हुए वह अशान्त मन से अपना देहत्याग करता है। अस्तु समाधिमरण और आत्महत्या में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ समाधिमरण में शान्तभाव से, राग से मुक्त होकर देहत्याग किया जाता है, वहीं आत्महत्या में अशान्त चित्त और रागयुक्त होकर देहत्याग किया जाता है।

समाधिमरण और आत्महत्या करने के लिए जो विधि अपनायी जाती है उसमें भी अन्तर है। समाधिमरण में विषपान, फांसी, जलसमाधि आदि हिंसक प्रवृत्तियों की सहायता नहीं ली जाती है। इसके लिए व्यक्ति अनशन व्रत का सहारा लेता है। पहले वह कुछ समय के लिए अनशन करता है तथा बाद में अनशन काल में वृद्धि करता जाता है। वह ठोस आहार की जगह तरल आहार ग्रहण करने लगता है तथा बाद में तरल आहार का भी त्याग कर देता है। वह अपना समय धार्मिक कार्यों को संपन्न करने में व्यतीत करता है । उसे मृत्यु आगमन की प्रतीक्षा में शीघ्रता या दीर्घता की कामना नहीं होती है, बल्कि वह मृत्यु की प्रतीक्षा शान्तभाव से करता है। मृत्यु काल आने पर समस्त प्रकार के संवेगों से मुक्त होकर समभावपूर्वक उसे ग्रहण करता है।[१०१] लेकिन आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति हिंसक प्रवृत्तियों को अपनाता है। देहत्याग के लिए वह अनशन व्रत का पालन नहीं करता है। वह शीघ्र मृत्यु की कामना करता है और इसी कारण शस्त्र, विष, अग्नि, जलप्रवेश आदि साधनों का सहारा लेता है। मृत्यु के समय उसका मन संवेगों से पूर्ण होता है अर्थात् वह समभावपूर्वक मृत्यु का वरण नहीं करता है।

समाधिमरण के द्वारा जो देहत्याग किया जाता है वह न दुःखदायी होता है और न ही समाज के लिए अभिशाप, क्योंकि इस तरह से मृत्यु ग्रहण करने के पूर्व व्यक्ति अपने समस्त कार्मिक बन्धनों, ममत्व आदि का त्याग कर देता है। उनका यह देहत्याग धर्म में अविश्वास पैदा करता है। उनकी मृत्यु पर शोक या संवेदना नहीं व्यक्त की जाती है। सर्वत्र इसे महोत्सव के रूप में मनाया जाता है। समाधिमरण करनेवालों को दिव्य आत्मा समझकर उसकी पूजा की जाती है।[१०२] दूसरी ओर आत्महत्या करनेवालों को समाज के लिए अभिशाप समझा जाता है, क्योंकि व्यक्ति इसे पूर्णरूप से अपने आवेश की पूर्ति के लिए अपनाता है, जिससे समाज में क्षोभ और अपमान की भावना व्याप्त होती है। साथ ही इससे समाज को किसी तरह की सात्विक प्रेरणा भी नहीं मिलती है।

जैन धर्म-दर्शन के अन्तर्राष्ट्रीय विद्वान् जिनशासन गौरव डॉ० सागरमल जैन समाधिमरण और आत्महत्या के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं समाधिमरण न तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मरणाकांक्षा है और न आत्महत्या ही । व्यक्ति आत्महत्या या तो क्रोध के वशीभूत होकर करता है या फिर आत्मसम्मान या हितों को गहरी चोट पहुँचने पर अथवा जीवन से निराश हो जाने पर करता है, लेकिन ये सभी चित्त की सांवेगिक अवस्थाएं हैं, जबकि समाधिमरण तो चित्त की समत्व अवस्था है। अत: उसे आत्महत्या नहीं कह सकते । दूसरे, आत्महत्या या आत्मबलिदान में मृत्यु को निमन्त्रण दिया जाता है। व्यक्ति के मन में मरने की इच्छा छिपी रहती है, लेकिन समाधिमरण में मरण की इच्छा का नहीं रहना ही अपेक्षित है, क्योंकि समाधिमरण के प्रतिज्ञासूत्र में ही साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि मृत्यु की आकांक्षा से रहित होकर आत्ममरण करूँगा। यदि समाधिमरण में मरने की इच्छा ही प्रमुख होती तो उसके प्रतिज्ञासूत्र में इन शब्दों को रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। आत्महत्या में व्यक्ति जीवन के संघर्षों से ऊबकर जीवन से भागना चाहता है। उसके मूल में कायरता है, जबकि समाधिमरण में देह और संयम की रक्षा के अनिवार्य विकल्पों में से संयम की रक्षा के विकल्प को चुनकर मृत्यु का साहसपूर्वक सामना किया जाता है। समाधिमरण मे जीवन से भागने का प्रयास नहीं किया जाता है, वरन् जीवन की संध्या बेला में द्वार पर खड़ी मृत्यु का स्वागत किया जाता है है । आत्महत्या में जहाँ जीवन से भय होता है, समाधिमरण में मृत्यु से निर्भयता होती है। आत्महत्या असमय ही मृत्यु का आमन्त्रण है, जबकि समाधिमरण मात्र मृत्यु के उपस्थित होने पर उसका सहर्ष आलिंगन है। आत्महत्या के मूल में या तो भय होता है या कामना होती है, जबकि समाधिमरण में भय और कामना दोनों की ही अनुपस्थिति आवश्यक होती है।[१०३]

काका कालेलकर समाधिमरण और आत्महत्या के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आत्महत्या में व्यक्ति निराश होकर कायरतापूर्ण ढंग अपनाकर देहत्याग करता है, वहीं दूसरी ओर जब व्यक्ति यह सोचता है कि उसके जीवन का प्रयोजन पूर्ण हुआ, ज्यादा जीने की आवश्यकता नहीं रही तब वह आत्म-साधना के लिए समाधिमरण करता है अर्थात् समभावपूर्वक शरीरत्याग करता है[१०४]। अत: आत्महत्या जहाँ कायरतापूर्वक और जीवन से भागने का नाम है, वहीं समाधिमरण साहसपूर्वक जीवन जीने और अन्तिम समय में समत्वभाव से मृत्युवरण करने का नाम है।

समाधिमरण और आत्महत्या को एक समझकर कुछ विद्वानों ने समाधिमरण पर यह आक्षेप लगाया है कि यह अनैतिक एवं जीवन से पलायन करनेवाला व्रत है। डॉ० ईश्वरचन्द्र ने लिखा है[१०५]- "जीवन्मुक्त व्यक्ति का स्वेच्छामरण आत्महत्या नहीं है, लेकिन समाधिमरण आत्महत्या के समान ही अनैतिक है। इस सम्बन्ध में उनके तर्क का पहला भाग यह है कि स्वेच्छामरण का व्रत लेनेवाले सामान्य जैन मुनि जीवन्मुक्त एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलौकिक शक्ति से युक्त नहीं होते और न ही अपूर्णता की दशा में लिया गया आमरण व्रत (समाधिमरण) नैतिक हो सकता है। अपने तर्क के दूसरे भाग में वे कहते हैं कि जैन-परम्परा में स्वेच्छा मृत्युवरण (समाधिमरण) करने में यथार्थता की अपेक्षा आडम्बर अधिक होता है, इसीलिए वह अनैतिक है। डॉ० सागरमल जैन डॉ० ईश्वरचन्द्र के विचार से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए लिखते हैं[१०६]- "जीवन्मुक्त एवं अलौकिक शक्तिसम्पन्न व्यक्ति ही स्वेच्छामरण का अधिकारी है, हम सहमत नहीं है। वस्तुत: स्वेच्छामरण उस व्यक्ति के लिए आवश्यक नहीं है जो जीवन्मुक्त है और जिसकी देहासक्ति समाप्त हो गयी है, वरन् उस व्यक्ति के लिए है जिसमें देहासक्ति शेष है, क्योंकि समाधिमरण तो इसी देहासक्ति को समाप्त करने के लिए है। समाधिमरण एक साधना है, इसलिए वह जीवन्मुक्त (सिद्ध) के लिए आवश्यक नहीं है। जीवन्मुक्त को तो समाधिमरण सहज ही प्राप्त होता है। जहाँ तक इस आक्षेप की बात है कि समाधिमरण में यथार्थता की अपेक्षा आडम्बर ही अधिक परिलक्षित होता है, उसमें आंशिक सत्यता अवश्य हो सकती है, लेकिन इसका सम्बन्ध समाधिमरण के सिद्धान्त से नहीं, वरन् उसके वर्तमान में प्रचलित विकृत रूप से है, लेकिन इस आधार पर उसके सैद्धान्तिक मूल्य में कोई कमी नहीं आती है। यदि व्यावहारिक जीवन में अनेक व्यक्ति असत्य बोलते हैं तो क्या उससे सत्य के मूल्य पर कोई आँच आती है? वस्तुत: स्वेच्छामरण (समाधिमरण) के मूल्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से समाधिमरण और आत्महत्या के अंतर को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनके चिन्तन के आधार पर हम कह सकते हैं कि समाधिमरण और आत्महत्या में बहुत बड़ा अन्तर है। इन अन्तरों को हम इस रूप में भी समझ सकते हैं-

- समाधिमरण और आत्महत्या में अवस्थागत अन्तर ।
- समाधिमरण और आत्महत्या के द्वारा की जानेवाली देहत्याग की विधियों का अन्तर ।
- समाधिमरण और आत्महत्या के समय साधक के मन में उठनेवाले भावों का अन्तर।

आगे हम इन तीनों ही बिन्दुओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेगें।

समाधिमरण करनेवाला व्यक्ति सुख-दु:ख दोनों ही अवस्थाओं में समत्व का भाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनाए रखता है। असह्य दु:ख या हार्दिक खुशी की अवस्था में भी वह न तो दु:खी होता है और न खुश ही। सुख-दु:ख को वह कर्मों को क्षय करनेवाला कारक मानता है। दु:ख को जहाँ पूर्व में किए गए बुरे कर्मों का प्रतिफल मानता है, वहीं सुख को पूर्व में किए गए अच्छे कर्मों का प्रतिफल मानता है। किसी प्रकार की व्याधि, रोग आदि होने पर भी वह प्रमाद नहीं करता है, वरन् यह सोचता है कि यह रोग और व्याधि मेरे लिए अच्छा ही है, क्योंकि इनसे मेरे कर्मों का क्षय होता है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति सुख-दु:ख दोनों को ही कर्मों का क्षय करनेवाला कारक तथा अपना उपकारक समझता है दोनों ही अवस्थाओं में समत्व का भाव बनाए रखता है। दूसरी ओर आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति सुख-दु:ख आदि परिस्थितियों से विचलित होता रहता है। सुख की अवस्था में उसे खुशी होती है जिसे वह अच्छा मानता है तथा दु:ख की अवस्था में दु:खी होता है और उसे बुरा मानता है। सुख की प्राप्ति के लिए वह हर तरह के अच्छे -बुरे कार्यों का सम्पादन करता है तथा दु:ख से मुक्ति प्राप्त करने के लिए भी हर अच्छे-बुरे कार्य करता है। इस प्रकार वह कर्मों के बन्धन में पड़ता जाता है। रोग-व्याधि आदि होने पर उसे बहुत ही कष्ट होता है। इस प्रकार समाधिमरण में जहाँ सुख-दु:ख अवस्था में भी समत्वभाव रखकर वर्तमान समय के कर्मों के फल को संचित नहीं किया जाता है, वहीं आत्महत्या में कर्म का संचय किया जाता है।

समाधिमरण मुख्य रूप से प्राकृतिक या कृत्रिम विपदाओं के समय में ग्रहण किया जाता है। वृद्धावस्था के कारण या किसी रोग के कारण व्यक्ति का शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया हो, जब उसकी शक्ति क्षीण हो गयी हो, वह अपना आवश्यक कार्य भी स्वयं नहीं कर पाता हो, इसके लिए उसे किसी की सहायता की आवश्यकता हो, तात्पर्य है कि शरीर जब भाररूप हो गया हो और उसका त्याग करना ही ठीक जान पड़ता हो, तभी व्यक्ति समाधिमरण के द्वारा देहत्याग करे। दूसरी अवस्था में जब व्यक्ति ऐसे संकटपूर्ण परिस्थिति में फँस गया हो जहाँ से निकल पाना सम्भव नहीं हो, प्राण जाने की भी आशंका हो, ऐसी परिस्थिति जिसमें उसके ब्रह्मचर्य भंग होने तथा कुछ अन्य कारण से उसे पतित होने की सम्भावना हो, तभी अपने धर्म और पवित्रता की रक्षा के लिए समाधिमरण के द्वारा उसे देहत्याग करना चाहिए । लेकिन आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति मात्र वृद्धावस्था, रोग की अवस्था या जीवन के संकटपूर्ण क्षणों में अपने धर्म रक्षार्थ देहत्याग नहीं करता है, वरन् वृद्धपना, रोग के कष्टों तथा संकटपूर्ण अवस्थाओं में होनेवाले कष्टों के कारण दु:खी मन से अपना देहत्याग करता है।

समाधिमरण और आत्महत्या की विधि में भी अन्तर है। समाधिमरण करनेवाला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति अनशनपूर्वक दीर्घकाल तक अपने शरीर और कषायों को क्षीण करता है। अनशन काल में होनेवाले परीषहों को अत्यन्त शान्त भाव से सहन करता है। उस समय उसके मन में किसी प्रकार का भाव नहीं रहता है। वह अपने गुण-दोषों की आलोचना कर सभी से क्षमा माँगता है तथा समस्त जीवों को भी क्षमा प्रदान करता है। वह इस संसार को, धन-वैभव को, अपने इष्टजनों को, सुख-दुःख को तथा अन्यान्य भौतिक पदार्थों को बन्धन का कारण समझता है और उनसे दूर रहने का प्रयत्न करता है। उनसे मुक्ति पाने के लिए वह बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता है। समाधिमरण का अधिकतम समय बारह वर्ष का होता है। इन बारह वर्षों में वह नाना प्रकार के तपों को करते हुए आहार आदि को सीमित करते हुए, अन्त में सब त्याग करता है तथा मृत्यु के आगमन की प्रतिक्षा समभाव से करता है। इस क्रम में वह शीघ्रमरण या दीर्घकालिकमरण की कामना नहीं करता है। मात्र मृत्यु के आगमन की प्रतीक्षा करता है और जब मृत्यु का आगमन होता है तो सहर्ष भाव से उसे स्वीकार करता है। दूसरी ओर आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति कोई ऐसी विधि अपनाता है जिससे कि उसका अन्त शीघ्रतापूर्वक कम कष्टों के साथ हो। जैसे- विषपान, फांसी, कलाई की धमनियों को काटना, पहाड़ से गिरना, आग में जलना आदि। उसके अन्तस् में शीघ्र मरने की व्याकुलता होती है। मृत्यु के समय भी वह सांसारिक वस्तुओं से अपनी आसक्ति का त्याग नहीं कर पाता है। अपने धन, वैभव, परिवार आदि के प्रति उसके मन में किसी तरह की भावना अवश्य रहती है।

समाधिमरण करनेवाला व्यक्ति समस्त प्रकार के सांसारिक उपसर्गों का साहसपूर्वक सामना करता है। उपसर्गों को सहन करते वक्त उसके मन में किसी तरह का भी भाव नहीं रहता है। उपसर्गों का सहन वह इसलिए करता है कि यह उसके लिए परीक्षा का काल है और परीक्षा में उसे सफल होना है। लेकिन आत्महत्या करनेवाला व्यक्ति जीवन के संघर्षों, संसार के उपसर्गों से घबरा जाता है। अपनी समस्याओं से जूझने से बचने के लिए ही वह आत्महत्या कर लेता है। एक तरह से वह जीवन से पलायन कर लेता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाधिमरण और आत्महत्या में बहुत बड़ा अन्तर है। दोनों में परिस्थिति, विधि, भावना आदि सभी बातों को लेकर अन्तर है। एक जहाँ मृत्यु का साहसपूर्वक सामना करता है, वहीं दूसरा मृत्यु से पलायन करता है। एक जहाँ मृत्यु को अपने सामने झुकाता है, वहीं दूसरा मृत्यु के सामने झुक जाता है। एक जहाँ मृत्य को हराता है, वहीं दूसरा मृत्यु के सामने अपनी पराजय स्वीकार कर लेता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधिमरण के तीन भेद

सामान्यत: स्वाभाविक मृत्यु व्यक्ति के प्राण को उसके शरीर से अलग कर देती है। लेकिन कभी-कभी व्यक्ति अपनी इच्छा से भी देहत्याग करता है। जैनशास्त्रों में इस प्रकार देहत्याग पर प्रकाश डाला गया है। गोम्मटसार के अनुसार देहत्याग तीन तरह किया जाता है।[१०७]　१. च्युत　　२. च्यावित　　३. त्यक्त

(१) च्युत- आयु पूर्ण होकर शरीर का स्वत: छूटना च्युत कहलाता है।

(२) च्यावित- विष-भक्षण, रक्त क्षय, धातुक्षय, शस्त्रघात, जलप्रवेश तथा इसी तरह के अन्य बाह्य कारणों से जो शरीरत्याग किया जाता है वह च्यावित कहलाता है।

(३) त्यक्त- रोगादि हो जाने पर तथा मरण का अनिवार्य कारण उपस्थित हो जाने पर विवेकसहित जो शरीरत्याग किया जाता है वह त्यक्त कहलाता है।

विवेकसहित देहत्याग का विवरण *आचारांग, समवायांग, स्थानांग, उत्तराध्ययन, भगवती-आराधना* जैसे प्राचीन ग्रंथों में भी मिलता है। लेकिन भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायो (पादो) पगमनमरण को विवेकसहित मरण के अंतर्गत समाहित करने का क्रमबद्ध विवरण प्रथम बार गोम्मटसार में उपलब्ध होता है।[१०८] यद्यपि भगवती आराधना[१०९] में भी इन तीनों को पंडितमरण के तीन भेद के रूप में स्वीकार किया गया है, लेकिन श्वेताम्बर मान्य साहित्य *आचारांग, उत्तराध्ययन* में इस रूप में नहीं है। *आचारांग*[११०] में इन तीनों ही प्रकार के विवेकयुक्त मरण का उल्लेख है, परन्तु नामों का विवरण नहीं है। *समवायांग*[१११] में तीनों का उल्लेख मरण के विविध रूपों के साथ किया गया है, जबकि *स्थानांग*[११२] में भक्तप्रत्याख्यान और प्रायोपगमन का नामोल्लेख है और इंगिनीमरण का नाम नहीं है। इसी तरह *उत्तराध्ययन*[११३] में तीन प्रकार के विवेकसहित मरण का उल्लेख तो है, लेकिन नामों का अभाव है। त्यक्त शरीर के तीन भेद हैं-

१. भक्तपरिज्ञा (भक्तप्रत्याख्यान)　　२. इंगिणी, और　　३. प्रायोग्य ।

१. भक्तप्रत्याख्यानमरण

भक्तप्रत्याख्यानमरण का विवरण *भगवती*[११४], *स्थानांग*[११५], *समवायांग*[११६], जैसे प्राचीनतम आगमों में मिलता है। भक्तप्रत्याख्यान, भक्त और प्रत्याख्यान इन दो शब्दों से मिलकर बना है *भक्त* अर्थात् आहार (भोजन) प्रत्याख्यान यानी त्याग । इस तरह से आहार का योग करके जो मरण ग्रहण किया जाता है वह भक्तप्रत्याख्यान कहलाता है। इसका

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

काल कम से कम अन्तर्मुहूर्त है, ज्यादा से ज्यादा बाहर वर्ष है और मध्यम अन्तर्मुहूर्त से ऊपर तथा बारह वर्ष से कम का है।[११७] *भगवती आराधना* की विजयोदया टीका में कहा गया है कि दीक्षाग्रहण से लेकर निर्यापक गुरु का आश्रय लेने के अन्तिम दिन तक ज्ञान, दर्शन और चारित्र में लगे अतिचारों की आलोचना करके गुरु के द्वारा दिए गए प्रायश्चित को स्वीकार करके तीन प्रकार के आहार के त्याग आदि के साथ क्रम से रत्नत्रय की आराधना करना भक्तप्रत्याख्यान है।[११८]

उत्तराध्ययन[११९], *भत्तपइण्णा*[१२०] और *भगवती आराधना*[१२१] में भक्तप्रत्याख्यानमरण के दो भेद किए गये हैं- सविचार एवं अविचार। जो उत्साह अर्थात् बलयुक्त हैं, जिसकी मृत्यु तत्काल होनेवाली नहीं है अर्थात् जिसकी आयु अभी बहुत अल्प नहीं हुई है, ऐसे व्यक्ति के भक्तप्रत्याख्यान को सविचार भक्तप्रत्याख्यान कहा जाता है।[१२२] सविचार का अर्थ है बिना किसी प्रकार की विवशता के स्वेच्छापूर्वक देहत्याग का निर्णय लेना तथा विविध कारणों के फलस्वरूप मृत्यु की आकस्मिक सम्भावना होने या सहसा मरणकाल उपस्थित होने पर एवं ऐसी ही अन्य परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर व्यक्ति द्वारा जो भक्तप्रत्याख्यान किया जाता है वह अविचार भक्तप्रत्याख्यान कहलाता है।[१२३] जब विचारपूर्वक भक्तप्रत्याख्यान करने का समय ही नहीं रहता, जब सहसा ही मरण उपस्थित हो जाए अर्थात् आकस्मिक रूप से मृत्यु जीवन के द्वार पर दस्तक देने लगे तो अविचार भक्तप्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए।

सविचार भक्तप्रत्याख्यान

भगवती आराधना में सविचार भक्तप्रत्याख्यान का विवेचन चालीस अधिकार सूत्र पदों की सहायता से किया गया है। ये निम्नलिखित हैं[१२४]-

(१) अरिहे -इसका अर्थ योग्य होता है।[१२५] जिन्हें दुष्प्रसाध्य व्याधि है अथवा श्रामण्य को हानि पहुँचाने वाली वृद्धावस्था है अथवा देवकृत मनुष्यकृत और तिर्यन्चकृत उपसर्ग है, वे भक्तप्रत्याख्यान करने के योग्य हैं।[१२६] जो देखने और सुनने में असमर्थ हैं तथा निर्बलता के कारण चल नही पाते हैं वे भी भक्तप्रत्याख्यानमरण लेने योग्य है।[१२७] जिनका चरित्र चिरकाल तक कलुषित होनेवाला नहीं है, निकट भविष्य में किसी तरह का उपसर्ग भी नहीं आनेवाला है उनको समाधिमरण कराने में सहायक निर्यापक के उपलब्ध होने पर भी भक्तप्रत्याख्यान नहीं करना चाहिए। अगर कोई ऐसे समय में भक्तप्रत्याख्यान करता है तो वह अपने धर्म से विरत हो जाता है।[१२८]

(२) लिंग - इसका अर्थ चिह्न होता है। कर्ता किस लिंग का है यह जानना।[१२९]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्री और पुरुष दोनों ही भक्तप्रत्याख्यान ले सकते हैं। जो पुरुष भक्तप्रत्याख्यान करना चाहता है उसे औत्सर्गिक लिंग धारण करना होता है।[१३०] इस लिंग को धारण करने पर नग्न रहना पड़ता है। परन्तु इसके सम्बन्ध में यह नियम है कि उसकी पुरुष जननेन्द्रिय (पुरुष चिह्न) प्रशस्त होनी चाहिए। पुरुष जननेन्द्रिय का चर्मरहित होना, अतिदीर्घ होना, स्थूल होना और बार-बार उत्तेजित होना आदि दोष हैं। इन दोषों से रहित होने पर ही औत्सर्गिक लिंग दिया जाता है। पुरुष जननेन्द्रिय में अण्डकोष भी सम्मिलित है। वे भी अति लटकते हुए लम्बे नहीं होने चाहिए। इसके अलावा जो प्रतिष्ठित धनसम्पन्न हैं या जिन्हें सबके सामने नग्न होने में लज्जा आती है ऐसे व्यक्तियों को सार्वजनिक स्थान में नग्न लिंग नहीं देना चाहिए। उनके लिए सवस्त्र लिंग (आपवादिक लिंग) ही योग्य होता है।[१३१]

उपर्युक्त व्यवस्था दिगम्बर एवं यापनीय परम्पराओं के सन्दर्भ में है। जहाँ तक श्वेताम्बर परम्परा का प्रश्न है उसमें आचारांगसूत्र में यह चर्चा तो हमें उपलब्ध होती है कि मुनि भी वस्त्र आदि को अल्प करता हुआ अचेत अवस्था तक जा सकता है, किन्तु सल्लेखना के समय उसमें वस्त्र की स्थिति वही होती है जिसमें वह सल्लेखना ग्रहण करने के पूर्व रहता है। इस प्रकार हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में वस्त्र त्याग करना मुनि और गृहस्थ दोनों के लिए अपरिहार्य नहीं था। सल्लेखना सम्बन्धी जितने भी सन्दर्भ श्वेताम्बर ग्रन्थों में उपलब्ध है। उनमें कहीं भी ऐसा निर्देश उपलब्ध नहीं होता है कि सल्लेखना के समय वस्त्र त्याग करना चाहिए, वहाँ कषाय और आहार को ही अल्प करने का निर्देश मिलता है।

जो स्त्रियाँ भक्तप्रत्याख्यान करना चाहती है उनमें से तपस्विनी स्त्रियों (साध्वियों) को औत्सर्गिक लिंग दिया जाता है तथा श्राविकाओं को आपवादिक लिंग । तपस्विनी स्त्रियाँ एक साड़ी मात्र परिग्रह रखती हैं और मृत्यु के समय उस वस्त्र का भी परित्याग कर देती हैं। गृहस्थ स्त्रियाँ भी यदि योग्य स्थान होता है तो वस्त्र त्याग करती हैं। यदि वे धनसम्पन्न तथा अच्छे कुल की होती हैं तो सार्वजनिक स्थान पर वस्त्र त्याग नहीं करती है।[१३२] लेकिन परिग्रह, अल्प कर देने से स्त्रियों को औत्सर्गिक लिंग/धारक माना जा सकता है।

(३) शिक्षा - इसका अर्थ होता है श्रुत का अध्ययन करना। व्यक्ति को जिनवचन रात-दिन पढ़ना चाहिए। क्योंकि इसकी सहायता से व्यक्ति जीवादि पदार्थों का प्रमाण और नय के अनुसार निरूपण करने में निपुण होता है।[१३३] पूर्वापर विरोध पुनरूक्तता आदि बत्तीस दोषों से मुक्त होने के कारण शुद्ध होता है।[१३४] विपुल यानी निक्षेप, निरूक्ति अनुयोगद्वार और नय इन अनेक विकल्पों से जीवादि पदार्थों का विस्तार से निरूपण करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है।[१३५] निकाचित अर्थात् अर्थ से पूर्ण होता है।[१३६] अनुत्तर अर्थात् जिससे कोई श्रेष्ठ न हो।[१३७] सभी प्राणियों के लिए हितकारी होता है[१३८] तथा ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म और अज्ञानादि भाव फल का विनाश करने से जिनवचन पाप को हरनेवाला होता है।[१३९]

(४) विनय - इसका अर्थ होता है- मर्यादा[१४०]। आठ प्रकार के अशुभ कर्मों को विनय के द्वारा दूर किया जाता है। इसके आठ द्वार हैं- काल, विनय, उपधान, बहुमानी निह्नव, व्यंजनशुद्धि, अर्थशुद्धि, उभयशुद्धि आदि।[१४१]

काल- स्वाध्यायकाल काल के रूप में मान्य है। इसी अवधि में स्वाध्याय करना फलप्रद माना जाता है। संध्या, पर्व, किसी दिशा में आग लगना, उल्कापात आदि जो काल छोड़ने योग्य कहे गए हैं। उन कालों को छोड़कर किया गया अध्ययन कर्म को नष्ट करता है।[१४२]

विनय- श्रुत और श्रुत के धारकों की भक्ति विनय है।[१४३]

उपधान- उपधान का अर्थ अवग्रह है। जबतक आगम का यह अनुयोगद्वार समाप्त नहीं होता, तब तक मैं अमुक वस्तु नहीं खाऊँगा का संकल्प करना।[१४४]

बहुमान- बहुमान का अर्थ सम्मान है। पवित्र होकर दोनों हाथ जोड़कर और मन को निश्चल करके सादर भाव से अध्ययन करना बहुमान है।[१४५] अध्ययन के पूर्व किया गया यह कर्म अध्ययन के प्रति सम्मान भाव का द्योतक माना जाता है।

निह्नव- निह्नव अपलाप को कहते हैं। किसी के पास अध्ययन करके अन्य को गुरु कहना अपलाप है,[१४६] अर्थात् गुरु के उपकार को नहीं मानना।

व्यंजनशुद्धि- व्यंजन शब्द के प्रकाशन को कहते हैं, शब्द के वाच्य को अर्थ कहते हैं। व्यंजन (शब्द) स्वयं दूसरों को ज्ञान कराने का साधन है। शब्द श्रुतरूप भी हो सकता है, क्योंकि श्रुत भी ज्ञान कराने का हेतु माना जाता है। गणधर आदि ने दोषों से रहित सूत्र रचे हैं, उनका वैसा ही पाठ व्यंजनशुद्धि है, अत: दूसरे के द्वारा किया गया शब्द श्रुत का अविपरीत पाठ व्यंजनशुद्धि है।[१४७]

अर्थशुद्धि -व्यंजनशुद्धि के अर्थ का अविपरीत निरूपण अर्थशुद्धि है,[१४८] अर्थात् सूत्र के अर्थ का यथार्थ कथन अर्थशुद्धि है।

तदुभय शुद्धि- व्यजंनशुद्धि और अर्थशुद्धि होने से जो शुद्धि होती है, वह तदुभय शुद्धि कहलाती है।[१४९] इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि कोई व्यक्ति सूत्र का अर्थ तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ठीक कहता है, किन्तु सूत्र को विपरीत पढ़ता है। यह दोष व्यंजनशुद्धि से दूर होता है। दूसरा व्यक्ति सूत्र तो ठीक पढ़ता है लेकिन सूत्र का अर्थ अन्यथा कहता है इस दोषमुक्ति को अर्थशुद्धि कहा गया है। इस तरह से इन दोनों ही दोषों से मुक्त होकर सूत्र का यथारूपेण पाठ और अर्थ करना ही तदुभय शुद्धि है।

(५) समाधि - इसका अर्थ होता है- मन को एकाग्र करना।[१५०] चित्त को स्थिर रखना चाहिए, क्योंकि वचन और शरीर से शास्त्रानुसार आचरण करनेवाले साधु का मन यदि निश्चल नहीं होता है तो उसका श्रामण्य नष्ट हो जाता है।[१५१]

(६) अनियत विहार- इसका अर्थ है-अनियत क्षेत्र में विहार करना।[१५२] भक्तप्रत्याख्यान करनेवाले व्यक्ति को एक स्थान में नहीं बसना चाहिए। उसे अनियत स्थान में विहार करते रहना चाहिए, क्योंकि इससे दर्शनविशुद्धि, स्थितिकरण, भावना, अतिशय अर्थों में निपुणता (अर्थकुशलता) और क्षेत्रों के अन्वेषण में सहायता मिलती है।[१५३]

(७) परिणाम - व्यक्ति द्वारा अपने कर्तव्य की आलोचना करना ही परिणाम कहलाता है।[१५४] व्यक्ति अपने आत्महित के बारे में चिन्तन करता है। वह सोचता है कि मैं दर्शन-ज्ञान-चारित्र में चिरकाल से रमा रहा। दूसरों को आगम के अनुसार निर्दोष ग्रन्थ और उसके अर्थ का दान किया है। इस प्रकार पर के उपकार में समय बीता। अब आज से अपना हित भी करना चाहिए, यह उचित भी है।[१५५]

(८) उपाधि-त्याग - उपाधि अर्थात् परिग्रह का त्याग करना।[१५६] मुक्ति को खोजनेवाला विशुद्ध लेश्या से युक्त व्यक्ति संयम के साधन परिग्रह को छोड़कर शेष अन्य परिग्रह का मन-वचन-काय से त्याग कर देता है।[१५७] कमण्डल, पिच्छी आदि उपकरण ही संयम में सहायक माने जाते हैं। अत: साधक मात्र इन्हें अपने पास रखता है और शेष का त्याग कर देता है।

(९) श्रेणी - इसका अर्थ होता है- श्रेणी या सोपान।[१५८] इसका एक अर्थ आश्रय भी माना जाता है और आश्रय रूप में भाव और द्रव्य को ग्रहण किया जाता है। भाव परिणाम का सूचक है, जबकि द्रव्य श्रद्धान के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। अत: भाव परिणाम भावश्रिति है, जबकि द्रव्य का आश्रय लेने के कारण दूसरा द्रव्यश्रिति है। ज्ञान, श्रद्धान, समभाव आदि गुणों का ऊपर-ऊपर उन्नत होना गुण प्रतिपत्ति है और यही भाव श्रिति कहलाती है। ऊपर चढ़नेवाला नसेनी, सीढ़ी आदि जिस द्रव्य का आश्रय लेता है उसे द्रव्यश्रिति कहते हैं।[१५९] भक्तप्रत्याख्यान करनेवाले व्यक्ति को भावश्रिति पर आरोहण करके विहार करने का प्रयत्न करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१०) भावना - इसका अर्थ अभ्यास होता है अर्थात् बार-बार एक ही चीज में प्रवृत्ति करना।[१६०] भक्तप्रत्याख्यान करनेवाला व्यक्ति अभी तक जो संयमित आचरण करता आया है उसका बार-बार मनन एवं अभ्यास करता है। सतत् अभ्यास करने से व्यक्ति का श्रुतज्ञान निर्मल और प्रबल हो जाता है। प्रबल अभ्यास के बल से स्मृति बिना खेद के अपना काम करती है। तात्पर्य है कि योग यानी वचन और काय के व्यापार का मूल स्मृति है।[१६१]

(११) संलेखना - नानाप्रकार के बाह्य और आभ्यन्तर तप के द्वारा व्यक्ति अपने काय और कषाय को कृश करते हुए बाह्य और आभ्यन्तर सल्लेखना करता है।[१६२] इस प्रकार आभ्यन्तर सल्लेखना सहित बाह्य सल्लेखना करने से व्यक्ति के मन में संसार-त्याग करने का निश्चय दृढ़ होता है।[१६३]

(१२) दिशा - आचार्यों द्वारा मोक्ष का जो उपदेश दिया जाता है वह दिशा कहलाता है।[१६४] जब आचार्य किसी नए व्यक्ति को अपने संघ का आचार्य नियुक्त करते हैं, तो संघ के समस्त सदस्यों को यह निर्देश देते हैं कि आप सब लोगों को इसके अनुसार दिखाए मार्ग पर चलना चाहिए तथा नए आचार्य को भी ऐसा समझाते हैं कि आपको समस्त संघ की देख-रेख ठीक ढंग से करनी चाहिए।[१६५]

(१३) क्षमण - क्षमाग्रहण करने को क्षमण कहते हैं।[१६६] नए नियुक्त आचार्य से एवं संघ के समस्त सदस्यों से पुराने आचार्य मन-वचन-काय से क्षमा मांगते हुए कहते हैं- दीर्घकाल तक साथ रहने से उत्पन्न हुए ममता, स्नेह, द्वेष और राग से जो कटु और कठोर वचन मैंने आप सबों को कहा हो उनके लिए मैं आप सभी लोगों से क्षमा चाहता हूँ।[१६७]

(१४) अणुशिष्टि - शास्त्रानुसार शिक्षा देने को अणुशिष्टि कहते हैं।[१६८] पुराने आचार्य नए आचार्य को तथा संघ के सदस्यों को शास्त्रानुसार उपदेश देते हुए कहते हैं- ज्ञान-दर्शन-चारित्र के अतिचारों को दूर करो, यथा क्षेत्र-शुद्धि, द्रव्य-शुद्धि, भाव-शुद्धि के बिना वाचना आदि करना, निह्नव, ग्रन्थ और अर्थ की अशुद्धि, आदर का अभाव आदि ज्ञानविषयक अतिचारो शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि प्रशंसा आदि सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं तथा समिति की भावना का न होना आदि चारित्र के अतिचार हैं। आचार्य इनसे बचने का उपदेश देते हैं।[१६९] इसके अलावा धार्मिकों तथा मिथ्यादृष्टियों के साथ विरोध नहीं करने का भी निर्देश देते हैं। चित्त की शान्ति दूर करनेवाले वाद-विवाद एवं क्रोधादि कषायों से भी बचने का निर्देश देते हैं। संघ को शिक्षा देते हुए कहते हैं कि मानव जीवन अनित्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और अशुचि से युक्त है। अत: यह सार रहित है। इसलिए व्यक्ति को अपना आवश्यक कर्म करते हुए संयमपूर्वक तप करना चाहिए, क्योंकि बिना संयम के मात्र तप से मुक्ति सम्भव नहीं है।[१७०]

(१५) परगणचर्या - दूसरे संघ में जाने को परगणचर्या कहते हैं।[१७१] आज्ञाकोप, कठोर वचन, कलह, दु:ख, निर्भयता, स्नेह, ध्यान में विध्न और असमाधि आदि दोषों को दूर करने के लिए व्यक्ति दूसरे संघ में जाता है।[१७२]

आज्ञाकोप - अपने संघ में रहने पर किसी को आज्ञा दे और वह नहीं माने तो इससे मन में क्रोध का भाव तथा परिणाम में अशुद्धि आ जाती है।[१७३]

कठोर वचन - किसी व्यक्ति को उसके हित की बात कहें और वह नहीं माने तो इससे कलह पैदा हो जाती है।

दु:ख - किसी के दोषपूर्ण आचरण को देखकर मन में दु:ख (सन्ताप) पैदा हो जाता है।

निर्भयता - किसी का भय नहीं रहने के कारण अयोग्य आचरण का व्यवहार करना निर्भयता है।

स्नेह - मृत्यु के समय परिचित व्यक्तियों से प्रेम होने के कारण स्नेह का भाव पैदा हो सकता है।

करुणा - किसी को दु:खी देखकर मन में उसके प्रति जो भाव आता है वह करुणा है। ध्यान में इन सभी बातों के कारण बाधा पड़ सकती है और समाधि ठीक से नहीं हो पाती है।

(१६) मार्गणा

समाधिमरण कराने में समर्थ आचार्य को खोजने को मार्गणा कहते हैं।[१७४] भक्तप्रत्याख्यान करनेवाला व्यक्ति शास्त्रसम्मत निर्यापक (समाधिमरण करानेवाला) व्यक्ति की खोज में निकल पड़ता है। इस कार्य के लिए उसे बहुत समय तक एवं बहुत दूर की यात्रा भी करनी होती है।[१७५] शास्त्रसम्मत ये आचार्य कषाय से रहित होने के कारण व्यक्ति के चित्त को शान्ति प्रदान करते हैं।[१७६] भक्तप्रत्याख्यान करनेवाले व्यक्ति को अपने प्रिय वचनों से मन और कानों को सुख देनेवाली कथा कहते हैं। इससे क्षपक (भक्त प्रत्याख्यान करनेवाला व्यक्ति) पहले अभ्यास किए हुए श्रुत के अर्थ का स्मरण कर लेता है, अर्थात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षपक की बुद्धि जाग्रत हो जाती है।[१७७]

(१७) सुस्थित -

पर का उपकार करने में तथा अपने प्रयोजन में सम्यक् रूप से स्थित आचार्य को सुस्थित (सुट्ठिय) कहते हैं।[१७८] आचार्य क्षपक को मोक्षप्राप्ति करनेवाली आराधनाओं को अपनी मधुर वाणी से सुनाते हैं तथा उसे संयमपूर्वक समस्त परीषहों को सहन करने का उपदेश देते हैं। इस तरह वे पर उपकार का कार्य करते हैं।[१७९] ऐसा करने से आचार्य की कीर्ति भी होती है और अपना भी उपकार करते है।[१८०]

(१८) उपसम्पदा

आचार्य के पास जाने को उपसम्पदा कहते हैं।[१८१] ज्ञान और चारित्र से युक्त क्षपक उपयुक्त आचार्य को खोजकर उनके पास जाता है[१८२] और कहता है-दीक्षा ग्रहण करने से लेकर आज तक मैंने जो दोष किये हों, उन दोषों को दूर करके उनकी आलोचना करके मैं दर्शन, ज्ञान और चारित्र को शल्य-मुक्त करके उसका पालन करना चाहता हूँ।[१८३]

(१९) परीक्षा

गण, परिचारक, आहार की अभिलाषा छोड़ने में आराधक समर्थ है या नहीं, इसकी जानकारी करना परीक्षा है।[१८४] आचार्य क्षपक को रत्नत्रय की आराधना करने में कितना उत्साह है इसकी परीक्षा करते हैं। इसके अलावा आहार से सम्बन्धित क्षपक की लोलुपता की भी परीक्षा करते हैं और यह देखते हैं कि वह आहार की तरफ अधिक झुकाव तो नहीं रखता है। यह परीक्षा समाधि के निमित्त की जाती है।[१८५]

(२०) प्रतिलेखना

स्थान विशेष का अन्वेषण करना प्रतिलेखना है। क्षपक की परीक्षा के बाद आचार्य राज्य, क्षेत्र आदि के अच्छे-बुरे की परीक्षा करते हैं। यदि राज्य आदि को अशुभ देखते हैं तो क्षपक को अन्य राज्य या अन्य क्षेत्र में लेकर चले जाते हैं। ऐसा करके क्षपक के साथ-साथ स्वयं पर भी उपकार करते हैं, क्योंकि यदि अन्वेषण नहीं करते हैं और राज्य में किसी तरह का उत्पात होता है तो क्षपक और आचार्य दोनों को ही कष्ट होता है।[१८६]

(२१) आपृच्छा

जब कोई आराधक समाधिमरण के लिए किसी संघ में आए तो आचार्य का संघ से पूछना कि हम इसे स्वीकार करें या नहीं, आपृच्छा है।[१८७] जब क्षपक आचार्य से आज्ञा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेकर उसके संघ में आना चाहता है, तो आचार्य अपने संघ के समस्त सदस्यों से पूछते हैं कि यह क्षपक हमारे संघ में आना चाहता है और यहाँ हमारी सहायता से समाधिमरण लेना चाहता है। यदि सभी सदस्य इसके लिए अपनी सहमति प्रदान कर देते हैं तो आचार्य क्षपक को स्वीकार कर लेते हैं। आचार्य अपने संघ के सदस्यों से क्षपक को स्वीकार करने के लिए नहीं पूछें तो आचार्य, क्षपक और संघ तीनों को ही क्लेश होता है। हम लोगों ने इस क्षपक को स्वीकार नहीं किया है, ऐसा मानकर संघ के सदस्य उसकी विनय या वैयावृत्य (सेवा) नहीं करे तो क्षपक को क्लेश होता है कि ये मेरी कुछ भी सहायता नहीं करते हैं। गुरु को क्लेश होता है कि मैनें इसका उपकार करना प्रारम्भ किया, किन्तु संघ के सदस्य इसमें सहायता नहीं करते हैं। संघ के सदस्यों को भी क्लेश होता है कि यह कार्य बहुत लोगों के द्वारा होनेवाला है, किन्तु गुरु यह नहीं जानते और न ही हमारे बलाबल की परीक्षा करते हैं।

(२२) प्रतिक्षण- एक आचार्य द्वारा एक समय में एक ही क्षपक को समाधिमरण कराना प्रतिक्षण (पडिच्छणा) है।[१८८] संघ की अनुमति मिल जाने पर आचार्य एक ही क्षपक को समाधिमरण कराने के लिए स्वीकार करते हैं। ऐसा इसलिए कि एक आचार्य की देखरेख में एक साथ एक या दो मुनि ही सल्लेखना कर सकते हैं, क्योंकि तपरूपी अग्नि की ज्वाला में अपने शरीर की आहुति देनेवाले मुनि की समाधि में विघ्न आता है। इसका कारण यह है कि यदि दो या तीन क्षपक संस्तर पर पड़ जाये तो चित्त को शान्त करनेवाली विनय वैयावृत्य आदि में कमी आ जाती है।

(२३) आलोचना[१८९] - क्षपक द्वारा गुरु के समक्ष अपने समस्त दोषों को प्रकट करना आलोचना है।[१९९] क्षपक गुरु से अपने समस्त प्रकार के दोषों को कहता है। इस दिन से लेकर अमुक काल में अमुक देश में, अमुक भाव से जो दोष जिसके साथ जिस प्रकार से किया हो वह सब कहना चाहिए। देश-भेद, काल-भेद, परिणाम-भेद और सहायक-भेद से दोषों में कमी और आधिक्य होता है। दोषों की गुरुता और लघुता-भेद के अनुसार ही आचार्य उसके लघु अथवा गुरु प्रायश्चित का विधान बताते हैं।

(२४) गुणदोष - व्यक्ति की अच्छाइयाँ उसके गुण और बुराइयों उसके दोष कहताते हैं। आलोचना के अन्तर्गत व्यक्ति अपने गुणदोष को ही कहता है। व्यक्ति अपने अपराध के गुणदोष की आलोचना गुरु के समक्ष करके हल्का अनुभव करने लगता है।[१९०] कहा भी गया है कि बहुत बड़े विद्वान् और ज्ञानी मनुष्य भी क्षमा आदि धर्म में, संयम में ज्ञान-दर्शन-तप आदि में भावशुद्धि नहीं रखते हैं तो वे दुःख से पीड़ित होते हैं[१९१] अर्थात् अपने द्वारा किए गये अपराधों की आलोचना नहीं करने पर उन्हें दुःख होता है, क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने पापों के गुण-दोष आदि गुरु से कहने पर गुरु उससे बचने के उपाय बताते हैं।[१९२]

(२५) शय्या (वसति) - आराधक के रहने का स्थान शय्या कहलाता है। गायनशाला, नृत्यशाला, गजशाला, कुम्भकारशाला, यंत्रशाला, धोबी, बाजा बजानेवाले डोम, नट, राजमार्ग के समीप का स्थान, पत्थरों के काम करनेवालों का स्थान, पुष्पवाटिका, मालाकार का स्थान, जलाशय के समीप का स्थान क्षपक के रहने योग्य नहीं है, क्योंकि इन स्थानों पर होनेवाले कार्यों तथा हो हल्ले से ध्यान-साधना में विघ्न उत्पन्न होता है।[१९३]

क्षपक को ऐसी वसति में रहना चाहिए जहाँ मन को क्षोभ पैदा करनेवाले पाँचों इन्द्रियों के विषयों का गमन सम्भव नहीं हो। ऐसे स्थान हैं[१९४]- मजबूत दीवारों एवं कपाटों से युक्त घर, गाँव के बाहर वह प्रदेश जहाँ बच्चे, बड़े-बूढ़े आदि सभी आ सकते हों, गुफा में, उद्यानघर में अथवा किसी तरह के शून्यघर में रहना चाहिए। क्षपक जिस स्थान पर निवास करता हो वह तीन भागों में बँटा होना चाहिए :

१. क्षपक का रहने का स्थान

२. निर्यापक एवं सेवा करनेवाले मुनियों का स्थान तथा

३. धार्मिकजनों द्वारा धार्मिक प्रवचन कहने अथवा सुनने का स्थान।

(२६) संस्तर- क्षपक आराधना के लिए जिस पर बैठता है उसे संस्तर कहते हैं।[१९५] क्षपक समाधि के निमित्त ऐसे संस्तर पर बैठता है जो जीव-जन्तु से रहित, न बहुत छोटा और न बहुत बड़ा हो, दोनों समय अर्थात् सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय प्रतिलेखना द्वारा शुद्ध किया गया हो और शास्त्र में निर्दिष्ट क्रम के अनुसार बनाया गया हो जिस पर लेटने से सिर उत्तर दिशा अथवा पूर्व दिशा की ओर रहे। पूर्व दिशा में सूर्य के उदित होने से बहुधा मांगलिक कार्यों के लिए पूर्व दिशा अच्छी मानी जाती है। तीर्थंकरों के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने के उद्देश्य से उत्तर दिशा भी शुभ मानी जाती है, क्योंकि इसी दिशा में तीर्थंकर स्थित होते हैं।

(२७) निर्यापक - आराधक के समाधिमरण में सहायक मुनि या आचार्य[१९६] जिन्हें धर्म प्रिय है, धर्म में स्थिर रहते हों, संसार को अनित्य समझकर उससे डरते हों, पापाचरण से डरते हों, धैर्यवान हों, जीवन के अभिप्राय को जानते हों, प्रत्याख्यान के क्रम को जानते हों तथा विश्वास करने योग्य हों, ऐसे ही व्यक्ति निर्यापक होते हैं,[१९७] क्योंकि यदि व्यक्ति (आचार्य) इन समस्त गुणों से युक्त नहीं होंगे तो क्षपक को समाधिमरण के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पथ पर अडिग रहने का सन्देश कैसे दे पाएगें?

(२८) प्रकाशन - आराधक के सामने अन्तिम आहार का प्रस्तुतीकरण प्रकाशन (पयासणा) है।[१९८] एक ही बार में क्षपक तीनों प्रकार के आहार का त्याग नहीं कर पाता है, क्योंकि ऐसा होने पर उसके मन में आहार के प्रति व्याकुलता बनी रहती है। अत: क्षपक के सामने उत्तम से उत्तम भोजन अलग-अलग पात्रों में सजाकर लाया जाता है। जब वह संतुष्ट हो जाता है तो उसके सामने अन्तिम आहार प्रस्तुत किया जाता है।[१९९]

(२९) हानि - क्षपक का आहार के प्रति आसक्ति आहार की अभिलाषा में दोष दिखाने पर भी खत्म नहीं होती है तो आचार्य समाधिमरण करनेवाले क्षपक को सब आहार दिखलाकर क्रम से एक-एक आहार छुड़ाते हुए उसके मन से आहारासक्ति को दूर करते हैं।[२००]

(३०) प्रत्याख्यान - तीनों प्रकार का आहार-त्याग प्रत्याख्यान कहलाता है। क्रम से आहार का त्याग करने के बाद क्षपक के उदर-मल का शोधन किया जाता है। यह प्रक्रिया हो जाने के बाद क्षपक जीवनपर्यन्त के लिए अशन, खाद्य और स्वाद्य तीनों प्रकार के समस्त आहार का त्याग कर देता है।[२०१]

(३१) क्षमापना - क्षमा याचना करना क्षमापना है।[२०२] क्षपक संघ के समस्त सदस्यों से क्षमायाचना करता है। क्षपक सबके पास क्षमा मांगने स्वयं नहीं जा सकता है। अत: उसकी तरफ से, सबकी ओर से क्षमा याचना का सन्देश लेकर आचार्य जाते हैं। अपने साथ उस क्षपक की पिच्छिका लेकर जाते हैं और संघ के समस्त सदस्यों को उसकी पिच्छिका दिखाकर कहते हैं कि वह आप सब से क्षमा मांगता है।

(३२) क्षमण - सबको क्षमा प्रदान करना क्षमण है। क्षपक सबसे क्षमा मांगने के बाद सभी को क्षमा प्रदान करता है। वह कहता है कि जिस संघ में मैंने इतने दिनों तक अपनी साधना को निर्विघ्न समाप्त किया है उसका मुझपर ऋण है। यह संघ कर्मों से छुड़ाता है, क्योंकि संघ गुणों का समूह है। संघ के सदस्यों द्वारा किए गये दोषों को मैं क्रोधादि दोषों से रहित होकर अपने मन से निकाल देता हूँ तथा सर्वसंघ को क्षमा प्रदान करता हूँ।[२०३]

(३३) अणुशिष्टि - निर्यापकाचार्य द्वारा जो शिक्षा दी जाती है, वह अणुशिष्टि है।[२०४] निर्यापकाचार्य संस्तर पर आरूढ़ क्षपक को शिक्षा देते हुए कहते हैं कि अब तुम्हारा मरण समय निकट आ गया है, तुम शुद्धिपूर्वक समाधि करो। तत्त्वश्रद्धान से मिथ्यादर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को सरलता से माया को और भोगों की निस्पृहता से निदान को दूर करके निःशल्य बनो। व्याधि, उपसर्ग, परीषह, असंयम, मिथ्याज्ञान, आदि विपदाओं का प्रतिकार करके वैयावृत्य करनेवाले वसति, संस्तर, पिच्छी आदि का शोधन करके सल्लेखना करो।

(३४) स्मरण - दुःख से पीड़ित होकर बेहोश हुए चेतनारहित आराधक को सचेत करना स्मरण है। वेदना, परीषह, उपसर्ग आदि से व्याकुल होकर क्षपक अपने वश में नहीं रहे तो आचार्य को क्षपक को समझाते हुए यह कहना चाहिए-हे ! सुन्दर आचारवाले। तुम दीनता और मूढ़ता का त्याग करो। चारित्र में बाधाडालने वाली छोटी या बड़ी व्याधियों से उत्पन्न असह्य वेदना को धैर्य से जीतो। राग और द्वेष का त्याग करो. यही शुद्ध चारित्र के लक्षण हैं। व्याधि को दूर करने के उपायों में आदर करनेवाले तथा व्याधि और वेदना से द्वेष करनेवाले का चारित्र नष्ट होता है। अतः चारित्र की शुद्धता के लिए इन विघ्नों को तुम्हें चेतना जगा कर जीतना चाहिए।[२०४]

(३५) कवच - दुःख दूर करने का गुण कवच है। वेदना, परीषहों को जीतकर क्षपक को ऐसा विचार करना चाहिए कि हमें जो दुःख हो रहा है वह पूर्व में किए गए कर्मों के कारण है और यही दुःख हमें समस्त कर्मों से मुक्ति दिलाएगा। अब इस समय के दुःख को कर्ज के समान समझकर उतारना अर्थात् ऋण मुक्त होना चाहिए और इससे अगर किसी प्रकार की वेदना होती है तो उससे दुःखी नहीं होना चाहिए।[२०५]

(३६) समता - समत्व भाव को अपनाना ही समता (समदा) है। कवच से उपगृहित होकर क्षपक इष्ट, अनिष्ट, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, इहलोक, परलोक, जीवन-मरण, मान-अपमान से मुक्त तथा राग-द्वेष से रहित हो जाता है।[२०७] वह उपर्युक्त समस्त परिस्थितियों में समता का भाव बनाए रखता है और इस तरह से अपने चित्त को निर्मल बनाता है, क्योंकि क्षपक यह जानता है कि राग-द्वेष सम्यक् रत्नत्रय को नष्ट कर देते हैं और इससे भक्तप्रत्याख्यान करने में दोष आ जाता है।

(३७) ध्यान - उत्तम संहननवाले के एकाग्र चिन्ता निरोध को ध्यान कहा जाता है।[२०८] चिन्ता निरोध में निरोध शब्द का अर्थ रोकना है। ध्यान की सहायता से क्षपक कषायों का नाश करता है, क्योंकि कषायों के संहार (नाश) करने में ध्यान आयुध का कार्य करता है।[२०९] ध्यान द्वारा समस्त कषायों का नाश करके क्षपक भक्तप्रत्याख्यान करने को तत्पर रहता है और जब वह बोलने में असमर्थ हो जाता है तब अपनी बातों को वह इशारे से बताता है, जैसे हाथों की अंजुलि बनाकर, भौं में गति देकर, मुठी बनाकर या सिर हिलाकर आदि। इससे आचार्य को यह ज्ञात हो जाता है कि क्षपक अपनी समाधिमरण की प्रक्रिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में रत है।[२१०]

(३८) लेश्या - कषाय से अनुरक्त मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। ध्यान तथा अन्य अधिकारों की सहायता से क्षपक समस्त प्रकार के कषायों से मुक्त हो समता का भाव प्राप्त करता है और विशुद्ध लेश्यापूर्वक क्रम से पीत, पद्म और शुक्ल[२११]- इन तीन शुभ लेश्या का परिणमन करता हुआ उपशम या क्षपक श्रेणी पर आरोहण करता है। इन लेश्याओं की सहायता से क्षपक समस्त परिग्रहों का सर्वथा के लिए त्याग कर देता है, जिससे लेश्या में विशुद्धि आ जाती है।[२१२]

(३९) फल - आराधना के फलस्वरूप जो मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति होती है, उसे आराधना का फल कहते हैं। आराधना करते हुए क्षपक केवलज्ञानी हो जाता है और वह सम्पूर्ण क्लेशों से मुक्त हो जाता है। उसकी जब मृत्यु होती है तो वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।[२१३]

(४०) परित्याग - क्षपक के देहत्याग करने के बाद जो क्रिया की जाती है, वह परित्याग है। क्षपक जब शरीर त्याग देता है अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है तो उसके शरीर को जंगल में मुनियों द्वारा ही विसर्जित करने की प्राचीन परम्परा थी। ऐसी स्थिति में उसके साथ मुनि के कुछ उपकरण भी रखे जाते थे। वर्तमान में तो गृहस्थों द्वारा दाह-संस्कार किया जाता है। क्षपक की जिस समय मृत्यु होती है उसे उसी समय वहाँ से हटा दिया जाता है। क्षपक के साथ कुछ मुनि के उपकरण भी रखे जाते हैं। अगर भक्तप्रत्याख्यान लेनेवाली कोई आर्यिका या कोई गृहस्था हो तो उसके लिए शिविका बनायी जाती है और उस शिविका में उसके शव को रखकर संस्तर के साथ उसे बाँध दिया जाता है। समय आदि का ध्यान करके क्षपक के शव के साथ पुतला भी रखा जाता है। जिस दिन क्षपक की मृत्यु होती है उस दिन संघ के समस्त सदस्यों को उपवास होता है। श्वेताम्बर परम्परा में भी यह मान्यता है?[२१४] अन्त में क्षपक की स्तुति कर ऐसा विचार किया जाता है कि वे धन्य हैं जिन्होंने भक्तप्रत्याख्यानमरण को पूर्ण किया और जो प्राप्त करने योग्य था उसे उन्होंने प्राप्त कर लिया अर्थात् उन्होंने सभी कुछ प्राप्त कर लिया है।[२१५] इस तरह से सविचार भक्तप्रत्याख्यानमरण का विवेचन चालीस अधिकार-सूत्रों की सहायता से यहाँ प्रस्तुत किया गया।

अविचार भक्तप्रत्याख्यान

अनायासमरण उपस्थित हो जाने पर व्यक्ति अविचार भक्तप्रत्याख्यानमरण करता है- *भगवती आराधना* में कहा गया है[२१६]- सर्प, आग, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

म्लेच्छ, मूर्च्छा या विसूचिका आदि रोग से तत्काल मरण का कारण उपस्थित हो जाए तब व्यक्ति को अविचार भक्तप्रत्याख्यानमरण ग्रहण करना चाहिए। इसके तीन भेद हैं[२१८]-

I. निरुद्ध, II. निरुद्धतर और III. परमनिरुद्ध ।

(I) निरुद्ध - तत्काल मरण का कारण उपस्थित हो जाए और व्यक्ति शक्तिहीन होने के कारण या रोगग्रस्त होने के कारण अपने ही संघ में रूका रहे, दूसरों से सहायता लेकर अपनी आराधनाओं का पालन करता हो, तो ऐसे व्यक्ति का मरण निरुद्ध भक्तप्रत्याख्यानमरण कहलाता है।[२१८]

(II) निरुद्धतर - तत्कालमरण का कारण उत्पन्न हो जाए और व्यक्ति का चित्त असह्य वेदना के कारण व्याकुल हो और उसे यह ज्ञात हो जाए कि उसकी आयु शीघ्र ही समाप्त होनेवाली है, तो ऐसे समय में उसे आचार्य के समीप अपने दोषों की सम्यक् रूप से आलोचना कर रत्नत्रय की आराधना में तत्पर होकर वसति, संस्तर, आहार, उपधि, शरीर तथा अन्य सांसारिक वस्तुओं से अपने ममत्व का त्याग करना चाहिए। शक्ति से हीन होने के कारण वह किसी और स्थान पर नहीं जा पाता है, फलतः जिस स्थान पर रुका रहता है वहीं भक्तप्रत्याख्यानमरण करता है। ऐसे व्यक्ति का मरण निरुद्धतर भक्तप्रत्याख्यानमरण कहलाता है।[२१९]

(III) परम निरुद्ध - सहसा मरण का कारण उपस्थित हो जाये, सर्प आदि के डँसने के कारण वाणी भी नष्ट हो जाए और व्यक्ति को यह अनुभव हो जाए कि उसकी आयु समाप्त होनेवाली है, तो उसे किसी आचार्य के पास जाकर अपने अपराधों की आलोचना करनी चाहिए। ऐसे व्यक्ति के मरण को परमनिरुद्ध भक्तप्रत्याख्यानमरण कहते हैं।[२२०]

२. इंगिनीमरण

इंगिनीमरण का अर्थ है- अपने (आत्मा को) इंगित अर्थात् सामर्थ्य के अनुसार स्थित होकर प्रवृत्ति करते हुए मरण स्वीकार करना। इसमें व्यक्ति अपनी शारीरिक चेष्टाओं को नियमित कर लेता है तथा ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि मैं इस विशेष क्षेत्र की सीमा से बाहर नहीं जाउँगा। इस मरण में व्यक्ति अपनी सेवा स्वयं करता है। किसी और की सेवा वह नहीं लेता है, क्योंकि किसी और की सेवा लेने का इस मरण में निषेध किया जाता है। जैन ग्रन्थों में इंगिनीमरण पर व्यापक रूप से चर्चा की गई है। अर्द्धमागधी कोश में इंगिनीमरण के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है[२२१]- शास्त्र में कही हुई हद (सीमा)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में रहकर वैयावृत्य कराये बिना संथारा करना इंगिनीमरण है।

समवायांग, भक्तपरिण्णा, प्रवचनसारोद्धार में इंगिनीमरण का उल्लेख मिलता है। आचार्य शीलांक *आचारांग* की टीका में इंगिनीमरण के स्वरूप का विवेचन इस रूप में करते हैं[२२२]- क्षपक नियमपूर्वक गुरु के समीप चारो आहार का त्याग करता है और मर्यादित स्थान में नियमित चेष्टा करता है। करवट बदलना, उठना या कायिक गमन (लघुनीति-बड़ीनीति) आदि भी स्वयं करता है। धैर्यवान, बलयुक्त मुनि सब कार्य अपने आप करता है, दूसरों की सहायता नहीं लेता। इस प्रकार विधिपूर्वक इंगिनीमरण करके चरमपद का अधिकारी बनता है। *गोम्मटसार* (कर्मकाण्ड) में इंगिनीमरण को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि अपने शरीर की सेवा-सुश्रुषा व्यक्ति अपने अंगों की सहायता से स्वयं करे, उसे किसी तरह का रोग हो जाए तो अपने रोग का उपचार भी स्वयं करे, उसका उपचार किसी अन्य से नहीं करावे इत्यादि। इन विधियों का पालन करते हुए यदि व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है, तो इस मरण को इंगिनीमरण कहा जाता है।[२२३]

भगवती आराधना में इंगिनीमरण पर गहराई से विचार करते हुए इसके महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार जिस व्यक्ति को इंगिनीमरण ग्रहण करना होता है वह अपने परिचितों को इसकी सूचना दे देता है (यथा-संघ में रहनेवाले संघ के सदस्यों को) और वह व्यक्ति इंगिनीमरण से संबंधित विविध प्रकार की साधना अपनाकर अपने चित्त में यह निश्चय करता है कि मैं इंगिनीमरण करूँगा। तब शुभ परिणामों की सरणी पर आरोहण करके तप आदि की भावना का चिन्तन करते हुए अपने शरीर तथा कषायों को कृश करता है।[२२४] रत्नत्रय में लगे दोषों की आलोचना करता है तथा अपने संघ से अलग होकर किसी एकान्त स्थान में निवास करने के लिए प्रस्थान करता है। वह एकान्त स्थान गाँव के बाहर, पहाड़ की गुफा, जंगल आदि हो सकता है। यदि वह व्यक्ति किसी संघ का आचार्य है तो अपने जगह किसी योग्य व्यक्ति को आचार्य पद पर आसीन करके संघ से प्रस्थान करता है। एकान्त स्थान पर वह इसलिए निवास करने चला जाता है, क्योंकि वहाँ उसके अपने शरीर के सिवाय कोई अन्य सहायक नहीं होता है।[२२५]

एकान्त स्थान में क्षपक यह चिन्तन करता रहता है कि इस संसार में मेरा कोई सहयोगी नहीं है और न मैं किसी का साथ दे सकता हूँ, क्योंकि प्रत्येक आत्मा अपने कृतकर्म के अनुसार सुख-दुःख का सेवन स्वयं करती है। कोई भी शक्ति उसमें परिवर्तन नहीं कर सकती है। स्वयं आत्मा ही अपने सम्यक् पुरुषार्थ के द्वारा उस कर्म-बन्धन को तोड़कर मुक्त बन सकती है। इसीलिए यह आत्मा अकेला ही सुख-दुःख का संवेदन करती है और कर्म-बन्ध का कर्ता एवं हर्ता भी अकेला ही होती है।[२२६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति क्रम से आहार को कम करते हुए अन्ततः समस्त प्रकार के आहारों का त्याग कर देता है।[२३७] *आचारांग* में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि क्षपक बिना स्वाद लिए ही प्रासुक एवं एषणीय या जैसा भी आहार मिलता हो ग्रहण करता है। इसमें यह बताया गया है कि साधक आहार को मुँह में रखकर एक ओर से दूसरी ओर न ले जाये अर्थात् जल्दी से जल्दी निगल जाये। इससे आहार के स्वाद की अनुभूति मात्र उसी तरफ वाले जीभ की होती है जिस तरफ आहार रहता है दूसरे भाग को नहीं। इस प्रकार अनासक्त भाव से वह आहार ग्रहण करता है, जिससे शरीर का रक्त और मांस सूख जाता है और अन्त में क्षपक आहार लेना भी बन्द कर देता है। साथ-ही वह समस्त परिग्रहों का भी त्याग कर देता है।[२३८]

समस्त परिग्रहों का त्याग करके धैर्य बल से युक्त वह क्षपक सब परिग्रहों को जीतता है और लेश्या-विशुद्धि से सम्पन्न होकर धर्मध्यान करता है।[२३९] वह विभिन्न प्रकार के तपों का अभ्यास करता है, जिसके प्रभाव से वह शुभ-अशुभ तथा हर प्रकार की सांसारिक, दैविक, वैक्रियकगृद्धिक (भूत, राक्षस), आहारिकगृद्धिक या चारणगृद्धिक अथवा क्षीरास्रवगृद्धिक से मुक्त हो जाता है।[२४०] इसी तरह से इंगिनीमरण करके कोई तो समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है और कोई मरकर वैमानिकदेव होता है।[२४१] श्वेताम्बर मान्य साहित्य में इंगिनीमरण के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि इस अनशन पर दृढ़ विश्वास होने से भयंकर उपसर्गों के आ पड़ने पर भी क्षपक अनुद्विग्न, कृतकृत्य एवं संसार-सागर से पारगामी होता है। एक दिन वह इस समाधिमरण के द्वारा अपने जीवन को सार्थक करके चरमलक्ष्य-मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। सचमुच समभाव और धैर्यपूर्वक इंगिनीमरण की साधना से अपने शरीर का तो विमोक्ष होता ही है, अनेकों मुमुक्षुओं एवं विमोक्ष साधकों के लिए वह प्रेरणादायक बन जाता है।[२४२] तात्पर्य यह है कि साधक भवयोनि के चक्र में न उलझकर सीधे निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

३. प्रायोपगमनमरण

प्रायोपगमनमरण में व्यक्ति अपनी समस्त क्रियाओं का निषेध कर देता है। वह अपने शरीर की सेवा न तो स्वयं करता है और न किसी अन्य से करवाता है। विभिन्न जैन ग्रन्थों में इस मरण की चर्चा की गई है। इसे पाटोपगमन या पादपोपगमन के नाम से भी जाना जाता है। *आचारांग* की अपनी व्याख्या में आत्माराम जी म० ने इसे पादोपगमनमरण[२४३] कहा है। इस संबध में मधुकर मुनि जी द्वारा सम्पादित *आचारांग* में लिखित विचारों को उद्धृत करना भी समीचीन जान पड़ता है[२४४]- दिगम्बर परंपरा में प्रायोपगमन के बदले प्रायोग्यगमन एवं पादपोपगमन के स्थान पर पादोपगमन शब्द मिलते हैं। भव का अंत करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के योग्य संहनन और संस्थान को प्रायोग्य कहते हैं। प्रायोग्य की प्राप्ति होना - प्रायोग्यगमन है। पैरों से चलकर योग्य स्थान में जो मरण स्वीकारा जाता है, उसे पादोपगमन कहते हैं।''

गोम्मटसार में प्रायोपगमनमरण पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जिस शरीरत्याग में व्यक्ति अपने तथा दूसरे के द्वारा उपचार (सेवा) नहीं करावे अर्थात् अपनी टहल न तो आप करे और न दूसरों के करायें ऐसे मरण को प्रायोपगमनमरण कहते हैं।[२३५]

आचारांग में कहा गया है कि इस मरण को अंगीकार करनेवाला साधक जीव जन्तुरहित स्थण्डिलस्थान का सम्यक् निरीक्षण करके वहाँ अचेतनवत स्थिर होकर पड़ा रहता है[२३६] जबकि *भगवती आराधना* में प्रायोपगमनमरण पर चर्चा करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने शरीर को सम्यक् रूप से कृश करता है अर्थात् उसका अस्थि चर्म मात्र ही शेष रह जाता है, वही प्रायोगमनमरण करता है। इस मरण में व्यक्ति तृण या घास के संथारे का प्रयोग नहीं करता है, क्योंकि इसमें व्यक्ति न तो स्वयं अपनी वैयावृत्य (सेवा) करवाता है और न दूसरों से कराता है,[२३७] परन्तु आचारांग में तृण अथवा घास के रूप में संथारे का प्रयोग करने का निर्देश दिया गया है।[२३८]

वह व्यक्ति जहाँ जिस स्थान पर पड़ा रहता है वहीं कटे हुए पेड़ के डाल की तरह पड़ा रहता है और सभी तरह की सांसारिक क्रियाओं से अपने को विरत कर लेता है। यदि कोई उसका अभिषेक करता है तो वह न तो उसको मना ही करता है और न ही ऐसा करने के लिए कहता है। कोई उसे किसी ऐसे स्थान पर उठाकर रख देता है जहाँ हिंसक पशु-पक्षी रहते हों, जिसके कारण उसकी मृत्यु होने की सम्भावना रहती है तो भी वह समभावपूर्वक उसी स्थान पर आयु के समाप्त होने तक पड़ा रहता है।[२३९] प्रायोपगमनमरण को स्वीकार करनेवाला क्षपक प्रारम्भ में ही यह निर्णय ले लेता है कि वह काष्ठवत् अपने स्थान पर यावत्जीवन पड़ा रहेगा किसी भी तरह के उपसर्गों से विचलित नहीं होगा। इस तरह व्यक्ति प्रायोपगमनमरण करता है।

प्रायोपगमनमरण वही क्षपक करता है जिसकी आयु अल्प रहती है। इसी कारण वह न तो स्वयं अपने शरीर की सेवा करता है और न दूसरों से करवाता है।[२४०]

प्रायोपगमनमरण के दो भेद किए गए हैं[२४१] -

१- निहार अथवा निर्हारिम तथा २- अनिहार अथवा अनिर्हारिम।

१. निर्हारिम- यह अनशन यदि ग्राम आदि (बस्ती) के अंदर किया जाता है तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्हारिम होता है अर्थात् प्राणत्याग के पश्चात् दाह-संस्कार किया जाता है।[२४३] क्षपक को कोई उसके उस स्थान पर से किसी कारणवश हटाकर दूसरे स्थान पर रख दे और उसका उस दूसरे स्थान पर मरण हो जाए तो वह निहार (निर्हारिम) प्रायोपगमनमरण कहलात है।[२४३]

२. अनिर्हारिम - प्राणत्याग के पश्चात् यदि दाह-संस्कार नहीं किया जाता है तो यह मरण अनिर्हारिम कहलाता है।[२४४] *भगवती आराधना* में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अगर क्षपक की मृत्यु उसके समाधि लेनेवाले स्थान पर ही हो तो उसका मरण अनिहार (अनिर्हारिम) प्रायोगमनमरण कहलाता है।[२४५]

आचारांग में प्रायोपगमनमरण पर चर्चा करते हुए कहा गया है कि इस मरण में मुख्य रूप से निम्नलिखित सात बातें विशेष आचरणीय होती हैं[२४६]-

१. निर्धारित स्थान से स्वयं चलित नहीं होना।

२. शरीर का सर्वथा व्युत्सर्ग करना।

३. परीषहों, उपसर्गों से जरा भी विचलित न होना, अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियों में समभाव रहना।

४. इहलोक और परलोक सम्बन्धी काम-भोगों में आसक्ति नहीं रखना।

५. सांसारिक वासनाओं और लोलुपताओं को नहीं अपनाना।

६. शासकों या दिव्य भोगों के स्वामियों के द्वारा भोगों के लिए आमन्त्रित किए जाने पर लालच नहीं करना।

७. समस्त प्रकार के पदार्थों से अनासक्त रहना।

समाधिमरण के इन तीनों प्रकार की चर्चा करने के बाद इन तीनों में मुख्य अन्तर क्या हैं? इस पर भी प्रकाश डाला गया है। *भगवती आराधना* के अनुसार[२४७]- भक्तप्रत्याख्यान मरण में क्षपक अपनी सेवा स्वयं करता है और दूसरों से भी करवाता है। इंगिनीमरण में अपनी सेवा स्वयं करता है, दूसरों से नहीं करवाता है तथा प्रायोपगमनमरण में क्षपक न तो स्वयं अपनी सेवा करता है और न ही दूसरों से सेवा करवाता है। यही उपर्युक्त तीनों में मुख्य अन्तर है।

आचार्य आत्मारामजी ने भी इन तीनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है[२४८] भक्तप्रत्याख्यान में केवल आहार एवं कषाय का त्याग होता है, इसमें साधक एक स्थान से दूसरे स्थान में आ जा सकता है। परन्तु इंगिनीमरण में भूमि की मर्यादा होती है, वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मर्यादित भूमि (निर्धारित सीमा क्षेत्र) से बाहर आ जा नहीं सकता है। पादोपगमन (प्रयोपगमन) में पेशाब, शौच आदि आवश्यक क्रियाओं के अतिरिक्त शारीरिक अंग-उपांगो का संकोच-विस्तार एवं हलन-चलन आदि सभी क्रियाओं का त्याग होता है।

समाधिमरण के उपर्युक्त तीनों भेद- भक्तप्रत्याख्यानमरण, इंगिनिमरण तथा प्रायोपगमनमरण-पर विस्तार से चर्चा की गई है। मरण के इन तीनों ही प्रकार में साधक यावज्जीवन के लिए चतुर्दिक या त्रिविध आहार का त्याग करके समभावपूर्वक मृत्यु आगमन की प्रतीक्षा करता है। भक्तप्रत्याख्यानमरण करनेवाला साधक भोजन का त्याग करता है तथा अपनी सेवा-सुश्रुषा एवं आवश्यक कार्यों का सम्पादन स्वयं भी करता है एवं आवश्यकता होने पर अन्य व्यक्तियों से भी सहायता लेता है। भक्तप्रत्याख्यानमरण की चर्चा करते हुए उसके दो रूपों-सविचार और अविचार पर भी विचार किया गया है। सविचार आयुकाल अधिक रहने पर तथा अविचार आयुकाल कम रहने पर किया जाता है। सविचार भक्तप्रत्याख्यानमरण की विवेचना चालीस अधिकारों/द्वारों की सहायता से की गई है। इन अधिकारों/द्वारों में सविचार भक्तप्रत्याख्यान लेनेवाले की योग्यता से लेकर उसकी मृत्यु होने के समय तक क्या-क्या करना चाहिए और क्या-क्या नहीं करना चाहिए इस पर विस्तार से विवेचन किया गया है। इस काल में किस तरह का आचरण करना चाहिए, कैसे कषाय एवं काय को क्षीण करना चाहिए, किस तरह के संथारे का उपयोग करना चाहिए, किस तरह की भावना मन में रखनी चाहिए तथा कैसे आचार्य के पास अपने गुण-दोष की आलोचना करनी चाहिए आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। अन्त में आराधक जब अपने शरीर का त्याग कर देता है, तब किस प्रकार से उसका अन्तिम संस्कार करना चाहिए इस पर भी चर्चा की गई है।

इंगिनीमरण लेनेवाला व्यक्ति स्थान-विशेष को इंगित करके उसी सीमा क्षेत्र में विहार करते हुए अपनी आवश्यक क्रियाओं का सम्पादन करता है। अपने कार्यों को पूर्ण करने के लिए वह स्वयं उत्तरदायी होता है। इस कार्य के लिए वह किसी अन्य व्यक्ति से मदद नहीं लेता है। इस मरण को स्वीकार करनेवाला साधक नियत क्षेत्र में संथारे पर आरूढ़ होकर काय और कषाय को क्षीण करते हुए शान्त चित्त से मृत्यु आगमन की प्रतीक्षा करता है।

प्रायोपगमनमरण करनेवाला व्यक्ति कटे हुए पेड़ के डाल की भाँति एक स्थान पर पड़ा रहता है। अपनी आवश्यक क्रियाओं का सम्पादन करने के लिए वह न तो स्वयं अपनी सहायता करता है और न किसी दूसरों से सहायता लेता है, परन्तु इस अनशनमरण में एक छूट यह है कि व्यक्ति मल-मूत्र त्याग करने के लिए जीवादि प्राणियों से मुक्त स्थानों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का उपयोग कर सकता है। इसके बाद वनस्पति की तरह अपने समस्त शरीर को निश्चेष्ट करके एक ही स्थान पर शान्त भाव से स्थिर रहकर देहपतन की प्रतीक्षा करता है।

ये तीनों ही प्रकार के मरण श्रेष्ठ हैं तथा इन तीनों की सहायता से मुक्ति सम्भव है, लेकिन व्यक्ति को अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार इन तीनों में से किसी एक प्रकार के मरण की विधि को चुनकर उनका अनुकरण करना चाहिए। साधना तथा संयम की उग्रता को लेकर भक्तप्रत्याख्यानमरण श्रेष्ठ है, इंगिनीमरण श्रेष्ठतर है तथा प्रायोपगमनमरण श्रेष्ठतम है। क्योंकि जहाँ भक्तप्रत्याख्यानमरण में व्यक्ति अपनी सेवा स्वयं करता है और दूसरों से भी करवाता है एवं वह कहीं भी विहार कर सकता है, वही इंगिनीमरण लेनेवाला व्यक्ति एक नियत क्षेत्र में ही विहार कर सकता है तथा अपनी सेवा स्वयं करता है किसी अन्य की सहायता नहीं लेता है। इस कारण इंगिनीमरण भक्तप्रत्याख्यानमरण से श्रेष्ठ है। प्रायोपगमनमरण में व्यक्ति न तो स्वयं अपनी सेवा करता है और न दूसरों से ही करवाता है। जहाँ तक विहार करने का प्रश्न है- इस मरण को अंगीकार करनेवाला काष्ठवत एक जगह पड़ा रहता है। देह का अधिक हलन-चलन नहीं करता है, इसी कारण प्रायोपगमनमरण इन तीनों में ही श्रेष्ठतम है। मरण की इन तीन विधियों का वर्णन इस उद्देश्य से किया गया है कि व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुरूप इन तीनों में से किसी एक विधि को अपनाकर मृत्यु ग्रहण करे और मोक्ष की प्राप्ति करे। क्योंकि यह कहा गया है कि पण्डितमरण की इन तीन विधियों में से किसी एक को अपनाने से व्यक्ति कर्मावरण को क्षीण कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।

समाधिमरण के साधनाकाल का विभाजन

भक्तप्रत्याख्यान द्वारा समाधिमरण प्राप्त करनेवाले के लिए कहा गया है कि वह जघन्य (कम से कम) ६ मास, मध्यम ४ वर्ष और उत्कृष्ट १२ वर्ष तक तप करे।[२४९] *भगवती आराधना* में भी इसें पूर्ण करने का काल बारह वर्ष माना गया है।[२५०] इन बारह वर्षों का उपयोग किस प्रकार किया जाय इस पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है, प्रथम-चार वर्ष नाना प्रकार के काय क्लेशों को दूर करने में बिताया जाता है, बाद के चार वर्ष में विभिन्न तरह के भोज्य पदार्थों का त्याग करके शरीर को सुखाने में बिताया जाता है।[२५१] शेष चार वर्षों में से दो वर्ष कांजी और रस व्यंजन आदि से रहित आहार खाकर व्यतीत किया जाता है। एक वर्ष मात्र कांजी आहार लिया जाता है। अन्तिम बारहवें वर्ष के प्रथम छह महीने में मध्यम तप किया जाता है तथा अन्तिम छह महीने उत्कृष्ट तप करके बिताया जाता है।[२५२] इस तरह से व्यक्ति बारह वर्षों का सम्पूर्ण समय जघन्य (कम से कम) मध्यम और उत्कृष्ट तप करके बिताता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ

१. णाऽणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि । आचारांगसूत्र, १/४/२/१३४

२. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः । गीता, २/२७

३. जे पावकम्मेहि धणं मणुस्सा समाययन्ती अमइं गहाय।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे वेराणुबद्धा नरयं उवेन्ति ॥ उत्तराध्ययन ४/२.

४. ताले जह बंधणच्चुते, एवं आउखयम्मि तुट्टती । सूत्रकृतांगसूत्र १/२/१/९४

५. मा णं तुमे देवाणुप्पिया.....तं सव्वं निवारेमि ॥ ज्ञाताधर्मकथाङ्ग, ५/१७.

६. तए णं से.....मम जीवियंतकरणं मच्चुं एज्जमाणं निवारेसि ॥ वही, ५/१८.

७. तए णं से काहे.....णण्णत्थ अप्पणो कम्मक्खएणं ॥ वही, ५/१९.

८. प्रश्नव्याकरणसूत्र, संपा०- श्री अमर मुनि, पृ०-३५.

९. भगवती आराधना, पृ०-४८२-४८३.

१०. माकेण्डेयपुराण १०/३/५,७

११. मतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मतः ।
नानायोनिसहस्राणि मया दृष्टान्यनेकधा ॥ पद्मपुराण, २/३९,

१२. न कुर्वन्ति महात्मानो व्यर्थमेव न संशयः।
पञ्चभूतात्मकं कायं केवलं सन्धिजर्जरम्॥ वही, १/२/१४.

१३. *Death and Modern Man*, P. 1

14. Weismann- *Essay upon Heredity*, Vol- I. p. 111.

15. La Vie C' est La mort- Clayde Bernard.

16. Life is from the first, a continuous transition form living to death and death is 'immanent' in life. *Death and Modern Man*, P.6

17. "Man will never conquer death" It is the price we have to pay forour ability, the compactness of our body, the beauty of our consciousness. Carrel, Alexis, *The Mystery of Death*, P. 25. New York, 1955

18. Death in commonly and very truly called the king of terrors. William Sherlock.

19. Where as death fomerly was conceived of as catastrophe, the result of a collision between the mechanical outside world and the organism. death is seen now as a process that the organism brings about by itself. *Death and Modern Man*, p. 7.

20. A man as long as lives he suffers from the fear of death.Prof. Ludwig R. Muller.

21. The fear of death constitutes an essential reaction of all human beinge. Dr. Frank Caprio, *Death and Modern Man*, P. 70.

22. Man shuns death and is sad about it- Thomas Acquino.

23. The enevitable end of human life. E.H. Connel *Death and Modern Man*, P. 117.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४. नए धर्म की खोज, पृ०-१०२.
२५. वही, पृ०-१०८.
२६. वही, पृ०-१०८-१०९.
२७. परमसखा मृत्यु, पृ०-१७.
२८. उद्धृत, मृत्यु- शिखर महोत्सव, पृ०-१३.
२९. वही, पृ०-१४.
३०. वही, पृ०-१४.
३१. वही, पृ०-१४.
३२. For death is to be defined as the end of an individual life process and this is as much as an end through division of the cell as it is with the death of the organism. Erhenberg. *The Running Toward Death*. P. 559-566
33. *Death and Modern Man*, p. 1.
34. The sun of functions which resist death. Xavier Wachet *Death and Modern man*, P. 1.
35. Death that is the end of life, an attribute of all organisms. An enimen senumber of low organisms do not die. although they are easily destroyed. being Killed by hest. poison etc. As long as those Conditions which are necessary for their life are fulfilled. they continiue to live.
I consider that death is not a primary necessity, but that it has been seconderily acquired as an adoptation. I beleived that life is endowed with a fixed duration. August Weismann. *Essays upon Heredity*. Vol. I.P. 24
३६. सन्तिमे य दुवे ठाणा अक्खाया मारणान्तिया ।
अकाम-मरणं चेव सकाम-मरणं तहा ।। उत्तराध्ययन, ५/२
३७. तिविहं भणंति मरणं बालाणं बालपंडियाणं च।
तइयं पंडियमरणं जं केवलिणो अणुमरंति।। मूलाचार (पूर्वार्द्ध), ५९.
३८. मरणं बालबालाख्यं निन्द्यं बालाह्वयं ततः।
बालपण्डितनामाद्यं त्रिविधं पण्डिताभिधम्।। समाधिमरणोत्साहदीपक, ११
द्विरूक्तं पण्डितं चैते सप्त भेदा मता मृतेः।
दुर्दृशां बालबालं कुमरणं स्यात्कुजन्मदम्।। वही, १२.
३९. वही, पृ० ८.
४०. वही, पृ० ८-९.
४१. बालपंडितसंज्ञं श्रावकाणां दृग्व्रतात्मनाम् । वही, १३.
४२. वही, पृ०-९.
४३. वही, पृ०-९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४४. वही, पृ०- ९.

४५. केवलज्ञानिनां पण्डितपण्डिताह्वयं महत् ।
शुभाशुभानि सप्तेति मरणान्युक्तानि चागमे ।। वही, १५.

४६. समाधिमरणोत्साहदीपक, पृ०- १५.

४७. पंडितपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव ।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसति ।। वही, पृ०-१०
सम्यगमृत्यूनमून ज्ञात्वा सर्वयत्नेन धीधनाः ।
मरणं पण्डिताभिक्ष्यं साधयन्तु शिवाप्तये ।। वही, पृ०- १६

४८. दुविहं मरणे पण्णत्ते, तं जहा- बालमरणे य पंडियमरणेया
-व्याख्याप्रज्ञप्ति (मधुकर मुनि) , २/१/२५, पृ०- १८०

४९. स्थानांग (मधुकर मुनि), २/४/४११, पृ०- ८८.

५०. व्याख्याप्रज्ञप्ति (मधुकर मुनि) २/१/२६
दो मरणाइं समणेणं भगवता महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णो णिच्चं वण्णियाइं णो णिच्चं अब्भणुण्णायाइं। भवंति, तं जहा बलयमरणे चेव वसट्टमरणे चेव ।।
स्थानांगसूत्र, २/४/४११
एवं णियाणमरणे चेव तब्भवमरणे चेव, गिरिपडणे चेव, तरुपडणेचेव, जलपवेसे चेव ।। - वही, २/४/४१२
दो मरणाइं समणेणं भगवता महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णो णिच्चं वण्णियाइ णो णिच्चं कित्तियाइं णो णिच्चं बुइयाइं ।।
वही, २/४/४१३.

५१. उत्तराध्ययन (निर्युक्ति व्याख्या सहित), भाग २, अध्याय ५, पृ० २३७-३८

५२. व्याख्याप्रज्ञप्ति २/१/२७; तं जहा - पाओवगमणे चेव, भत्तपच्चक्खाणे चेव।।
स्थानांगसूत्र २/४/४१४

५३. व्याख्याप्रज्ञप्ति २/१/२८; स्थानांगसूत्र, २/४/४१५

५४. समवायांगसूत्र, (मधुकर मुनि.) गाथा १२१, पृ०-५३.

५५. मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थंकरेहिं जिणवयणे ।। भगवती आराधना, २५.

५६. आयुषः अनुभवनं जीवितं, तच्च प्रतिसमयं जीवितभंगस्य मरणं । अतो मरणमपि अत्र अर्वाचि ।।- वही, पृ०- ५१.

५७. समवायांगसूत्र, पृ०- ५३.

५८. भवान्तरप्राप्तिरनन्तरोपसृष्टपूर्वभवविगमनं तद्भवमरणं । तत्त्वनंतशः प्राप्तं जीवेनेति ज्ञातव्यं तेन तद्भवमरणं न दुर्लभम् ।। भगवती आराधना, पृ०-५३.

५९. समवायांगसूत्र, पृ०-५३-५४.

६०. यो यादृशं मरणं सांप्रतमुपैति तादृगेव यदि मरणं भविष्यति तदवधिमरणं ।
तद्द्विविधं देशावधिमरणं सर्वावधिमरणं इति ।। वही, पृ०-५३.

६१. समवायांगसूत्र, पृ०-५३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६२. प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैर्यथाभूतैः सांप्रतमुपैति मृतिं तथाभूतां यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यंतमरणं ।। भगवती आराधना, पृ०-५३

६३. समवायांगसूत्र, पृ०-५३.

६४. बालस्य मरणं बालमरणं । भगवती आराधना, पृ०-५३.

६५. समवायांगसूत्र पृ०-५४.

६६. व्यवहारपंडितः, सम्यक्त्वपंडितः, ज्ञानपंडितश्चारित्रपंडितः इति चत्वारो विकल्पाः। इह पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्रपंडितानां अधिकारः ।- भगवती आराधना, पृ० ५४-५५

६७. समवायांगसूत्र, पृ०-५४.

६८. निर्वाणमार्गप्रस्थितात्संयतसार्थाद्यो हीनः प्रच्युतः सोऽभिधीयते ओसण्ण इति । तस्य मरणं ओसण्णमरणमिति। ओसण्णग्रहणेन पार्श्वस्थाः स्वच्छंदाः, कुशीलाः संसक्ताश्च गृह्यन्ते ।। भगवती आराधना, पृ०-५५.

६९. सम्यग्दृष्टेः संयतासंयतस्य बालपंडितमरणं यतोसावुभयरूपो बालः पंडितश्च। स्थूलकृतात्प्राणातिपातादेर्विरमणलक्षणं चरित्रमस्ति दर्शनं च ततश्चारित्रपंडितो दर्शनपंडितश्च। कुतश्चित्सूक्ष्मादसंयमादनिवृत्त इति चारित्रबालः। वही, पृ०-५६.

७०. समवायांगसूत्र, पृ०-५४.

७१. पार्श्वस्थादिरूपेण चिरं विहृत्य पश्चादपि आलोचनामंतरेण यो मरणमुपैति तन्मायाशल्यं मरणं तस्य भवति। एतच्च संयते, संयतासंयते, विरतसम्यग्दृष्टावपि भवति । भगवती आराधना, पृ०-५७.

७२. समवायांगसूत्र, पृ०-५३.

७३. सम्यक्त्वपंडिते, ज्ञानपंडिते, चरणपंडिते च बलायमरणमपि संभवति। ओसण्णामरणं ससल्लमरणं च यदभिहितं तत्र नियमेन बलायमरणम् । तद्व्यतिरिक्तमपि बलायमरणं भवति। निःशल्यः संविग्नो भूत्वा चिरं रत्नत्रयप्रवृत्तस्य संस्तरमुपगतस्य शुभोपयोगात्पलायमानस्य भावस्य शुभस्यानवस्थानात्। भगवती आराधना - ५७.

७४. समवायांगसूत्र, पृ०-५३.

७५. वसट्टमरणं नाम - आर्ते रौद्रे च प्रवर्तमानस्य मरणं ।भगवती आराधना पृ०-५७

७६. समवायांगसूत्र, पृ० - ५३.

७७. .....सुलेश्यः प्रणापाननिरोधं करोति यत्तद्विप्पाणसं मरणमुच्यते । भगवती आराधना, पृ०-६०.

७८. समवायांगसूत्र, पृ०-५४.

७९. शस्त्रग्रहणेन यद्भवति तद्गिद्धपुट्ठमित्युच्यते । भगवती आराधना। पृ०-६०.

८०. समवायांगसूत्र, पृ०-५४.

८१. ववहारे सम्मत्ते णाणे चरणे य पंडिदस्स तदा । पंडिदमरणं भणिदं चदुव्विधं तब्भवंति हि ।। भगवती आराधना, पृ०-६१.

८२. To want to live a man must be able to satisfy his wants. If he is not able to do this then life loses its worth for him. He becomes dissatisfied

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

and unhappy and he finally seeks death of his own free will.-Thomas G. Masaryk. Suicide and Meaning of Civilization. pp. 11-15, 22-30, 30-44, 44-58.

83. The basic influences that have been operating in the mind of the people taking Self-destructions are---
(a) The factors belonging to the social realm; religion, marital status, family organisation, mode of life (Whether rural or Urban), mode of occupation (Wether military or civilian).
(b) Those that are as such non-social, and among the latter we may, further differentiate (i) the physical factors (seasons, temperature etc.: (ii) the biologi cal factors (sex, race, age) and (iii) the psychological factors (mental disease),
- Dr. Upendra Thakur, The History of suicide in India. P. 14.

84. Disappointments and frustration in personal life, emotional or sentimental breakdown in married life or love- affairs unexpected and unbearable economic loss in trade or business, sudden and hearth breaking grief brought on by the death of the nearest and dearest, appearance of some disease which incurable or socially reprehensible, sudden development of melencholia or depression either due to heredity or other hidden causes, public disgrace or dishonour of one's self or the family, an unexpected shock due to failure to realise an ambition and many other unusual factors may be regarded, either individually or cumulatively. - T.K. Tukol, Sallekhana is not suicide. p.71.

८५. अणुव्रत, अप्रैल, १९८८, पृ०-२४.

८६. डॉ० शाह बिनभाई डी, सुसाइड : दी रीजन ह्वाई, इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया, १८ नवम्बर, १९७३, पृ०-३३-३५.

८७. न केवलमिह सेवनं परिगृह्यते? किं तर्हि! प्रीत्यर्थोऽपि । यस्मादसत्यां प्रीतौ बलान्न सल्लेखना कार्यते ।।सर्वार्थसिद्धि, ७/२२/४.

८८. यस्मात् असत्यां प्रीतौ बलान्न सल्लेखना कार्यते, सत्यां हि प्रीतौ स्वयमेव करोति।। - तत्त्वार्थवार्तिक, ७/२२ पृ० - ३६३

८९ . ... न तथा सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति ततो नात्मवधदोषसंस्पर्शः ।। वही, ७/२२/७
.... अर्हत्प्रणीतां सल्लेखनां कुर्वन् जीवितमरणानभिसन्धानात् अनभिसंहितात्मीयमरण संबन्धेऽपि रागद्वेषाभावात् नात्मवधकः ।। वही, ७/२२/९

९०. भगवती आराधना, गाथा २४६-२४९.

९१. न चात्मघातोऽस्ति वृषक्षतो वपुरुपेक्षितुः ।
कषायावेशतः प्राणान् विषाद्यैर्हिंसतः स हि।। - धर्मामृत (सागार), ८/८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देहादिवैकृतैः सम्यङ् निमित्तैस्तु सुनिश्चिते ।
मृत्युवाराधनामग्नमतेर्दूरे न तत्पदम् ।। वही, ८/१०

९२. रागद्वेषमोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्युपकरणप्रयोगवशादात्मानं घ्नतः स्वघातो भवति। न सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति ततो नात्मवधदोषः ।
सर्वार्थसिद्धि, पृ०-३६३

९३. समाधिमरणोत्साहदीपक की प्रस्तावना - डॉ० दरबारीलाल कोठिया, पृ०-३९.

९४. जैनमित्र, वर्ष ५७, पृ०-१३९.

९५. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा, तत्त्वार्थसूत्र, ७/८.

९६. जैनमित्र, वर्ष ९७ , पृ०-१३६.

९७. मरण आत्मा का अलंकरण, ले०- श्री नानालाल जी म० सा०, उद्धृत-महावीर मिशन, तपस्वी बद्रीप्रसाद विशेषांक, फरवरी १९८८, पृ०-७९.

98. The person adopting the vow wants to be liberated from the bondage of *karma* which has been responsible for all his ills in the world and for births and rebirths in different states of *gatis*. Contrary to the suicidal intention, there is no desire to put an end to life immediately by some violent or objectionable means. There is no question of escaping from any shame, frustration or emotional excitement. -T.K. Tukol, Sallekhana is not Suicide, p.87.

99. The vow is to be adopted "as a religious duty" (or to earn religious merit) during a calamity, severe famine, old age or illness from which there is no escape or against which there is no remedy. ibid, p. 87.

100. The mental condition is one of absolute freedom from passion or attachment .... He should have no sense of possesiveness. He should put an end to all family or friendly ties by disclosing his intentions and by asking their forgiveness with an open mind. Ibid, p. 88

101. Not the violent means of hanging, poison, stabbing, shooting or drawing in deep waters or jumping from the precipice. He has to fast according to well-regulated principles. He has to increase his days of fasting gradually..... He should neither has ten nor delay death. He should wait for the hour calmly, getting engrossed in deep meditation with complete detachment and inward concentration. ibid, P- 88.

102. The consequences of death by *Sallekhanā* are neither hurtful nor sorrowful to any, because before adopting the vow, all kinds of ties have been terminated with common consent. The immediate consequence is one evoking reverence for the dead and the other of strengthening the faith of devotees in religion. ibid, P. 88 - 89.

१०३. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग २, पृ० ४४०-४४१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०४. परमसखा मृत्यु, पृ०-४३.
१०५. पश्चिमीय आचार विज्ञान का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ०-२७३.
१०६. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, पृ०-४४४-४४५.
१०७. भूदं तु चुदं चइदं चदंति तेधा चुदं सपाकेण ।
पडिदं कदलीघादंपरिच्चागेणूणय होदि ॥ (कर्मकाण्ड) गोम्मटसार ५६
कदलीघादसमेदं चागविहीणं तु चइदमिदि होदि ।
घादेण अघादेण व पडिदं चागेण चत्तमिदि ॥ वही, ५८।
विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं ।
उस्सा साहाराणं णिटोहदो छिज्जदे आऊ ॥ वही, ५७।
१०८. वही, -५९।
१०९. भगवती आराधना, -२८।
११०. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कध, अष्टम अध्ययन
१११. समवायांगसूत्र, १७/२१.
११२. स्थानांगसूत्र, २/४१६.
११३. उत्तराध्ययनसूत्र, ५/३२.
११४. भगवई (आ० तुलसी), २/४९, १३/१४३, १४५, १४/८२,८३, १७/४८
११५. ठाणं (आ० तुलसी) १,२/४१४, १७/४८।
११६. समवायांग (आ० तुलसी, १७/९ ।
११७. भत्तपइण्णा इविहि जहण्णमंतोमुहुतयं होदि ।
वारसवरिसा जेट्ठा तम्मज्झे होदिमज्झिमया ॥ गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, ६०.
११८. तेष्वन्यतमेन त्यक्तं विधिना कायकषायसल्लेखनापुरःसरं प्रव्रज्यातःप्रभृति निर्यापक-गुरुसमाश्रयण दिवसमन्त्यं कृत्वा मध्ये प्रवृत्तान् ज्ञानदर्शनचारित्राणां अतिचारानालोच्य तदभिमतप्रायश्चित्तानुसारिणः द्रव्यभावसल्लेखनामुपगतस्य त्रिविधाहाराप्रत्याख्यानादिक्रमेण रत्नत्रयाराधनं भक्तप्रत्याख्यानं । भगवती आराधना। पृ०-४७१.
११९. उत्तराध्ययनसूत्र, ३०/१२.
१२०. भत्तपरिन्नामरणं दुविहं सवियार मो ? अवीआरं २११, भत्तपरिन्नापइण्णं, १०
१२१. दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचारं ।
सविचारमणागाढे मरणे सपरक्कमस्स हवे ॥ भगवती आराधना। ६४.
१२२. भत्तपरिन्ननापइण्णं, १०, भगवती आराधना, ६४, ६४।
१२३. तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होई अगाढ़ो ।
अपरक्कम्मस्स मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥ भगवती आराधना, २००५. भत्तपरिन्नापइण्णं, ११.
१२४. सविचारभत्तपच्चक्खाणस्सिणमो उवक्कमो होई ।
तत्थ य सुत्तपदाइं चत्तालं होंति णेयाइं ॥ भगवती आराधना, ६५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरिहे लिंगे सिक्खा विणय समाधी य अणियदविहारे ।
परिणामोवधिजहणा सिदी ये तह भावणाओ य ।। वही, ६६
सल्लेहणा दिसा खामणा य अणुसिट्ठि परगणे चरिया ।
मग्गण सुट्ठिय उवसंपया य पडिछा य पडिलेहा ।। भ० आ०, ६७.
आपुच्छा य पडिच्छणमेगस्सालोयणा य गुणदोसा ।
सेजा संथारो वि य णिज्जवग पयासणा हाणी ।। वही, ६८.
पच्चक्खाणं खामणं खमणं अणुसट्ठिसारणाकवचे ।
समदाज्झाणे लेस्सा फलं विजहणा व णेयाइं ।। वही, ६९.

१२५. अर्हः योग्यः । वही, पृ०- १०५.
१२६. वाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य सामण्णजोग्गहाणिकरी ।
उवसग्गा वा देवियमाणुसतेरिच्छया जस्स ।। वही, ७०.
१२७. चक्खुं दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुब्बलं जस्स ।
जंघा बलपरिहीणो जो ण समत्वो विहरिदुं वा ।। वही, ७२.
१२८. उस्सरइ जस्स चिरमवि सुहेण सामण्णमणदिचारं वा ।
णिज्जावया य सुलहा दुब्भिक्खभयं च जदि णात्थि ।। वही। ७४.
तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो ।
सो मरणं पच्छिंतो होदि हु सामण्णणिव्विण्णो ।। वही, ७५.
१२९. चिह्नं करणं इति । वही, पृ०-१०५
१३०. उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव ।
अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ।। वही, ७६.
१३१. आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा महड्ढिओ हिरिमं ।
मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं ।। वही, ७८.
१३२. इत्थीवि य जं लिंग दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा ।
तं तत्थ होदि हु लिंगं परित्तमुवधि करेंतीए ।।८०।। वही,
१३३. निउणं जीवादीनर्थान्प्रमाणनयानुगतं निरूपयतीति निपुणं । वही, पृ०-१३१.
१३४. सुद्धं पूर्वापरविरोधपुनरुक्तादिद्वात्रिंशद्दोषवर्जितत्वात् शुद्धं। वही, पृ०-१३१
१३५. विपुलं निक्षेपः एकार्थः निरुक्तिः अनुयोगद्वारं नयश्चेति ।
अनेक विकल्पेन जीवादीनर्थान्सप्रपंचं निरुपयतीति विपुलं ।। वही, पृ०-१३१.
१३६. अर्थगाढत्वान्निकाचितं अर्थनिचितं। वही, पृ०- १३१.
१३७. अणुत्तरं च न विद्यते उत्तरं उत्कृष्टमस्मादित्यनुत्तरं । वही, पृ०-१३१.
१३८. सव्वहिदं सर्व प्राणहितं । वही, पृ०-१३१.
१३९. कलुसहरं द्रव्यकर्मणां ज्ञानावरणादीनां अज्ञानादेर्भावमलस्य च विनाशनात् कलुषहरं। वही, पृ०-१३१.
१४०. विनयः मर्यादा । वही, पृ०- १०५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४१. काले **विणये उवधाणे** बहुमाणे तहेव णिण्हवणे।
वंजण **अत्थ तदुभये विणओ** णाणम्मि अट्ठविहो ।। वही, ११२.

१४२. परिवर्जनीयत्वेन **निर्दिष्टं** कालं संध्यापर्वदिग्दाहोल्कापातादिकं परिहृत्याध्ययनं कर्म **विनयति इति विणए इति** प्रथमान्तः। वही, पृ०-१४३.

१४३. .....**श्रुतश्रुतधरभक्तिरिति** यावत् । वही, पृ०-१४३.

१४४. उवहाणे **अवग्रहः** । यावदिदमनुयोगद्वारं निष्ठामुपैति तावदिदं मया न भोक्तव्यं । वही, पृ०-१४४.

१४५. बहुमाणे **सन्मानं** । **शुचेः** कृतांजलिपुटस्य अनाक्षिप्तमनसः सादरमध्ययनं । वही, पृ०-१४४.

१४६. अणिण्हवणे **अनिह्नवश्च** निह्नवोऽपलापः। कस्यचित्सकाशे श्रुतमधीत्यान्यो गुरुरि **त्यभिधानमपलापः** । वही। पृ०-१४४.

१४७. .....**न परकृतं शब्दश्रुता** विपरीतपाठे । वही, पृ०-१४५.

१४८. व्यंजनशुद्धिस्तदर्थनिरूपणाया अवैपरीत्यं अर्थशुद्धिः । वही, पृ०- १४५.

१४९. तदुभयशुद्धिर्नाम **तस्य**-व्यंजनस्य अर्थस्य च शुद्धिः । वही, पृ०- १४५.

१५०. समाधानं **मनसः एकताकरणं** शुभोपयोग शुद्धे वा ।। वही, पृ०-१०६.

१५१. चालणिगयं **व उदयं सामण्णं** गलइ अणिहुदमणस्स ।
कायेण य **वायाए** जदि वि जधुत्तं चरदि भिक्खू ।। वही, १३५,

१५२. अनियतक्षेत्रवासः **अनियतविहारः** । वही, पृ०- १०६.

१५३. दंसणसोधी ठिदिकरणभावणा आदिसयत्तकुसलत्तं ।
खेत्तपरिमग्गणावि य अणियदवासे गुणा होंति ।। वही, १४४,

१५४. स्वेन **कर्तव्यस्य कार्यस्यालोचनमिह** परिणाम । वही, पृ०-१०६.

१५५. अणुपालिदो य दीहो परियाओ वायणाय मे दिण्णा।
णिप्पादिदा य सिस्सा सेयं खलु अप्पणो कादुं । वही, १५६.

१५६. उपाधिः **परिग्रहः तस्य** जहणा त्यागः । वही, पृ०- १०६.

१५७. संजमसाधणमेत्तं **उवधिं** मोत्तूण सेसयं उवधिं ।
पजहदि **विसुद्धलेस्सो** साधू मुत्तिं गवेसंतो ।। वही, १६४

१५८. सिदी य **श्रितिः श्रेणिः** सोपानमिति यावत् । वही, पृ०-१०६.

१५९. जा उवरि **उवरि गुणपडिवत्ती** सा भावदो सिदी होदि ।
दव्वसिदी **णिस्सेणी** सोवाणं आरुहंतस्स ।। वही, १७३.
सल्लेहणं करेंतो सव्वं सुहसीलयं पयहिदूण ।
भावसिदिमारुहिता **विहरेज्ज** सरीरणिव्वण्णो ।। वही, १७४.

१६०. भावनाभ्यासः **तत्र असकृत्प्रवृत्तिः** । वही, पृ०-१०६.

१६१. जदणाए **जोग्गपरिभाविदस्स** जिणवयणमणुगदमणस्स ।
सदिलोवं **कादुं** जे ण चयंति परीसहा ताहे ।। वही, १९७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६२. सल्लेहणा य दुविहा अब्भंतरिया य बाहिरा चेव ।
अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे ।। वही २०८.
१६३. एवं कदपरियम्मो सब्भंतरबाहिरम्मि सल्लिहणे ।
संसारमोक्खबुद्धी सव्वुवरिल्लं तवं कुणदि। वही, २७२.
१६४. वही, पृ०-१०६.
१६५. अव्वोच्छित्तिणिमित्तं सव्वगुणसमोयरं तयं णच्चा।
अणुजाणेदि दिसं सो एस दिसा वोत्ति बोधित्ता ।। वही, २७७.
१६६. खमावणा क्षमाग्रहणं । वही, पृ०- १०६.
१६७. आमंतेऊण गणिं गच्छम्मि य तं गणिं ठवेदूण ।
तिविहेण खमावेदि हु स बालउड्ढाउलं गच्छं ।। वही, २७८.
जं दीहकालसंवासदाए ममकारणेहरागेण ।
कडुगपरुसं च भणिया तमहं सव्वं खमावेमि ।। वही. २७९.
१६८. अणुसिट्ठि सूत्रानुसारेण शासनम् । वही, पृ०-१०६.
१६९. वज्जेहि चयणकप्पं सगपरपक्खे तहा विरोधं च ।
वादं असमाहिकरं विसग्गिभूदे कसाए य ।। वही २८७.
१७०. कुणह अपमादमावासएसु संजमतवोवधाणेसु ।
णिस्सारे माणुस्से दुल्लहबोहिं वियाणित्ता ।। वही, पृ०-२९८.
१७१. परगणे अन्यस्मिन्गणे चरिया चर्या प्रवृत्तिः । वही, पृ०-१०६.
१७२. सगणे आणाकोवो फरुसं कलहपरिदावणादी य ।
णिब्भयसिणेहकालुणियझाणविग्घो असमाधी ।। वही, ३८७.
१७३. सगणे आणाकोवो आत्मीये गणे आज्ञकोपः । पृ०-३०७.
१७४. वही, पृ०-१०६
१७५. पंचच्छसत्तसदाणि जोयणाणं तदो य अहियाणि ।
णिज्जावयमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ।।वही ४०३
१७६. अंगसुदे च बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभत्ते ।
रदणकरंडयभूदो खुण्णो अणिओगकरणम्मि ।।वही, ५०१.
१७७. णिद्धं मधुरं गंभीरं मणप्पसादणकरं सवणकंतं ।
देइ कहं णिव्ववगो सदीसमण्णाहरणहेउं ।।वही, ५०४
१७८. सुस्थितः परोपकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक्: स्थितः सुस्थितः आचार्यः ।
वही, पृ०-१०६.
१७९. तह संजमगुणभरिदं परिस्सहुम्मीहिं खुमिदमाइद्धं ।
णिज्जवओ धारेदि हु महुरेहिं हिदोवदेसेहिं ।। वही, ५०६.
१८०. इय णिव्ववओ खवयस्स होई णिज्जावओ सदायरिओ ।
होई य कित्ती पधिदा ऐदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स ।। वही, ५०८.
१८१. उपसंपया आचार्यस्य ढौकनं । वही, पृ० १०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८२. एवं परिमग्गित्ता णिज्जवयगुणेहिं च जुत्तमायरियं ।
उवसंपज्जइ विज्जाचरणसमग्गो तगो साहू ।। वही, ५१०.

१८३. पव्वज्जादी सव्वं कादूणालोयणं सुपरिसुद्धं ।
दंसणणाणचरित्ते णिस्सल्लो विहरिदुं इच्छे ।। वही, ५१३.

१८४. वही पृ०- १०६.

१८५. तो तस्स उत्तमट्ठे करणुच्छाहं पणिच्छदि विदण्हू ।
खीरोदणदव्वुग्गहदुगुंछणाए समाधीए ।। वही, ५१७.

१८६. रज्जं खेत्तं अधिवदिगणमप्पाणं च पडिलिहित्ताणं ।
गुणसाधनो पडिच्छदि अप्पडिलेहाए बहुदोसा ।। वही, ५१९.

१८७. पडिचरए आपुच्छिय तेहिं णिसिट्ठं पडिच्छदे खवयं।
तेसिमणापुच्छाए असमाधी होज्ज तिण्हंपि ।। वही ५२०

१८८. तदिओ णाणुण्णादो जजमाणस्स हु हवेज्ज वाघादो।
पडिदेसु दोसु तीसु य समाधिकरणाणि हायन्ति ।। वही ५२२

१८९. अमुगंमि इदो काले देसे अमुगत्थ अमुगभावेण।
जं जह णिसेविदं तं जेण य सह सव्वमालोचे ।। वही, ५३४

१९०. कदपावो वि मणुस्सो आलोयणणिंदओ गुरुसयासे ।
होदि अचिरेण लहुओ उरुहियभारोव्व भारवहो ।। वही, ६१५

१९१. सुबहुस्सुदा वि संता जे मूढा सीलसंजमगुणेसु ।
ण उवेंति भावसुद्धिं ते दुक्खणिहेलणा होंति ।। वही, ६१६

१९२. आलोयणं सुणित्ता तिक्खुत्तो भिक्खुणो उवायेण ।
जदि उज्जुगोत्ति णिज्जइ जहाकदं पट्ठवेदव्वं ।। वही, ६१७

१९३. गंधव्वणट्टजट्टस्सचक्कजंतग्गिकम्मफरुसे य ।
णत्तियरजया पाडहियडोंबणडरायमग्गे य ।। वही, ६३२

१९४. घणकुड्डे सकवाडे गामबहिं बालवुड्ढगणजोग्गे ।
उज्जाणघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुण्णहरे ।।वही, ६३७
पंचिदियप्पयारो मणसंखोभकरणो जहिं णत्थि ।
चिट्ठदि तहिं तिगुत्तो ज्झाणेण सुहप्पवत्तेण ।। वही, ६३४

१९५. पुढवीसिलामओ वा फलयमओ तणमओ य संथारो ।
होदि समाधिणिमित्तं उत्तरसिर अह व पुव्ववसिरो ।। वही, ६३९
जुत्तो पमाणरइयो उभयकालपडिलेहणासुद्धो।
विधिविहिदो संथारो आरोहव्वो तिगुत्तेण ।। वही, ६४४
एवं दोनों ही गाथाओं की विजयोदया टीका भी देखें।

१९६. णिज्जावगा निर्यापकाः आराधकस्य समाधिसहायाः।। वही, पृ०-१०७.

१९७. पियधम्मा दढधम्मा संविग्गा वज्जभीरुणो धीरा ।
छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू ।। वही, ६४६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९८. पयासणा चरमाहारप्रकाशनम् । वही, पृ०-१०७.

१९९. तम्हा तिविहं वोसरिहिदित्ति उक्कस्सयाणि दव्वाणि ।
सोसित्ता संविरलिय चरिमाहारं पयासेज्ज ।। वही, ६८९

२००. अणुसज्जमाणए पुण समाधिकामस्स सव्वमुवहरिय।
एक्केक्कं हावंतो ठवेदि पोराणमाहारे ।। वही, ६९७

२०१. जावज्जीवं सव्वाहारं तिविहं च वोसरिहिदित्ति ।
णिज्जवओ आयरिओ संघस्स णिवेदणं कुज्जा ।। वही, ७०३.

२०२. खामेदि तुम्ह खवओत्ति कुंचओ तस्स चेव खवगस्स।
दावेदव्वो णेदूण सव्वसंघस्स वसधीसु ।। वही, ७०४

२०३. इय खामिय वेरग्गं.....। वही, ७१४

२०४. अणुसद्धि, अनुशासनं शिक्षणं निर्यापकस्याचार्यस्य । वही, पृ० १०७
णिस्सलो कदसुद्धी विज्जावच्चकरवसधिसंथारं ।
उवधिं च सोधइत्ता सल्लेहण भो कुण इदाणिं ।। वही, ७२०

२०५. रोगादंके सुविहिद विउलं वा वेदणं धिदिबलेण ।
तमदीणमसंमूढ़ो जिण पच्चूहे चरित्तस्स ।। वही, १५१०

२०६. इय पुव्वकदं इणमज्ज महं कम्माणुगत्ति णाऊण ।
रिणमुक्खणं च दुक्खं पेच्छसु मा दुक्खिओ होहि ।। वही, १६२३

२०७. इट्ठेसु अणिट्ठेसु य सद्दफरिसरसरूवगंधेसु ।
इहपरलोए जीविदमरणे माणावमाणे च ।। वही, १६८३.
सव्वत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रागरोसरहिदप्पा ।
खवयस्स रागदोसा हु उत्तमट्ठं विणासंति ।। वही, १६८४
एवं सव्वत्थेसु वि समभावं उवगओ विसुद्धप्पा ।। वही, १६९०.

२०८. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ।। तत्त्वार्थसूत्र, ९/२७.

२०९. अत्रोच्यते-न निरोधशब्दोऽत्राभाववाची किंतु रोधवचनो यथा मूत्रनिरोध इति।
भगवती आराधना, पृ०- ७५३.

२१०. एवं कसायजुद्धंमि हवदि खवयस्स आउधं झाणं ।। वही, १८८६.
हुंकारंजलिभमुहंगुलीहिं अच्छीहिं वीरमुट्ठिहिं ।
सिरचालणेण य तहा सण्णं दावेदि सो खवओ ।। वही, १८९८.

२११. इय समभावमुवगदो तह ज्झायंतो पसत्तझाणं च ।
लेस्साहिं विसुज्झंतो गुणसेढिं सो समारुहदि ।। वही, १९००

२१२. एदेसिं लेस्साणं विसोधणं पडि उवक्कमो इणमो ।
सव्वेसिं संगाणं विवज्जणं सव्वहा होई ।। वही, १९०४.

२१३. इयमुक्कस्सियमाराधणमणुपलित्तु केवली भविया ।
लोगग्गसिहरवासी हवंति सिद्धा धुयकिलेसा ।। वही, १९२३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१४. वही गाथा १९६८-१९८९

२१५. ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहिं सव्वेहिं
आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहिं संपुण्णा ॥ वही, १९९६.

२१६. बालग्गिवग्घमहिसगयरिंछपडिणीय तेण मिच्छेहिं ।
मुच्छाविसूचियादीहिं होज्ज सज्जो हु वावत्ती ॥ वही २०१२.

२१७. तत्थ पढमं णिरुद्धं णिरुद्धतरयं तहा हवे विदियं ।
तदियं परमणिरुद्धं एवं तिविधं अवीचारं ॥ वही, २००६

२१८. इय सण्णिरुद्धमरणं भणियं अणिहारिमं अवीचारं ।
सो चेव जधाजोग्गं पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स ॥ वही २००९.
तस्स णिरुद्धं भणिदं रोगादंकेहि जो समभिभूदो ।
जंघाबलपरिहीणो परगणगमणम्मि ण समत्थो ॥ वही, २००७.

२१९. णच्चा संवट्टिज्जंतमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ।
गणियादीणं सण्णिहिदाणं आलोचए सम्मं ॥ वही, २०१४.

२२०. वालादिएहिं जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया।
तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अवीचारं ॥ वही २०१६.
णच्चा संवट्टिज्जंतमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ।
अरहंतसिद्धसाहूण अंतिगं सिग्घमालोचे ॥ वही, २०१७.

२२१. श्रुतविहित क्रिया विशेषः इंग्यते प्रति नियतदेश एव ।
चेष्टयतेऽस्यामनशनक्रियामितीङ्गिनी । अर्द्धमागधी कोश, भाग-२ पृ०-१२७
श्री रतनचंद जी म०, अमर पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९८८.

२२२. उव्वत्तइ परिअत्तइ काइगमाईऽवि अप्पणा कुणइ ।
सव्वमिह अप्पणच्चिअण अन्नजोगेण धितिबलियाओ ॥
आचारांगसूत्र (शीलांक टीका), पत्रांक- २८६.

२२३. अप्पोवयारवेक्खं परोवयारूणमिगिणीमरणं ॥ गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), ६१.

२२४. णिप्पादित्ता सगणं इंगिणिविधिसाधणाए परिणमिया ।
सिदिमारुहित्तु भाविय अप्पाणं सल्लिहित्ताणं । भगवती आराधना २०२६.

२२५. परियाइगमालोचिय अणुजाणित्ता दिसं महजणस्स ।
तिविधेण खमावित्ता सवालबुड्ढाउलं गच्छं ॥वही, २०२७.
एवं च णिक्कमित्ता अंतो बाहिं व थंडिले जोगे ।
पुढवीसिलामए वा अप्पाणं णिज्जवे एक्को ॥ वही, २०२९.

२२६. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ एगे अहमंसि न मे अत्थि कोइ न याहमवि कस्सवि,
एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवइ जाव समभिजाणिया ॥ आचारांगसूत्र, (भाग १), आत्माराम जी, ४८/६/२१६. पृ०- ५९५.

२२७. सव्वं आहारविधिं जावज्जीवाय वोसरित्ताणं ।
वोसरिदूण असेसं अब्भंतरबाहिरे गंथे ॥ भगवती आराधना, २०३३

२२८. से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा आहारेमाणे नो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारिज्जा आसाएमाणे दाहिणाओ वामं हणुयं नो संचारिज्जा आसाएमाणे, से अणासाएमाणे लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए, भवइ जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्त मेव समभिजाणिया ॥
आचारांगसूत्र (प्रथम भाग), आत्माराजी, ८/६/२१७, पृ०-५९६.

२२९. सव्वे विणिज्जिणंतो परीषहे धिदिबलेण संजुत्तो ।
लेस्साए विरुज्झंतो धम्मं ज्झाणं उवणमित्ता ॥ भगवती आराधना, २०३४

२३०. बीभत्थभीमदरिसणविगुव्विदा भूदरक्खसपिसाया ।
खोभिज्जो जदि वि तयं तधवि ण सो संभमं कुणई ॥ वही, २०३९
वेउव्वणमाहारयचारणखीरासवादिलद्धीसु ।
तवसा उप्पण्णासु वि विरागभावेण सेवदि सो ॥ वही, २०५२

२३१. एवमधक्खादविधिं साधित्ता इंगिणीं धुदकिलेसा ।
सिज्झंति केइ केई हवंति देवा विमाणेसु ॥ वही, २०५५

२३२. आचारांग (शीलांक टीका) पत्रांक - २८६

२३३. आचारांगसूत्र (आत्मारामजी), प्रथम श्रुतस्कन्ध, पृ०- ६०४.

२३४. आचारांगसूत्र (मधुकर मुनि) प्रथम श्रुतस्कन्ध, पृ०- ३०१

२३५. सपरोवयारहीणं मरणं पाओवगमणमिदि ॥ गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), ६१.

२३६. अयं से उत्तमे धम्मे पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे ।
अचिरं पडिलेहित्ता विहरे चिट्ठ माहणे ॥ आचारांगसूत्र, १/८/८/२४८

२३७. णवरिं तणसंथारो पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो ।
आदपरपओगेण य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं ॥ भगवती आराधना, २०५८
सो सल्लेहिददेहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि ।
उच्चारादिविकिंचणमवि णत्थि पओगदो तम्हा ॥ वही, २०५९.

२३८. (तणाइं संथरेत्ता) एत्थ वि समए कायं च जोगं च इरियं च पच्चक्खाएज्जा ॥
आचारांगसूत्र (मुधकर मुनि), १/८/७/२२८.

२३९. आचारांग (मधुकर मुनि) प्रथम श्रुतस्कंध, गाथा- २४९-२५३, पृ०-२९९
पुढवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो ।
वोसट्ठचत्तदेहो अधाउगं पालए तधवि ॥ भगवती आराधना, २०६०.
वोसट्ठचत्तदेहो दु णिक्खिवेज्जो जहिं जधा अंगं ।
जावज्जीवं तु सयं तहिं तमंगं ण चालेदि ॥ वही, २०६२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४०. वही पृ० ८८५.
२४१. भगवतीसूत्र २५/३/७ का मूल एवं टीका । तथा तुम्हा वुत्तं णीहारमदो अण्णं अणीहारं।। भगवती आराधना, २०६४.
२४२. भगवतीसूत्र (मधुकर मुनि) भाग ३, २५/३/७ ३०७, पृ०- ४९३.
२४३. भगवती आराधना, भाग, २, पृ०-८८५.
२४४. भगवतीसूत्र भाग-३, २५/३/७, पृ.- ४३३
२४५. भगवती आराधना, भाग- पृ०-८८५.
२४६. आचारांग (मूल एवं वृत्ति) पत्रांक, २९४-२९५.
वि:. द्र. आचारांग (मधुकर मुनि), प्रथम श्रुतस्कन्ध पृ०- ३०१.
२४७. भगवती आराधना पृ०- ८८३ एवं गाथा २०५८ की विजयोदया टीका ।
२४८. आचारांगसूत्र, प्रथमश्रुतस्कन्ध पृ०-६१३.
२४९. श्री आचारांगसुत्र, प्रथम स्कन्ध, मुनि आत्माराम जी, पृ०-५९२.
२५०. उक्कस्सएण भत्तपइण्णाकालो जिणेहिं णिद्दट्ठो ।
कालम्मि संपहुत्ते बारसवरिसाणि पुण्णाणि ।। भगवती आराधना - २५४.
२५१. जोगेहिं विचित्तेहिं दु खवेहइ संवच्छराणि चत्तारि ।
वियडी णिज्जूहित्ता चत्तारि पुणो वि सोसेदि ।। वही, २५५.
२५२. आयंबिलणिव्वियडीहिं दोण्णि आयबिलेण एक्कं च ।
अद्ध णादिविगट्ठेहिं अदो अद्धं विगट्ठेहिं ।। वही, २५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ अध्याय

समाधिमरण का व्यवहार पक्ष

समाधिमरण व्रत लेने के योग्य अवसर

जैनधर्म अपनी दीर्घ एवं कठोर तप-साधना के लिए प्रसिद्ध है। जैन तप-साधना की पद्धतियों में समाधिमरण का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुत: यह मरण की कला सिखानेवाला व्रत है। जैन आगमों में समाधिमरण व्रत ग्रहण करने के योग्य अवसर पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है। इस व्रत को व्यक्ति किसी भी अवस्था में और किसी भी समय ग्रहण नहीं कर सकता है। समाधिमरण व्रत ग्रहण करने के कुछ उपयुक्त अवसर होते हैं।

भगवती में समाधिमरण के योग्य अवसर को समझाने के लिए स्कन्दक मुनि का कथानक प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार है[१] - "स्कन्दक मुनि विभिन्न प्रकार के तपों की आराधना करते हुए रुक्ष हो गए, मांस रहित हो गए, चलने पर उनकी शरीर की हड्डियाँ आपस में टकराने लगीं, हड्डियों के आपस में टकराने से खड़-खड़ की आवाज होती थी। वे इतने कृशकाय और दुर्बल हो गए कि उनकी समस्त नाड़ियाँ सामने दिखाई पड़ने लगीं। चलने के लिए उनमें शारीरिक शक्ति नहीं थी। बोलने में और बोलने के बाद भी उन्हें शारीरिक कष्ट होता था। ऐसे समय में एक बार भगवान् महावीर राजगृह पधारे। महावीर ने अपना धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश के बाद समस्त श्रद्धालुजन वापस लौट गए। लेकिन स्कन्दक मुनि के मन में यह विचार आया[२] - "मैं पूर्वोक्त प्रकार के उदार तप द्वारा शुष्क, रुक्ष एवं कृश हो गया हूँ। मेरा शारीरिकबल क्षीण हो गया है। मैं आत्मबल के सहारे गमन कर पाता हूँ। बोलने के बाद, बोलते हुए और बोलने के पूर्व मुझे कष्ट होता है। अत: जब तक उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरस्कार, पराक्रम है और जब तक मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक, तीर्थङ्कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी यहाँ हैं, मुझे उनसे आज्ञा ग्रहण करके उनकी उपस्थिति में ही विपुलगिरि पर्वत पर डाभ (एक तरह की घास) का संथारा बिछाकर आत्मा को सल्लेखना से युक्त करके आहार जल का त्याग कर पादपोपगमन संथारा (समाधिमरण की तीन कोटियों में से एक) ग्रहण कर मृत्यु की आकांक्षा से विरत होकर मन को स्थिर और शान्त करके मृत्यु के आगमन की प्रतीक्षा करनी चाहिए।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वृद्धावस्था एवं शरीर के जीर्ण हो जाने के अतिरिक्त आकस्मिक रूप से मृत्यु उपस्थित होने पर भी समाधिमरण किया जाता है। इस सम्बद्ध में *अन्तकृद्दशा* में समाधिमरण लेने के योग्य अवसर पर प्रकाश डाला गया है। सुदर्शन श्रमणोपासक भगवान् महावीर से मिलने के लिए राजमार्ग से जा रहा था। उसे देखकर अर्जुन मालाकार जो यक्ष से आविष्ट था और मनुष्यों को मारता फिर रहा था, क्रुद्ध, कुपित और रुष्ट होकर लोहे के मुद्गर से मारने को उद्यत हुआ। उस समय क्रुद्ध मुद्गरपाणि यक्ष को अपनी ओर आते देखकर सुदर्शन को अपनी मृत्यु की सम्भावना से किंचित् भी भय, त्रास, उद्वेग अथवा क्षोभ नहीं हुआ। उसका हृदय तनिक भी विचलित अथवा भयाक्रान्त नहीं हुआ। उसने निर्भय होकर अपने वस्त्र के अंचल से भूमि का प्रमार्जन किया फिर पूर्व दिशा की ओर मुँह करके बैठ गया। इसके बाद इस प्रकार बोला[३]-

"मैं उन सभी अरिहंत भगवन्तों को, जिन्होंने अतीतकाल में मोक्ष प्राप्त कर लिया है एवं धर्म के आदिकर्ता तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर को जो भविष्य में मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं, नमस्कार करता हूँ।" मैंने पहले श्रमण भगवान् महावीर से स्थूल प्राणातिपात का आजीवन त्याग (प्रत्याख्यान) किया, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्तादान का त्याग किया तथा स्वदार संतोष इच्छा परिमाण रूप व्रत जीवन भर के लिए ग्रहण किया है। अब उन्हीं भगवान् महावीर स्वामी की साक्षी से प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और सम्पूर्ण परिग्रह का सर्वथा आजीवन त्याग करता हूँ। मैं सर्वथा क्रोध मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद, अरति-रति, मायामृषा, और मिथ्या दर्शन तक के समस्त (१८) पापों का भी आजीवन त्याग करता हूँ। सभी प्रकार के अशन, पान, खादिम और स्वादिम इन चारों प्रकार के आहार का भी त्याग करता हूँ। यदि मैं इस आसन्न मृत्यु उपसर्ग से बच गया तो इस त्याग का पारणा करके आहारादि ग्रहण करुँगा। यदि इस उपसर्ग से मुक्त न हो पाया तो मुझे इस प्रकार का सम्पूर्ण त्याग यावज्जीवन हो। ऐसा निश्चय करके सुदर्शन ने उपर्युक्त प्रकार से सागारी प्रतिमा-अनशन व्रत धारण कर लिया[४] अर्थात् उसने समाधिमरण का निश्चय किया।

इस प्रकार समाधिमरण के योग्य अवसर के सम्बन्ध में *भगवती* और *अन्तकृद्दशा* से कथानक जो लिया गया है उसमें कुछ अन्तर है। *भगवती* में जहाँ स्कन्दक आराधना करते हुए काय और कषाय दोनों को क्षीण करके समाधिमरण करता है वहीं अन्तकृद्दशा में सुदर्शन अचानक अनिवार्य मृत्यु का कारण उपस्थित हो जाने पर समाधिमरण का व्रत लेता है। इन दोनों कथानकों से यही निष्कर्ष निकलता है कि जब व्यक्ति का शरीर इतना क्षीण हो जाए कि आवश्यक कार्यों के सम्पादन में कठिनाई हो तथा अनायास मृत्यु का प्रसंग उपस्थित हो जाए तो यह अवसर समाधिमरण के लिए उपयुक्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचारांग की शीलांक टीका के अनुसार समाधिमरण करने के उपयुक्त अवसर निम्नलिखित है[५]—

(१) रूखा-सूखा नीरस आहार लेने से अथवा तपस्या से शरीर अत्यन्त ग्लान हो गया हो।

(२) शरीर रोग से पीड़ित हो गया हो।

(३) शरीर आवश्यक क्रिया करने में अत्यन्त अक्षम हो गया हो।

(४) शरीर उठने-बैठने, करवट बदलने आदि नित्य क्रियाएँ करने में अक्षम हो गया हो।

इस प्रकार जब शरीर अत्यन्त ग्लान हो जाए तभी भिक्षु को त्रिविध समाधिमरण (भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण या प्रायोपगमनमरण) में से अपनी योग्यता, क्षमता और शक्ति के अनुसार किसी एक का चयन करना चाहिए।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के अनुसार समाधिमरण व्रत ग्रहण करने का उपयुक्त अवसर जीवन की अन्तिम बेला है। जब व्यक्ति को उसकी मृत्यु निकट भविष्य में निश्चित प्रतीत होने लगे तो व्यक्ति को ऐसे समय समाधिमरण करना चाहिए।[६]

धर्मामृत (सागार) के अनुसार[७] - स्वाभाविक वृद्धावस्था के कारण अथवा दुर्निवार रोग और शत्रु के आघात आदि उपसर्ग द्वारा मरण निश्चित प्रतीत होने पर अथवा शीघ्रमरणसूचक देहविकार या वाणीविकार आदि के द्वारा निकट भविष्य में मरण का निश्चय होने पर व्यक्ति को समाधिमरण करना चाहिए।

आराधनासार में समाधिमरण के योग्य अवसर पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया है[८]- "जरारूपी व्याधि जब देह पर आक्रमण करे, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द को ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाये, आयुरूपी जल पूर्णरूपेण छीन जाये, शरीर में हड्डियों की सन्धियों का बन्ध तथा सिराओं और स्नायुओं से हड्डियों के जोड़ शिथिल हो जायें अर्थात् शरीर इतना कृशकाय हो जाये कि वह स्वयं काँपने लगे आदि अवस्थायें ही समाधिमरण के लिए उपयुक्त हैं।" *श्रावकाचार संग्रह* के अनुसार[९]- शीघ्रमरण सूचक देह विकार या किसी और कारण से शीघ्रमरण की सम्भावना होने पर अथवा अपमृत्यु के कारण एकदम आयु के नाश की सम्भावना होने पर समाधिमरण करना चाहिए। *समाधिमरणोत्साहदीपक* के अनुसार[१०]- साँप के काटे जाने पर या उपसर्गादि के समय मरण में सन्देह उपस्थिति होने पर बुद्धिमान को इस प्रकार अनशन ग्रहण करना चाहिए। वह इस प्रकार कहे कि यदि इस उपसर्गादि में मेरे प्राणों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का नाश होता है, तो मेरे यावज्जीवन के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग है। यदि कदाचित् किसी प्रकार से अपने पुण्य के द्वारा इस उपसर्ग से जीवित बच जाऊँगा तो धर्म-साधन के लिए मैं आगम-विहित पारण को करुँगा।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में उल्लेख है कि जरा, रोग, इन्द्रिय व शरीर बल की हानि होने पर तथा षडावश्यक के नाश होने पर समाधिमरण करना चाहिए।[११] सौभाग्यमुनि जी ने *आचारांग* की अपनी व्याख्या में समाधिमरण के उपर्युक्त अवसर पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार यथाक्रम संयम का पालन करते हुए अवस्था परिणाम से या अन्य कारणों से व्यक्ति का शरीर क्षीण और दुर्बल हो जाए, आवश्यक क्रियाओं का ठीक से पालन करने में अशक्य और असहाय हो जाए तो ऐसे समय व्यक्ति को समाधिमरण करना चाहिए।[१२] अपनी तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या में पं० सुखलाल संघवी ने लिखा है-व्यक्ति को जब अपना जीवनकाल बहुत अल्प प्रतीत होने लगे तथा वह धर्म और आवश्यक कर्तव्यों का सम्पादन ठीक से नहीं कर पाए तो उसे समाधिमरण करना चाहिए।[१३] आचार्य तुलसी ने आयारो की अपनी व्याख्या में लिखा है- व्यक्ति का शरीर जब भारस्वरूप प्रतीत होने लगे (वृद्धावस्था, रोग, उपसर्ग आदि के कारण) तथा वह अपनी आवश्यक क्रियाओं का सम्पादन ठीक से नहीं कर पाता हो तो उसे समाधिमरण करना चाहिए।[१४]

न्यायविद् टी० के० तुकोल के अनुसार समाधिमरण करने का उपयुक्त अवसर जीवन की अन्तिम बेला है अर्थात् मृत्यु के आगमन का समय जब अत्यन्त समीप होता है, उस समय व्यक्ति समाधिमरण कर सकता है।[१५] जैन धर्म–दर्शन के मर्मज्ञ डॉ० सागरमल जैन के अनुसार अनिवार्य मृत्यु के कारण उपस्थित होने पर समाधिमरण किया जा सकता है। मृत्यु के अनिवार्य कारण हो सकते हैं - अकस्मात कोई विपत्ति आ जाना जिससे प्राण–रक्षा सम्भव न हो, यथा- आग में घिर जाना, जल में डूबने जैसी स्थिति हो जाना, हिंसक पशु या किसी दुष्ट व्यक्ति के चंगुल में फंस जाना जिससे बचकर निकलना संभव न हो। इसके अलावा सामान्य और प्राकृतिक अवस्थाओं में भी व्यक्ति समाधिमरण कर सकता है। ये अवस्थाएँ हैं- जब व्यक्ति की समस्त इन्द्रियाँ अपने कार्यों का सम्पादन करने में अक्षम हो जाए, शरीर सूख कर अस्थिपंजर मात्र रह जाय, पचन-पाचन, आहार-विहार आदि शारीरिक क्रियाएँ शिथिल पड़ने लगे तथा इनके कारण साधना या संयम का परिपालन सम्यक् रीति से सम्भव नहीं हो तो व्यक्ति समाधिमरण कर सकता है।[१६]

भगवती आराधना में कुछ कथानकों के आधार पर समाधिमरण के उपर्युक्त अवसर के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। ये कथानक जरा, रोग, वृद्धावस्था आदि के कारण समाधिमरण करनेवाले व्यक्तियों के न होकर उन व्यक्तियों के हैं, जिन्होंने किसी बाह्य उपसर्ग के कारण अपने धर्म या पवित्रता की रक्षा करने के निमित्त अपना देहत्याग किया था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अयोध्या नगरी में धर्मसिंह नामक एक राजा था। उसकी पत्नी का नाम चन्द्रशीला था। उसने पत्नी को त्यागकर मुनि दीक्षा धारण की और अपने श्वसुर के भय से कोल्लगिरि नगर में हाथी के कलेवर में प्रवेश करके समाधिमरण की साधना की।[१७] पाटलिपुत्र नगर में ऋषभसेन नामक श्रेष्ठी ने पत्नी को त्यागकर दीक्षा ली। अपनी पुत्री के स्नेहवश श्वसुर के द्वारा उपसर्ग किए जाने पर ऋषभसेन ने श्वास रोककर समाधिमरण की साधना की।[१८] श्रावस्ती नगरी के राजा जयसेन ने बौद्ध धर्म त्यागकर जैनधर्म धारण किया था। इससे कुपित होकर अहिमारक नामक बौद्ध ने उसे उस समय मार डाला जब वह आचार्य यतिवृषभ को नमस्कार कर रहा था। तब आचार्य ने अपना अपवाद दूर करने के लिए शस्त्र से अपना घात करते हुए साधना की।[१९] पाटलिपुत्र में नन्दराजा का मंत्री शकताल था। उसने महापद्मसूरि से जिन-दीक्षा ग्रहण की। उसके विरोधी वररुचि ने राजा महापद्म को रुष्ट करके शकताल को मारने का प्रयत्न किया तो शकताल मुनि ने पाँच नमस्कार-मन्त्र का ध्यान करते हुए छुरी से अपना पेट फाड़ डाला और इस प्रकार समाधिमरण की साधना की।[२०]

उपर्युक्त समस्त कथानकों में यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि साधक अथवा व्यक्ति ने आत्ममरण के लिए बाह्य विधियों का आश्रय लिया है। उसे ऐसा क्यों करना पड़ा यह कथानक के पूर्ण अध्ययन से पता चल जाता है। प्रायः इन सभी अवस्थाओं में व्यक्ति ने धर्म से भ्रष्ट हो जाने की अपेक्षा बाह्य विधियों की सहायता से अपना देहत्याग करना अधिक श्रेष्ठ माना है। वस्तुतः व्यक्ति की यह भावना मरण को दूषित नहीं करती है, अपितु इसे पंडितमरण की कोटि में ले आती है, जो कमोवेश समाधिमरण का ही पर्यायवाची है।

इसी तरह *आराधनासार* में भी कुछ अन्य कथानकों के आधार पर उपसर्गादि के कारण समाधिमरण करनेवाले व्यक्ति के उदाहरण मिलते हैं, जो निम्न हैं -

शिवभूति ने जैन दीक्षा ग्रहण की। ध्यान तथा कठोर साधना के अभ्यास के निमित्त जंगल (बांसों के जंगल) चला गया। तेज हवा के कारण पेड़ों (बांसों) के आपस में टकराने से अग्नि पैदा हुई। इस अग्नि के कारण समस्त जंगल में आग लग गई। शिवभूति भी चारों तरफ अग्नि से घिर गया। इस संकट से बचने का कोई उपाय न देखकर उसने समाधिमरण किया।[२१] श्रीदत्त नामक साधक अपनी कठिन साधना में लीन था। उस समय *बहुत ज्यादा ठण्ड पड़ रही थी। किसी ने द्वेषवश उसके ऊपर ठण्डा पानी डाल दिया।* अत्यधिक ठण्ड के कारण जब श्रीदत्त को यह विश्वास हो गया कि उसकी मृत्यु निश्चित है तो उसने समाधिमरण करके प्राणत्याग किया।[२२] विवाहित गजकुमार पांसुल नामक श्रेष्ठी की पत्नी पर आसक्त हो गया। बाद में गजकुमार ने जैन दीक्षा ग्रहण की और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कठोर साधना में लीन हो गया। एक दिन पांसुल ने साधनारत गजकुमार के पूरे शरीर में लोहे की कीलें-चुभा दीं। गजकुमार ने अपनी मृत्यु को निकट जानकर समाधिमरण लिया।[२३] *अन्तकृद्दशा* में गजसुकुमाल के स.धिमरण का वर्णन *आराधनासार* से भिन्न है। इसमें गजसुकुमाल के सिर पर सोमिल नामक ब्राह्मण ने गीली मिट्टी से पाल बाँधकर आग डाल दी । इस भयानक पीड़ा को सहन करते हुए गजसुकुमाल ने समाधिमरण किया था[२४]।

इस प्रकार उपर्युक्त ग्रन्थों, विद्वानों के विचारों एवं कथानकों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि समाधिमरण ग्रहण करने के लिए मुख्यरूप से दो उपयुक्त अवसर माने जा सकते हैं :-

(१) शारीरिक दुर्बलता

(२) प्राकृतिक एवं प्राणीकृत विपदाजन्य आकस्मिक मृत्यु का कारण उपस्थिति होने पर।

शारीरिक दुर्बलता

वृद्धावस्था के कारण, रोग या व्याधि के कारण, आत्मशुद्धि के लिए किए गये व्रत, तप, अनशन आदि किन्हीं कारणों से शरीर इतना दुर्बल हो गया हो कि व्यक्ति का जीवन भारस्वरूप बन गया हो अर्थात् व्यक्ति अपने आवश्यक कार्यों का सम्पादन करने में समर्थ न हो । उसके सम्पादन के लिए किसी अन्य व्यक्ति की सहायता आवश्यक हो, दुर्बलता के कारण उसकी इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण नहीं कर पाती हों- इन परिस्थितियों को समाधिमरण करने का उपयुक्त अवसर माना गया है।

प्राकृतिक एवं प्राणीकृत विपदाएँ

अकाल, भुखमरी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि प्राकृतिक विपदाएँ हैं। आग में जलना, पानी में डूबना, ऊँचाई से गिरना ये प्राकृतिक एवं प्राणीकृत दोनों विपदाएँ हैं। प्राकृतिक इस रूप में है कि कभी-कभी नदी में बाढ़ आ जाती है, जिसमें डूबने से मृत्यु हो जाती है। व्यक्ति विशेष द्वारा पानी में डूबाकर या आग में जलाकर मारना, हिंसक दुष्टात्माओं के चंगुल में फँसना आदि प्राणीकृत विपदाएं हैं। इन परिस्थितियों में व्यक्ति को अगर स्पष्ट रूप से मृत्यु की सम्भावना प्रतीत हो तो उसके लिए ये परिस्थितियाँ समाधिमरण करने हेतु उपयुक्त अवसर हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकस्मिक मृत्यु के कारण

प्राकृतिक एवं प्राणीकृत विपदाओं के कारण व्यक्ति की मृत्यु होने की सम्भावना हो तो उसे समाधिमरण (सागारी संथारा) कर लेना चाहिए। सागारी संथारा या अविचार भक्तप्रत्याख्यानमरण (समाधिमरण) आकस्मिक मृत्यु का कारण उपस्थित होने पर ही किया जाता है।

समाधिमरण लेनेवाले की योग्यता

समाधिमरण जैनधर्म में वर्णित समस्त तपों से उच्च और कठिन है। इसे सभी व्यक्ति नहीं कर सकते हैं। इसके लिए कुछ योग्ताएँ निर्धारित की गई हैं। जिनके पास ये योग्यताएँ रहती हैं वे ही समाधिमरण कर सकते हैं। जैन आगमों में समाधिमरण करनेवाले की योग्यता पर भी प्रकाश डाला गया है जो निम्न हैं -

उत्तराध्ययन में समाधिमरण लेनेवाले की योग्यता पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया है[२५] - संयमशील, जितेन्द्रिय और चारित्रयुक्त सकाम और अकाममरण के भेद जाननेवाला तथा मृत्यु के स्वरूप का ज्ञाता एवं मृत्यु से नहीं डरनेवाला व्यक्ति समाधिमरण के योग्य है।

मूलाचार[२६] के अनुसार- ममत्वरहित, अहंकाररहित, कषायरहित, धीर, निदानरहित, सम्यग्दर्शन से सम्पन्न, इन्द्रियों को अपने वश में रखनेवाला, सांसारिक राग को समझनेवाला, अल्प कषायवाला, इन्द्रिय निग्रह में कुशल, चारित्र को स्वच्छ रखने में प्रयासरत तथा संसार के समस्त दुःखों को जानकर तथा इसे समझकर इससे विरत रहनेवाला व्यक्ति समाधिमरण करने का अधिकारी होता है। *भगवती आराधना* के अनुसार चारों प्रकार के कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) को कृश करनेवाला व्यक्ति समाधिमरण करने के योग्य है।[२७]

मरणविभक्ति के अनुसार[२८] - शरीर और कषाय को क्षीण करनेवाला व्यक्ति समाधिमरण करने के योग्य है अर्थात् विभिन्न प्रकार के तप, अनशन की सहायता से जिसने काय शरीर को दुर्बल बना लिया, अपनी कषायों को शुभध्यान और शुभ भावना का चिन्तन करके अल्प कर लिया तथा समस्त प्रकार के राग-द्वेष से मुक्त हो गया, वह समाधिमरण करने के योग्य है।

उवासगदसाओ में समाधिमरण लेनेवाले व्यक्ति की योग्यता का वर्णन कथानकों के आधार पर किया गया है। इस कथानक के मुख्य पात्र हैं[२९]- आनन्द, कामदेव, चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुंडकौलिक, सकडालपुत्र, गोशालक, महाशतक, नन्दिनीपिता, सालिहीपिता आदि ने समाधिमरणपूर्वक देहत्याग किया था। इनमें से कुछ के कथानक यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कामदेव अपनी समाधि-साधना में लीन था। उसकी समाधि को भंग करने के उद्देश्य से देव ने पिशाच का रूप धारण किया और कामदेव को धमकी दी कि यदि उसने अपना व्रत नहीं छोड़ा तो वह तलवार से उसके टुकड़े-टुकड़े कर देगा। लेकिन कामदेव अपनी साधना में लीन रहा। इस पर पिशाच ने तलवार से उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डाला। कामदेव ने उस असह्य वेदना को समभावपूर्वक सहन किया और अपनी साधना–पथ पर अडिग रहा।[३०] इसके बाद पिशाचरूपी देव ने भयानक हाथी का रूप बनाया और कामदेव को अपनी सूढ़ तथा नुकीले दांतों से कष्ट देने लगा। इसे भी सहन करते हुए कामदेव अपनी साधना–पथ पर अडिग रहा।[३१] अब पिशाचरूपी देव ने भयानक सर्प का रूप धारण करके कामदेव को अपनी नुकीले दांतों तथा विषों से आहत करने लगा, लेकिन कामदेव अपनी साधना पर अडिग रहा। अन्त में देव ने कामदेव से क्षमायाचना की और कामदेव ने समाधिमरण किया।[३२]

चुलनीपिता कठिन व्रत करते हुए अपना जीवन बिता रहा था। देव ने उसे उसकी साधना से हटाने के लिए उस पर उपसर्ग किया। सर्वप्रथम देव ने उसके बड़े पुत्र को उसके सामने ही तलवार से काटकर, उसके मांस रक्त को उबलते हुए तेल की कढ़ाही में खौलाया तथा उसे उसके ऊपर डाला। चुलनीपिता ने इस तीव्र वेदना को तितिक्षापूर्वक सहन किया।[३३] जब देव ने देखा कि चुलनीपिता अपनी साधना-मार्ग से नहीं हट रहा है, तब उसने उसके अन्य दो पुत्रों के साथ भी बड़े लड़के जैसा ही व्यवहार किया। लेकिन तब भी चुलनीपिता दृढ़तापूर्वक अपनी साधना में रत ही रहा। अब देव ने क्रोध में आकर चुलनीपिता से कहा कि उसके पुत्र जैसा ही कृत्य वह उसकी माता के साथ भी करेगा। इस पर चुलनीपिता ने क्रोध और ममत्व में आकर देव को पकड़ना चाहा, लेकिन देव उसकी पकड़ में नहीं आया इस तरह चुलनीपिता का व्रत भंग हो गया। वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा। उसकी आवाज सुनकर उसकी माता आयी और उसने जब सारा वृत्तान्त सुना तो चुलनीपिता को कहा कि यह तो माया थी। तुम्हारा व्रत भंग हुआ। तुम इसका प्रायश्चित्त करो। चुलनीपिता ने इसका प्रायश्चित करते हुए समाधिमरण ग्रहण किया।[३४]

सुरादेव अपनी उपासना में लीन रहता था। एकबार देव ने उसे उसकी उपासना से हटाना चाहा। उसके लिए देव ने उस पर उपसर्ग किया तथा उसके तीन पुत्रों का वध कर डाला। लेकिन सुरादेव अपनी साधना से अविचल रहा।[३५] अब देव ने उसे उसकी उपासना से डिगाने के लिए बोला मृत्यु को चाहनेवाले श्रमणोपासक सुरादेव! यदि अपने व्रतों का त्याग नहीं करोगे तो आज मैं तुम्हारे शरीर में एक ही साथ श्वास-दमा, कास-खांसी, ज्वर–बुखार, दाह–देह में जलन, कुक्षि-शूल–पेट में तीव्र पीड़ा, भगन्दर–गुदा पर फोड़ा, अर्श–बवासीर, अजीर्ण–बदहजमी, दृष्टिशूल–नेत्र में शूल चूभने जैसी पीड़ा, मूर्द्ध–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शूल–मस्तक पीड़ा, अकारक-भोजन में अरुचि या भूख न लगना, अक्षिवेदना–आँख दु:खना, कर्ण-वेदना, कंडू–खुजली, उदर-रोग तथा कुष्ट ये सोलह भयानक रोग उत्पन्न कर दूँगा जिससे तुम आर्तध्यान तथा विकट दु:ख से पीड़ित होकर असमय में ही जीवन से हाथ धो बैठोगे।[३६] ऐसा देव ने बार-बार कहना प्रारम्भ किया। जब देव ने तीसरी बार यही बात दुहराई तब सुरादेव के मन में ऐसा विचार आया कि इसने मेरे तीनों पुत्रों को मार डाला और अब मेरे शरीर में सोलह प्रकार के भयानक रोग एक साथ उत्पन्न कर देना चाहता है। अत: मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि मैं इस दुष्ट पुरुष को पकड़ लूँ। यह सोचकर वह उसे पकड़ने के लिए उठा। इतने में वह देव आकाश में उड़ गया। सुरादेव के हाथ में खम्भा आ गया। वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा।[३७] उसकी आवाज सुनकर सुरादेव की पत्नी आयी और पूछा कि क्या हुआ? इस पर उसने अपने साथ घटी हुई घटनाओं को अपनी पत्नी को बताया। यह सब सुनने पर उसकी पत्नी बोली यह सब झूठ है। वह मायावी जाल था। अब आप अपने इस भूल के लिए प्रायश्चित कीजिए तथा अपनी उपासना में लग जाइए। सुरादेव ने प्रायश्चित के तत्पश्चात् समाधिमरण किया।[३८]

चुल्लशतक अपनी उपासना में मग्न रहता था। देव ने उसे उसकी साधना-पथ से डिगाने के लिए उसके तीन पुत्रों को उसके सामने मार डाला। लेकिन तब भी चुल्लशतक अपनी उपासना में लगा ही रहा।[३९] इस पर देव ने चुल्लशतक से कहा[४०]- अरे श्रमणोपासक चुल्लशतक! तुम अब भी अपने व्रतों को भंग नहीं करोगे तो मैं खजाने में रखी तुम्हारी छह करोड़ स्वर्ण मुद्राओं, व्यापार में लगी तुम्हारी छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं तथा घर का वैभव और साज-समान में लगी छह करोड़ की स्वर्ण मुद्राओं को ले जाउँगा। ले जाकर उसे तिराहे, चौराहे, सड़कों, राजपथ आदि स्थानों पर बिखेर दूँगा। जिससे तुम आर्तध्यान एवं विकट दु:ख से पीड़ित होकर असमय में ही जीवन से हाथ धो बैठोगे। देव ने चुल्लशतक से ऐसा बार-बार कहा। इस पर चुल्लशतक के मन में विचार आया कि इस पुरुष ने मेरे बेटों को मार डाला अब यह मेरा धन छीन लेगा और उसे लूटा देगा। इसलिए मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि मैं इस पुरुष को पकड़ लूँ। ऐसा विचार कर वह देव को पकड़ने के लिए उद्यत हुआ लेकिन देव तो अन्तर्ध्यान हो गया और उसके हाथ में सिर्फ खम्भा आया। इस प्रकार चुल्लशतक अपनी उपासना-मार्ग से हट गया। बाद में उसने अपनी भूल का प्रायश्चित कर समाधिमरण किया।[४१]

महाशतक का शरीर उग्र तपश्चरण के कारण अत्यन्त कृश हो गया था। उसने अन्तिम मरणान्तिक सल्लेखना स्वीकार की, खानपान का परित्याग किया, अनशन स्वीकार किया, मृत्यु की कामना न करता हुआ, वह आराधना में लीन हो गया और उसे अवधिज्ञान की प्राप्ति हो गयी।[४२] तत्पश्चात् एक दिन महाशतक की पत्नी रेवती शराब के नशे में उन्मत्त बार-बार अपना वस्त्र (उत्तरीय) फेंकती हुई पोषधशाला में जहाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाशतक था, आई। आकर महाशतक से बोली तुम मेरे साथ मनुष्य जीवन का विपुल सुख क्यों नहीं भोगते तुम्हें धर्म, मोक्ष, पुण्य, स्वर्ग आदि से क्या मिलेगा।[४३] रेवती ने ऐसा बार-बार कहा, इस पर महाशतक को क्रोध आ गया। उसने अवधिज्ञान का प्रयोग किया, प्रयोग कर उपयोग लगाया। अवधिज्ञान द्वारा जानकर उसने अपनी पत्नी रेवती से कहा - मौत की कामना करनेवाली रेवती तू सात रात के अन्दर असलक नामक रोग से पीड़ित होकर आर्त–व्यथित, दु:खित तथा विवश होती हुई आयु-काल पूरा होने पर अशान्तिपूर्वक मर कर अधोलोक में प्रथम नारक भूमि रत्नप्रभा में लोलुपाच्युत नामक नरक चौरासी हजार वर्ष के आयुष्य वाले नैरयिकों में उत्पन्न होगी।[४४] रेवती के साथ यह होनी घटित हुई। तत्पश्चात् भगवान् महावीर ने गौतम को महाशतक के पास उसके इस क्रोध के लिए प्रायश्चित करने को भेजा। गौतम ने महाशतक से कहा[४५]- "अन्तिम मरणान्तिक सल्लेखना (समाधिमरण) की आराधना में लगे हुए, अनशन स्वीकार किए हुए श्रमणोपासक के लिए सत्य, तत्त्वरूप तथ्य, सद्भूत वचन भी यदि अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ तथा मन के प्रतिकूल हो तो उन्हें बोलना कल्पनीय नहीं है। हे देवानुप्रिय! तुमने अपनी पत्नी रेवती के प्रति ऐसे वचन बोले हैं, इसलिए तुम अपने धर्म के प्रतिकूल आचरण की आलोचना करो, प्रायश्चित्त स्वीकार करो। महाशतक ने तब प्रायश्चित किया और समाधिमरण को प्राप्त किया।

उपर्युक्त समस्त कथानक समाधिमरण व्रत ग्रहण करनेवाले व्यक्ति की योग्यताओं पर प्रकाश डालते हैं। समाधिमरण करनेवाले व्यक्ति को अपने मन, अपनी भावनाओं पर संयम रखते हुए सदाचार व्रत का पालन जीवनपर्यन्त करना चाहिए। उसे सांसारिक बन्धनों से पूरी तरह मुक्त रहते हुए अपने किसी बन्धु-बान्धव, परिवार, इष्ट-मित्र, पुत्र, पत्नी तथा अन्य प्रियजनों के सुख-दु:ख से पूरी तरह विलग रहने का प्रयत्न करना चाहिए। विभिन्न प्रकार के ऐसे तप करने चाहियें जिनसे कि व्यक्ति का कषाय अल्प हो। समाधिमरण व्रत का ग्रहण व्यक्ति को लोक में प्रतिष्ठार्जित करने की इच्छा (लोकैषणा) से नहीं करना चाहिए। बहुधा यह देखने में आता है कि व्यक्ति जीवन भर सांसारिक भोगों एवं वासनाओं की पूर्ती में लगा रहता है और जब उसका मृत्यु-काल सन्निकट आता जान पड़ता है तो वह यह घोषणा कर देता है कि "मैं समाधिमरण का व्रत ग्रहण करता हूँ।" परन्तु इस तरह से समाधिमरण का व्रत ग्रहण करना उचित नहीं है। ऐसे भावावेश में किया गया समाधिमरण वस्तुत: समाधिमरण नहीं है, क्योंकि समाधिमरण का व्रत ग्रहण करनेवाले व्यक्ति का मन वासनाशून्य होना चाहिए। उसके मन में किसी तरह का लोभ नहीं होना चाहिए। सांसारिक भोगाकांक्षाओं का उसे पूर्णत: त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समाधिमरण का व्रत ग्रहण करने के लिए व्यक्ति में निम्नलिखित योग्यताएँ होनी चाहियें -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो सांसारिक आकांक्षाओं से मुक्त हो, जितेन्द्रिय हो, समस्त राग-द्वेष से स्वयं को दूर रखनेवाला तथा जिसका मन क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों से रहित हो, जिसे अपने गृहीत व्रतों का ज्ञान हो तथा जो जीवन और मृत्यु दोनों ही स्थितियों में समता का भाव रखता हो।

समाधिमरण ग्रहण करने की विधि

समाधिमरण एक कठिन साधना होने के साथ-साथ विशिष्ट प्रकार की क्रियाविधि की अपेक्षा रखता है। पूर्व में हमने समाधिमरण को ४० अधिकारद्वारों के माध्यम से इसे समझने का प्रयत्न किया तथा योग्यता एवं योग्य अवसर के अनुक्रम में भी इसकी विशिष्टता को समझने का सुअवसर मिला। जैसा कि हमें ज्ञात है कि समाधिमरण की अधिकतम अवधि बारह वर्ष की मानी गई है। यह द्वादशवर्ष का समय किस रूप में बिताया जाना चाहिए जिससे कि व्यक्ति के काय और कषाय दोनों अल्प हो सकें, इस विषय पर श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्य जैन ग्रंथों में पर्याप्त चिन्तन हुआ है। इस हेतु हमने- *आचारांग, उत्तराध्ययन, मरणविभक्ति प्रकीर्णक, मूलाचार* और *भगवती आराधना* जैसे प्राचीन जैन ग्रंथों को अपना आधार बनाया है।

आचारांग

आचारांग में समाधिमरण लेने की विधि पर प्रकाश डालते हुए निम्नलिखित तीन क्रियाओं को अपनाये जाने का निर्देश दिया गया है[९६]-

१. आहार को क्रमशः संक्षेप अर्थात् कम करना,

२. कषायों का अल्पीकरण एवं उपशमन करना, तथा

३. शरीर को समाधिस्थ, शान्त एवं स्थिर रखने का अभ्यास करना।

समाधिमरण लेने की विधि में साधक को इसी क्रम का पालन करना चाहिए। समाधिमरण लेनेवाला साधक अपने शारीरिक सामर्थ्य के अनुसार शरीर को कृश करने के लिए आहारादि की मात्रा को अल्प करता है। क्रोध, मान, माया तथा लोभ आदि कषायों को अत्यन्त क्षीण एवं शान्त करता है। इसके साथ ही शरीर, मन, वचन की प्रवृत्तियों को स्थिर कर आत्मीय गुणों को प्रकाशित करने के लिए शुभध्यान का चिन्तन करता है।

आचारांग में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस भिक्षु के मन में ऐसा अध्यवसाय हो जाता है कि सचमुच में इस समय (साधु जीवन की आवश्यक क्रियाएँ करने के लिए) इस (अत्यंत जीर्ण एवं अशक्त) शरीर को वहन करने में क्रमशः ग्लान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(असमर्थ) हो रहा हूँ, (ऐसी स्थिति में) वह भिक्षू क्रमशः (तप के द्वारा) आहार का संवर्तन (संक्षेप) करे और क्रमशः आहार का संक्षेप करके कषायों को कृश (स्वल्प) करे। कषायों को स्वल्प करके समाधियुक्त लेश्या (अन्तःकरण की वृत्ति) वाला तथा फलक की तरह शरीर और कषाय दोनों ओर से कृश बना हुआ भिक्षु समाधिमरण के लिए उत्थित होकर शरीर के सन्ताप को शान्त कर ले।[४७]

श्री मधुकरमुनि जी ने *आचारांग* की अपनी व्याख्या में समाधिमरण का कालगत विभाजन करते हुए इसे जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट कहा है।[४८] उनके अनुसार जघन्य समाधिमरण का काल १२ पक्ष, मध्यम १२ मास का तथा उत्कृष्ट १२ वर्ष कालपरिमाण का होता है। उनके मतानुसार समाधिमरण का अधिकतम काल १२ वर्ष का होता है जबकि न्यूनतम समयावधि १२ पक्ष की। १२ पक्ष का समय अत्यंत अल्प होता है जबकि १२ वर्ष की समयावधि काफी लंबी होती है। इस लंबे काल में साधक के समक्ष विभिन्न तरह की बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं। अस्तु साधक को इन सबसे अपने को मुक्त रखकर संयम की आराधना करने का निर्देश दिया गया है।

द्वादशवर्षीय समाधिमरण की विधि

समाधिमरण का पूर्ण काल १२ वर्ष का माना गया है। इन बारह वर्षों में साधक शरीर और कषाय को कृश करने के लिए विभिन्न प्रकार के तपों का अभ्यास करता है। पूज्य मधुकरमुनि जी इसका विवेचन करते हुए लिखते हैं[४९] -प्रथम चार वर्ष तक कभी उपवास, कभी बेला, कभी तेला, चोला या पंचोला, इस प्रकार चार वर्ष तक तप किया जाता है। तत्पश्चात् फिर चार वर्ष तक उसी तरह विचित्र तप किया जाता है। पारणा के दिन विगयरहित (रसरहित) आहार लिया जाता है। उसके बाद दो वर्ष तक एकान्तर तप किया जाता है, पारणा के दिन आयम्बिल तप किया जाता है। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम ६ मास तक उपवास या बेला तप किया जाता है, द्वितीय ६ मास में विकृष्ट तप-तेला-चोला आदि किया जाता है। पारणे में कुछ ऊनोदरीयुक्त आयम्बिल किया जाता है। उसके पश्चात् १२ वें वर्ष में कोटि सहित लगातार आयम्बिल किया जाता है। पारणा के दिन भी आयंबिल किया जाता है, अन्त में साधक भोजन में प्रतिदिन एक-एक ग्रास को कम करते-करते एक ग्रास (सक्थ) भोजन पर आ जाता है। पूज्य मधुकरमुनि जी का यह विवेचन *आचारांग* पर आधारित है। इस कालावधि में जो भी संकट अथवा उपसर्ग साधक के समक्ष उपस्थित होते हैं उनके निदान के लिए भी *आचारांग* में उल्लेख मिलता है।

इन बारह वर्षों में साधक कषायों को कृश (अल्प) करके अल्पाहारी बनकर परीषहों एवं दुर्वचनों को सहन करता है। यदि भिक्षु ग्लानि को प्राप्त करता है, तो आहार के पास नहीं जाता है अर्थात् आहार का सेवन ही नहीं करता है।[५०] अनशन साधना में स्थित साधक न तो जीने की आकांक्षा करता है न मरने की अभिलाषा ही करता है अर्थात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह जीने और मरने की अभिलाषा नहीं रखे।[५१] सुख-दु:ख में समत्व का भाव बनाए रखकर कर्मों की निर्जरा करनेवाले पथ की साधना करता है तथा राग-द्वेष कषाय आदि आन्तरिक तथा शरीर उपकरण आदि बाह्य पदार्थों का व्युत्सर्ग या त्याग करके शुद्ध अध्यात्म की एषणा (अन्वेषण) करता है।[५२] समाधिमरण लेने के काल में यदि व्यक्ति को अपने जीवनयापन में किसी भी तरह के आतंक आदि का प्रारम्भ जान पड़ता है तो उस समाधिमरण काल के बीच में ही व्यक्ति भक्तप्रत्याख्यान कर पण्डितमरण अपना लेता है[५३] तब साधक या व्यक्ति ग्राम या वन में जाकर स्थण्डिल भूमि का अवलोकन करता है और जहाँ जीव-जन्तु से रहित स्थान होता है वहीं संथारा बिछा लेता है।[५४] संथारा के लिए वह घास, कुश या इसी तरह की अन्य वस्तुओं का उपयोग कर सकता है। कभी-कभी तो वह संथारे के लिए सिर्फ जमीन का ही उपयोग करता है। व्यक्ति संस्तारक पर निराहार होकर (त्रिविध या चतुर्विध आहार का त्याग) शान्तभाव से लेट जाता है। उस समय परीषहों और उपसर्गों से आक्रान्त होने पर उसको समभावपूर्वक, सहजभाव से सहन करता है। मनुष्य द्वारा प्रतिकूल या अनुकूल उपसर्ग उत्पन्न करने पर भी वह अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है।[५५] रेंगनेवाले जन्तु जैसे चींटी आदि प्राणी या आकाश में ऊपर उड़नेवाले जीव जैसे गिद्ध आदि या जमीन के अन्दर रहनेवाले जन्तु जैसे सर्प आदि समाधिमरण लेनेवाले व्यक्ति के शरीर पर हमला करते हैं और उसके मांस, रक्त आदि नोंच-नोच कर खातें हैं तो भी वे उन्हें न तो हटाते हैं और न ही मारते हैं; वरन् इनसे होनेवाले कष्टों को सहजभाव से सहन करते हैं।[५६] साथ ही, इस प्रकार का चिन्तन करते हैं कि ये प्राणी मेरे शरीर का नाश कर रहे हैं, मेरे ज्ञानादि आत्मगुणों का नहीं। इस प्रकार शुभ विचार का चिन्तन करते हुए वे हिंसादि से पृथक् होकर उन उपसर्गों को सहन करते हैं।[५७] इस तरह के साधक शरीर उपकरणादि बाह्य ग्रन्थियों तथा रागादि अन्तरंग ग्रन्थियों से मुक्त होकर समाधिमरण के द्वारा देह का त्याग करते हैं और मुक्ति को प्राप्त करते हैं।[५८]

उत्तराध्ययन

उत्तराध्ययन में समाधिमरण को पंडितमरण कहा गया है। पंडितमरण लेने की विधि पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया है कि समाधिमरण (पंडितमरण) लेनेवाला व्यक्ति शरीर से *सामायिक* के अंगों का सेवन करे, दोनों पक्षों में पोषध करे, परन्तु एक रात्रि को कभी भी हीन नहीं करे।[५९] सामायिक तीन प्रकार की होती है- सम्यक् सामायिक, श्रुत सामायिक और देशव्रत सामायिक। नि:शल्य आदि आठगुण सामायिक के अंग माने गये हैं और इनका स्मरण व्यक्ति को अवश्य करना चाहिए। जिस व्रत के द्वारा धर्म का पोषण किया जाय उसे पोषध कहते हैं। इसी कारण व्यक्ति को एक मास में दो पोषध नहीं तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम से कम एक पोषध अवश्य करना चाहिए।

व्यक्ति को संयम और तप का अभ्यास करके कषयों से रहित हो जाना चाहिए अर्थात् व्यक्ति को काम, क्रोध आदि कषाय से मुक्त हो जाना चाहिए।[६०] कहने का तात्पर्य यह है कि सत्तरह प्रकार के संयम और बाहर प्रकार के तप (भावना) जो शास्त्रों में वर्णित हैं उनका सम्यक् रूप से अनुष्ठान करना चाहिए, क्रोधादि चतुर्विध कषायों से मुक्त हो जाना चाहिए। जब मरण काल आ जाए तो गुरुजनों के समीप जाकर मृत्यु के भय को अपने हृदय से सर्वथा दूर करके अनशन के द्वारा शरीर-भेद अर्थात् देहपतन की प्रतीक्षा करनी चाहिए।[६१] मृत्यु के समय व्यक्ति के मन में उत्साह, प्रसन्नता आदि का भाव रहना चाहिए तथा अनशन करने के पीछे यह भावना नहीं रहनी चाहिए कि इससे मैं शीघ्र मृत्यु को प्राप्त कर लूँगा। तात्पर्य है कि व्यक्ति मृत्यु के स्वागत के लिए सहर्ष तैयार हो जाए तथा मन में ऐसा विचार करे कि अनशन द्वारा ही यदि इस नश्वर शरीर का विनाश होना है तो यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है। काल की दृष्टि से समाधिमरण को तीन कोटियों में बांटा गया है[६२]- उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य । उत्कृष्ट बाहर वर्ष का, मध्यम एक वर्ष का और जघन्य छह मास का होता है।

द्वादश वर्षीय समाधिमरण की विधि

द्वादश वर्षीय समाधिमरण के बाहर वर्षों में से प्रथम चार वर्षों में व्यक्ति दुग्ध आदि विकृतियों (रसों) का त्याग करता है तथा दूसरे चार वर्षों में विविध प्रकार के तप करता है।[६३] फिर दो वर्षों तक एकान्तर तप (एक दिन उपवास और फिर एक दिन भोजन) करता है। भोजन के दिन आयाम–आचाम्ल करता है। उसके बाद ग्यारहवें वर्ष में पहले छह महिनों तक कोई भी अतिविकृष्ट (तेला, चोला आदि) तप नहीं करना चाहिए।[६४] उसके बाद छह महीने तक विकृष्ट तप करना चाहिए। इस पूरे वर्ष में पारणे के दिन आचाम्ल करना चाहिए।[६५] बारहवें वर्ष में एक वर्ष तक कोटि सहित अर्थात् निरन्तर आचाम्ल करके फिर मुनि को पक्ष या एक मास का आहार त्याग अर्थात् अनशन करना चाहिए।[६६]

मरणविभक्ति

मरणविभक्ति या *मरणसमाहि* नामक प्रकीर्णक में समाधिमरण पर विस्तार से चर्चा की गई है। इस प्रकीर्णक के अनुसार समाधिमरण लेने की विधि निम्नलिखित है-

इसके अनुसार समाधिमरण करने के लिए देह और कषाय दोनों को कृश किया जाता है। देह कृशीकरण को बाह्य समाधिमरण (सल्लेखना) तथा कषाय कृशीकरण को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आभ्यन्तर समाधिमरण कहा जाता है।[६७]

शरीर को कृश करने के लिए व्यक्ति नाना प्रकार के तपों का अभ्यास करता है और आहारादि को अल्प करते हुए क्रम से उसका त्याग करता है।[६८] सर्वप्रथम व्यक्ति अपने आहार की मात्रा को कम करता है फिर धीरे-धीरे सभी प्रकार के रसों का परित्याग करता है और अन्त में रस से मुक्त आहार ग्रहण करता है। वह पीने के लिए उबले हुए जल का उपयोग करता है। बाद में व्यक्ति धीरे-धीरे अनशन तप प्रारम्भ करता है। पहले वह अनशन करने की अवधि को कम रखता है बाद में इस अवधि को बढ़ाता जाता है।[६९] इस प्रकार व्यक्ति रस से रहित भोजन तथा अनशन तप को करते हुए अपने शरीर का कृशीकरण करता है।

समाधिमरण करने के क्रम में शरीर-कृशीकरण के साथ-साथ कषायों का भी कृशीकरण किया जाता है। मुख्य रूप से चार प्रकार के कषाय हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ । व्यक्ति को इन चतुर्विध कषायों का कृशीकरण करना चाहिए। क्रोध को क्षमा की सहयाता से, मान को मार्दव की सहायता से, माया को सरलता की सहायता से तथा लोभ को सन्तोष की सहायता से क्षीण या उपशान्त करना चाहिए।[७०] कषायों को अल्प करने से व्यक्ति के राग-द्वेष दूर होते हैं और वह मुक्ति के पथ पर अग्रसर होता है। क्योंकि इन कषायों के कारण ही व्यक्ति तीव्र राग-द्वेष से जकड़ा रहता है। राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करके व्यक्ति सभी अवस्थाओं में समत्व का भाव बनाए रखता है अर्थात् दुःख के कारण वह दुःखी नहीं होता और सुख के कारण हर्षित भी नहीं होता है। वह सांसारिक ममत्व से दूर होकर जीवन और मृत्यु दोनों ही अवस्थाओं में समभाव बनाए रहता है।[७१]

समयानुसार समाधिमरण जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही प्रकार के होते हैं। जघन्य जहाँ छह मास का होता है वहीं उत्कृष्ट बारह वर्ष का। यह समय व्यक्ति आयंबिल तप, अनशन आदि के द्वारा व्यतीत करता है। इन तपों तथा अनशन की सहायता से मुख्य रूप से वह देह का कृशीकरण करता है।[७२] उत्कृष्ट समाधिमरण द्वारा साधक काय और कषाय को क्षीण करता है। काय और कषाय को क्षीण करते हुए वह अपने गुण-दोषों की आलोचना अपने आचार्य के पास जाकर करता है।[७३] समस्त जीवों के प्रति वह क्षमा का भाव रखता है। न तो किसी की निन्दा ही करता है और न ही किसी की बड़ाई । मोह, माया, प्रपंच से दूर होकर वह अपने राग-द्वेष से मुक्त होने का उपक्रम करता है।[७४] उसके बाद गाँव, नगर से दूर पहाड़ की गुफा, जंगल आदि स्थानों पर जीवों से मुक्त क्षेत्र का भलीभाँति परिमार्जन करके संस्तारक को बिछाता है।[७५] यहाँ पर वह निःशल्य, निःकषाए होकर शान्तभाव से मृत्यु आगमन की प्रतीक्षा करता है। जब तक मृत्यु नहीं आती है, वह अपने मन में शुभ विचारों का चिन्तन करता है। वह संस्तारक के रूप में घास, फूस या मात्र जमीन का ही उपयोग करता है तथा यह चिंतन करता है कि यह संस्तारक विशुद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मरण हेतु ही ग्रहण किया जा रहा है।[७६] इस प्रकार व्यक्ति काय और क्लेश को कृश करते हुए बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धि करके समाधिमरण का व्रत ग्रहण करता है और संसार से मुक्ति को प्राप्त करता है।[७७]

मूलाचार

यह दिगम्बर परम्परा का आचार निरूपण करनेवाला एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। आचार्य वट्टेकर को इसका रचयिता माना गया है। इस ग्रन्थ में समाधिमरण लेने की विधि पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है- समाधिमरण व्रत लेनेवाले व्यक्ति को प्राणहिंसा, असत्यवचन, सम्पूर्ण अदत्तग्रहण, मैथून तथा परिग्रह का त्याग करना चाहिए।[७८] व्यक्ति को समस्त प्राणियों में समता का भाव रखना चाहिए । अपनी समस्त आकांक्षाओं का परित्याग कर देना चाहिए तथा संसार के समस्त जीवों के प्रति अपने वैर-भाव का त्याग करना चाहिए अर्थात् हित-अहित भाव से ऊपर उठकर क्षमा-भाव ग्रहण करना चाहिए।[७९]

व्यक्ति को सम्पूर्ण आहार विधि, आहार आदि संज्ञाओं, इस लोक तथा परलोक आदि की आकांक्षाओं का त्याग करना चाहिए[८०]। जब व्यक्ति का मरणकाल निकट हो तो मन में इस तरह का विचार करना चाहिए कि इस देशकाल में उपसर्ग के प्रसंग में यदि मेरा जीवन नही रहा तो मैं चतुर्विध आहार का त्याग करके देहत्याग करुँगा और अगर उपसर्ग टल गया तो पुन: आहार ग्रहण करुँगा। लेकिन अगर मृत्यु अवश्यम्भावी हो अर्थात् मृत्यु का होना टल नही सकता, तब सभी तरह के आहार आदि का मैं मन-वचन-काय से त्याग करुँता ।''[८१] आहारादि का ग्रहण शरीर को टिकाए रखने के लिए किया जाता है, लेकिन जब परिस्थितिवश शरीर को टिकाए रख पाना संभव नहीं होता और इस प्रयत्न में धर्म से भ्रष्ट हो जाने की संभावना रहे तो क्षपक को आहारादि का त्याग करके देहपतन की प्रतीक्षा करनी ही चाहिए।

व्यक्ति अपने शरीर पर से ममत्व का भाव हटा लेता है वह सोचता है कि समस्त दु:खों का कारण यह शरीर ही है अर्थात् हर्ष, विषाद, जरा आदि इस शरीर के कारण ही हैं। क्योंकि शरीर ही जन्ममरण, सुख-दु:ख का उपभोग करता है।[८२] अत: व्यक्ति को इस नश्वर शरीर पर से ममत्व का भाव हटा लेना चाहिए तथा मन को धर्मध्यान या शुभध्यान में लगाना चाहिए । शरीर के नष्ट होने पर या मृत्यु जाने पर किसी तरह का प्रमाद नहीं करना चाहिए और न ही इस शरीर के प्रति किसी तरह का राग रखना चाहिए।

इस प्रकार शरीर पर से अपने ममत्व का त्याग करके प्रतिक्रमण करना चाहिए अर्थात् अपने समस्त दोषों के लिए सभी से क्षमा याचना करनी चाहिए तथा तीन तरह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के आहार का त्याग करना चाहिए और पानक वस्तु का भी परित्याग कर देना चाहिए।[८३] इस प्रकार से काय और कषाय का त्याग करते हुए समाधिमरण के द्वारा मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए ।

भगवती आराधना

भगवती आराधना के अनुसार समाधिमरण का व्रत देह और कषाय दोनों को कृश करते हुए ग्रहण करना चाहिए।[८४] देह का कृशीकरण आहारादि का त्याग करके तथा कषाय का कृशीकरण विभिन्न प्रकार के तप की सहायता से किया जाता है।

शरीर के कृशीकरण के लिए सभी प्रकार के रसों से रहित रूखा भोजन ग्रहण करने तथा[८५] दो प्रकार के अनशन अद्धानशन एवं सर्वानशन करने का विधान है। प्रतिसेवना काल में नियत कालावधि का अनशन अद्धानशन कहलाता है और मरण समय में जो अनशन किया जाता है, वह सर्वानशन कहलाता है।[८६] अपनी साधना के क्रम में व्यक्ति जो आहार अब तक ग्रहण करता आया है उसकी भी मात्रा को कम करता है, अनशन करने के समय को बढ़ाता है तथा अपने बल या योग्यता के अनुसार अपने देह को कृश करता है[८७]।

समाधिमरण व्रत को पूर्ण करने के लिए कषाय को अल्प करना होता है। कषाय मुख्य रूप से चार प्रकार के होते हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ। इन कषायों को अल्प करने के लिए समाधिमरणधारी को इस तरह के तप करने होते हैं जो इन कषायों को शान्त कर दे । व्यक्ति को उन समस्त विकृतियों को त्याग देना चाहिए जो कषायरूपी अग्नि को पैदा करते हैं तथा उन सद्गुणों को अपनाना चाहिए जिससे कषायों का नाश हो।[८८] इस प्रकार व्यक्ति अपने कषाय और देह को कृश करते हुए समभावपूर्वक अपनी तपाराधना में व्यस्त रहता है। जब व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाता है कि उसकी आयु अब समाप्त होनेवाली है, तब वह गुरु के पास जाता है और अपने समस्त कर्मों की आलोचना करते हुए समभावपूर्वक मृत्यु को ग्रहण करता है।[८९]

प्रस्तुत ग्रन्थ में समाधिमरण व्रत पूर्ण करने के लिए बारह वर्ष का समय बतलाया गया है।[९०] बाहर वर्ष साधक को निम्नलिखित ढंग से बिताने का निर्देश दिया गया है-[९१] प्रथम चार वर्ष व्यक्ति नाना प्रकार के तप के द्वारा काय एवं क्लेशों को क्षीण करने में बिताता है। बाद के चार वर्षों में वह भोजन में समस्त प्रकार के रसों का परित्याग करके शरीर को सुखाता है। रसों के परित्याग से तात्पर्य यहाँ दूध, घी, दही आदि तथा मीठा, नमकीन आदि समस्त प्रकार के सरस पदार्थों का परित्याग करना है। शेष चार वर्षों में से दो वर्ष कांजी और रस-व्यंजन आदि से रहित भोजन खाकर व्यतीत करता है। बाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के दो वर्षों में से एक वर्ष केवल कांजी आहार लेता है। अन्तिम बारहवें वर्ष के प्रथम छह महीने मध्यम तप तथा अन्तिम छह महीने उत्कृष्ट तप करते हुए व्यतीत करता है।[९२]

इस प्रकार व्यक्ति इन बाहर वर्षों में विभिन्न प्रकार के तपों की सहायता से एवं अनशनादि करके काय और कषाय को अल्प करता है। काय और कषाय को अल्प करने के अतिरिक्त वह अन्य कार्यों का भी सम्पादन करता है जिसका विस्तृत विवेचन भक्तप्रत्याख्यानमरण से सम्बन्धित अध्ययन में किया जा चुका है।[९३] जैसे विनयरूपी तप को अपनाना, समाधि, अनियत विहार, उपाधि जयणा, सल्लेखना, खामणा (क्षमा), समता, ध्यान आदि प्रकार की साधनाओं एवं आचारों का भी पालन इन बाहर वर्षों में किया जाता है।

आचारांग, उत्तराध्ययन, मरणविभत्ति मूलाचार एवं *भगवती आराधना* आदि ग्रन्थों के आधार पर समाधिमरण लेने की विधि पर चर्चा करने पर हम पाते हैं कि समाधिमरण लेनेवाला व्यक्ति काय और कषाय को क्षीण करता है तथा समभावपूर्वक मृत्यु के आगमन की प्रतीक्षा करता है। समाधिमरण ग्रहण करने के लिए वह विविध क्रियाओं का सम्पादन करता है। यथा- अपने रहने के लिए योग्य स्थान की खोज करता है, योग्य स्थान मिल जाने पर उस स्थान का प्रमार्जन करके घास, फूस आदि का संस्तारक बिछाता है। इसी संस्तारक पर बैठकर मन को एकाग्र करके तीर्थंकर एवं धर्माचार्य को वन्दन करता है। फिर अपने ग्रहीत व्रतों में लगे दोषों का प्रायश्चित्त करता है। तदुपरान्त यावज्जीवन के लिए हिंसादि समस्त पापों का त्याग करता है। फिर क्रमशः चारों आहारों का त्यागकर शरीर के पोषण के प्रयत्नों को त्याग देता है और समाधिस्थ होकर मृत्यु की प्रतीक्षा करता है।

उपर्युक्त सभी ग्रन्थों में इसी प्रकार की चर्चायें कुछ-कुछ अन्तर और साम्य के साथ प्रतिपादित की गई हैं। काय और कषाय-क्षीण करने का निर्देश सभी ग्रन्थों में है। बारह वर्ष का समय किस प्रकार व्यतीत किया जाए इसी को लेकर इन ग्रन्थों में कुछ-कुछ अन्तर है।

बारह वर्षीय समाधिमरण का उल्लेख *आचारांग, उत्तराध्ययन , मरणविभक्ति* एवं *भगवती आराधना* में है, जबकि *मूलाचार* में बारह वर्षीय समाधिमरण का उल्लेख नहीं मिलता है।

आचारांग के अनुसार प्रथम चार वर्ष उपवास, बेला, तेला, चोला, पंचोला आदि विविध तप करने का निर्देश है, तो *उत्तराध्ययन* के अनुसार इन प्रथम चार वर्षों में दुग्ध आदि सरस भोजन के त्याग का निर्देश है। लेकिन *भगवती आराधना* में मात्र इतना ही कहा गया है कि प्रथम चार वर्ष व्यक्ति विभिन्न प्रकार के तपों की साधना से काय और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्लेश को क्षीण करने में व्यतीत करता है। जबकि इस तरह की स्पष्ट विधि *मरणविभक्ति* में नही मिलती है। अत: प्रथम चार वर्षों का मुख्य अन्तर इन तीनों में यही है कि जहाँ *आचारांग* में उपवास के बारे में निर्देश है, *उत्तराध्ययन* में मात्र सरस भोजन के त्याग का निर्देश है; वही भगवती आराधना में मात्र काय एवं क्लेशों को कृश करने के लिए तप करने का निर्देश है, किन्तु किस तरह के तप करने चाहिए इसका स्पष्ट निर्देश नहीं दिया गया है।

बाद के चार वर्षों में *आचारांग* के अनुसार रस से रहित भोजन ग्रहण करने का निर्देश है, *उत्तराध्ययन* में विविध प्रकार के तप करने का निर्देश है, *भगवती आराधना* में रस से रहति भोजन लेने का निर्देश है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बाद के चार वर्षों को लेकर *आचारांग* एवं *भगवती आराधना* में साम्य है, जबकि *उत्तराध्ययन* की इन दोनों से भिन्नता है, क्योंकि इसमें तप का निर्देश करते हुए समस्त भोजन का त्याग प्रथम चार वर्ष में ही करने का निर्देश है।

आचारांग एवं *उत्तराध्ययन* के अनुसार बाद के चार वर्षों में से प्रथम दो वर्ष में एकान्तर तप का निर्देश है, जबकि *भगवती आराधना* में इन दो वर्षों में कांजी और रूक्ष भोजन ही लेने का निर्देश है। *आचारांग* एवं *उत्तराध्ययन* के अनुसार ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छह महीने में बेला या उपवास तप तथा बाद के छह महीने में विकृष्ट तप तेला आदि का निर्देश है, लेकिन *भगवती आराधना* में यह विभाजन नहीं है और सीधे-सीधे ग्यारहवें वर्ष के पूर्ण समय तक कांजी आहार लेने का निर्देश है। *आचारांग* एवं *उत्तराध्ययन* के अनुसार व्यक्ति बारहवें वर्ष में अपने भोजन में धीरे-धीरे कमी करता है और अन्त में आहार का त्याग कर देता है, लेकिन *भगवती आराधना* के अनुसार बाहरवें वर्ष के प्रथम छह महीने व्यक्ति को मध्यम तप एवं बाद के छह महीने में उत्कृष्ट तप करने का निर्देश है।

उपसर्गों को सहन करने का निर्देश तो सभी ग्रन्थों में है, लेकिन संस्तारक (मृत्यु-शय्या) ग्रहण करने का निर्देश जहाँ *आचारांग, मरणविभक्ति, भगवती आराधना* में स्पष्ट है वहीं *उत्तराध्ययन* में इस सम्बन्ध की चर्चा नहीं मिलती है। *आचारांग* में गाँव से बाहर निर्जन क्षेत्र में जीव-जन्तुओं से रहित भूमि पर संस्तारक बिछाने का निर्देश है। *मरण-विभक्ति* के अनुसार गाँव से दूर पहाड़ की गुफा आदि क्षेत्रों में जीव-जन्तुओं से रहित भूमि पर संस्तारक बिछाने का निर्देश है, जबकि *भगवती आराधना* में जीव-जन्तु से रहित तथा मन में क्षोभ पैदा करनेवाले स्थानों से दूर एकांत में संस्तारक बिछाने का निर्देश मिलता है। संस्तारक पर बैठकर व्यक्ति को क्या करना चाहिए इसका निर्देश देते हुए *आचारांग* में कहा गया है कि समस्त प्रकार के उपसर्गों को सहन करते हुए मन को हिंसादि विकारों से पृथक् रखकर तथा रागादि भावों से मुक्त होकर देह का त्याग करना चाहिए। *उत्तराध्ययन* में कहा गया है कि संस्तारक पर आरूढ़ व्यक्ति को समभावपूर्वक मृत्यु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमन की प्रतीक्षा करनी चाहिए। *मरणविभक्ति* के अनुसार संस्तारक पर आरूढ़ व्यक्ति नि:शल्य और नि:कषाय होकर शान्तभाव से मृत्यु आगमन की प्रतीक्षा करता है। *भगवती आराधना* के अनुसार संस्तारक पर आरूढ़ व्यक्ति राग-द्वेष से रहित होकर मृत्यु आगमन की प्रतीक्षा करता है।

समाधिमरण हेतु अपेक्षित जीवनदृष्टि

सामान्यत: व्यक्ति राग-द्वेषादि काषायों से ग्रसित तथा अपनी देह के प्रति ममत्व का भाव बनाए रखता है। इसी ममत्व के कारण व्यक्ति बन्धन में रहता है और मुक्ति को प्राप्त नहीं कर पाता है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए राग-द्वेषादि कषायों को अल्प करने की आवश्यकता होती है। समाधिमरण के द्वारा मुक्ति वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता जिसके कषाय क्षीण हो चुके हैं। अत: समाधिमरण ग्रहण करने के लिए मुख्य रूप से राग-द्वेषादि काषायों को क्षय करना होता है।

मरणविभक्ति में कहा गया है कि व्यक्ति मुख्य रूप से क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चार कषायों से युक्त रहता है। इन कषायों को क्रमश: क्षमा, मार्दव, आर्जव तथा सन्तोष की सहायता से कृश किया जाता है।[९४] ये कषायें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र आदि गुणों का घात करती हैं जिनके कारण व्यक्ति संसार के भवचक्र में उलझा रहता है। इन्हीं के कारण व्यक्ति के मन में विकृति आती है और उसका योग अर्थात् मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक क्रिया-कलाप शुद्ध नहीं रह पाता है। अत: इनकी शुद्धि के लिए इन्हें कृश करना आवश्यक है, क्योंकि इन्हें कृश कर लेने के पश्चात् ही व्यक्ति पञ्चेन्द्रिय रूप चोरों का विनाश करने तथा अन्य सभी तरह के सत्कर्मों को साधने में सफल होता है। इसलिए व्यक्ति को शुभध्यान और सत्कर्मों का आचरण करके इन चतुर्विध कषायों को कृश करना चाहिए।[९५]

देह को कृश करने के क्रम में व्यक्ति अपने मन में यह विचार करता है कि जिस देह का उसने अन्न जल के द्वारा पालन-पोषण किया है। उसी देह को तप-ध्यानादि के द्वारा कृश करके समाधिमरण का व्रत ग्रहणकर अपने जीवन को सफल बनाएगा[९६] इसके लिए व्यक्ति को निरन्तर अपना आहार कम करते जाना चाहिए। सर्वप्रथम वह ठोस आहार का परित्याग करता है और मात्र जलीय आहार का सेवन करता है। तत्पश्चात् चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है और जीवनपर्यन्त उपवास करता है।[९७] उपवास के अन्तर्गत व्यक्ति को क्षुधा, तृषा, शयन (शय्या), रोग-व्याधि आदि वेदनाओं की अनुभूति होने पर उनसे घबराना नहीं चाहिए और इन पर नियन्त्रण रखना चाहिए।

क्षुधारूपी वेदना होने पर क्षुधा के समस्त दोषों तथा अनशन की महत्ता का चिन्तन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हुए क्षुधा वेदना को शान्त करना चाहिए। क्षुधा के दोषों को स्मरण करते हुए व्यक्ति यह विचार करता है कि इसी वेदना के कारण जीव संसार के भवचक्र में फँसा रहता है और सभी प्रकार के दु:खों को भोगता है। आहार स्वादानुभूति का परिचायक है, अत: जो जिह्वा के वशीभूत है उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, क्योंकि भोजन में आसक्त होने से वह भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार नहीं करता । यदि उसकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है तो वह भी मन्द हो जाती है, क्योंकि रसों में रागरूपी मल से लिप्त होने से बुद्धि भक्ष्य वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं देख पाती। इसके अतिरिक्त आहार का लम्पटी मनुष्य विषय सेवन करते हुए प्रमत्त की तरह अपने वश में नहीं रहता।[९८] क्षुधा की यह वेदना कर्मों के संचय का कारण होती है। इसे अनशन से ही शान्त किया जा सकता है।[९९] अगर किसी कारणवश उपवास करनेवाले व्यक्ति को किसी प्रकार का रोग हो जाता है, तो वह स्वयमेव दूर हो जाता है। लेकिन अगर यही व्याधि किसी भोजनभट्ट को होती है, तो उसे दु:ख और क्लेश मिलता है।[१००]

तृष्णा रूपी वेदना का निराकरण व्यक्ति ज्ञान, ध्यान रूप सुधारस का पान करके करता है।[१०१] वह अपने मन में यह विचार करता है कि मनुष्य योनि में जन्म लेकर तथा दरिद्रता से पीड़ित होकर कष्ट के निवारण के लिए धन कमाने के उद्देश्य से उसने इस संसार में परिभ्रमण किया, अपने परिभ्रमण काल में उसने अपनी देह और अन्तरात्मा दोनों को ही जलानेवाली तृष्णा को सहन किया। इस तरह से उसने तृष्णा एवं उससे उत्पन्न कष्टों को सहन किया है। अत: इस समय संन्यास की इस अवस्था में उत्पन्न होनेवाली तृष्णा रूपी वेदना व्यर्थ है,[१०२] क्योंकि यह व्यक्ति को धीरता, माहात्म्य, कृतज्ञता, विनय और धर्म-श्रद्धा जैसे सद्गुणों से निरत करती है। दुर्भिक्ष में व्यक्ति अपनी क्षुधा शांति हेतु बिल्ली, मच्छी, सर्पिणी की भाँति अपने संतानों का ही भक्षण कर लेता है और इस लोक तथा परलोक में दु:खी होता है।[१०३] संतान की मृत्यु अपने आप में सबसे बड़ा दु:ख माना गया है और उसी संतान की मृत्यु स्वयं के आहार के निमित्त करना दु:ख की पराकाष्ठा ही कही जा सकती है।

कठोर नंगी भूमि पर तृणों से बनी शय्या पर सोने से किसी प्रकार का कष्ट होने पर व्यक्ति अपने मन में इस तरह के विचार करके शय्या रूपी परीषह या वेदना को जीतता है- दरिद्रता की स्थिति में या उदरपोषण हेतु पृथ्वी पर भटकते हुए मनुष्य के भव में भी अनेक बार कठिन शय्या पर सोया हूँ। मैंने परवश होकर शय्या जनित दु:खों को भोगा है और उससे जो अपार कष्ट मुझे हुआ है उसके सामने इस अमृदु शय्या का यह क्षणिक कष्ट कुछ नहीं है।[१०४] क्षुधापीड़ित शरीर को शयन हेतु उपयुक्त स्थान नहीं मिलने पर काफी कष्ट होता है। तृणादि से बनी शय्या शरीर में चुभती रहती है। जिसके कारण क्षपक को शरीर जनित यह कष्ट कभी-कभी असह्य भी हो जाता है। यह स्थिति साधक को उसके व्रत–मार्ग से स्खलित भी कर सकती है। अत: मार्ग-स्खलन से बचने के लिए ही साधक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शय्या जनित परीषह के शमन हेतु उपर्युक्त चिन्तन करता है।

उपवास के अन्तर्गत शारीरिक रोग या व्याधि से पीड़ित होने पर तथा उससे उत्पन्न असह्य वेदना की स्थिति में व्यक्ति को अपने मन में यह विचार करना चाहिए कि ये सभा रोग-व्याधि पूर्व भवों के अर्जित अशुभ कर्मों के फल हैं और इनका जबतक उपभोग नहीं किया जाएगा ये अशुभ कर्म नष्ट नहीं होगें।[१०५] अत: ये मेरे लिए कष्टकारक नहीं होकर हितकारी ही हैं, क्योंकि इनकी सहायता से मेरे पूर्व-भवों के अर्जित कर्मों का क्षय हो रहा है इसलिए इन्हें हितकारी मानकर व्यक्ति को रोग-व्याधि के कष्टों से दु:खी नहीं होना चाहिए। इस अवस्था में भी उसे अपने साधनामय मार्ग पर अविचल रहना चाहिए। जहाँ तक संभव हो रोग-व्याधि के कारण उत्पन्न शारीरिक कष्टों को निर्लिप्त भाव से सहन करना चाहिए। ऐसा करना साधक के लिए कठिन कार्य नहीं है, क्योंकि वह समाधिमरण की साधना शरीर और आत्मा के अंतर को समझकर ही प्रारम्भ करता है। आत्मशोधन के लिए शरीर को कृश करना ही पड़ता है, शरीर को कष्ट देना ही पड़ता है। इस कष्ट से घबरा जाने का अर्थ है शरीर के प्रति मोहभाव रखना, जबकि समाधिमरण शरीर के प्रति निर्ममत्व होने की प्रक्रिया का नाम है।

समाधिमरण की साधना में व्यक्ति को अपने मन को शुभध्यान और शुभचिन्तन में लगाना चाहिए। ऐसे चिन्तन को जैनधर्म में अनुप्रेक्षा या भावना कहा गया है। जैन दर्शन में भावना मन का वह भावात्मक पहलू है जो साधक को उसकी वस्तुस्थिति का बोध कराता है। जैन परम्परा में भावनाओं के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है- दान, शील, तप एवं भावना के भेद से धर्म चार प्रकार के हैं। प्रत्येक धर्म का अपना अलग-अलग महत्त्व है, लेकिन जहाँ तक प्रभाव की बात है तो इन चतुर्विध धर्मों में भावना ही महाप्रभावशाली है। संसार में जितने भी सुकृत्य हैं, धर्म हैं, उनमें केवल भावना ही प्रधान है। भावनाहीन धर्म शून्य है। वास्तव में भावना ही परमार्थस्वरूप है। भाव ही धर्म का साधक कहा गया है और तीर्थंकरों ने भी भाव को ही सम्यक्त्व का मूल मन्त्र बताया है।[१०६] कोई व्यक्ति कितना ही दान करे, चाहे समग्र जिन-प्रवचन को कण्ठस्थ कर ले, उग्र से उग्र तपस्या करे, भूमि पर शयन करे, दीर्घकाल तक मुनिधर्म का पालन करे, लेकिन यदि उसके मानस् में भावनाओं की उद्भावना नहीं होती है, तो उसकी समस्त क्रियाएँ उसी प्रकार निष्फल हैं जिस प्रकार से धान्य के छिलके का बोना निष्फल है।[१०७] आचार्य कुन्दकुन्द ने *भावपाहुड* में कहा है कि व्यक्ति चाहे श्रमण हो अथवा गृहस्थ, भाव ही उसके विकास में कारणभूत होता है। भावरहित श्रवण एवं अध्ययन का क्या लाभ?[१०८] जैन आचार्यों ने भावनाओं को मोक्ष का सोपान कहा है। बहुत से जैन ग्रन्थों में भावनाओं पर चर्चा की गई है जिनमें से कुछ ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं- *उत्तराध्ययन, भावपाहुड, भगवती आराधना, योगशास्त्र* आदि। इन समस्त ग्रन्थों में भावनाओं या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख किया गया है। भावनायें निम्न हैं[१०९] (१) अनित्य-भावना, (२) अशरण-भावना, (३) संसार-भावना, (४) एकत्व-भावना, (५) अन्यत्व-भावना, (६) अशुचि-भावना, (७) आस्रव-भावना, (८) संवर-भावना, (९) निर्जरा-भावना, (१०) लोक-भावना, (११) धर्म-भावना, (१२) बोधिदुर्लभ-भावना। इन बारह भावनाओं की विस्तृत चर्चा करने के पूर्व हमें भाव और भावना के अंतर को समझ लेना होगा। भाव और भावना ये दो शब्द हैं। भाव एक विचार है, मन की तरंग है। वह जल के बूंद की तरह है। जब भाव प्रवाह रूप में प्रवाहित होता है, तब वह भावना के रूप में परिणत होता है। भावना में अखण्ड प्रवाह होता है, जिससे मन में संस्कार स्थायी हो जाते हैं। भाव पूर्व रूप है, तो भावना उत्तर रूप है। अत: हम कह सकते हैं कि भाव बीजरूप है,जबकि भावना उससे विकसित वृक्ष। भावना मनुष्य के विचारों को परिष्कृत करने की प्रणाली है जो सुस्थिर संस्कार का निर्माण करती है। समाधिमरण जैन साधना का एक प्रतिरूप है जिसके द्वारा आत्मा में गहरे पड़े हुए विकृत संस्कारों का शोधन कर उन्हें परिष्कृत किया जाता है, ताकि मनुष्य अपने ममत्वभाव को अल्प कर सके।

अनित्य-भावना

संसार के सभी पदार्थों को अनित्य एवं नाशवान मानना अनित्य-भावना है। धन, सम्पत्ति, अधिकार, वैभव ये सब क्षणभंगुर हैं, कालक्रम हैं। कालक्रम से संसार के समस्त पदार्थों में परिवर्तन होता रहता है। पदार्थ का जो स्वरूप प्रात:काल था, वह मध्याह्नकाल में नहीं रहता और जो मध्याह्नकाल में था वह अपराह्नकाल में नहीं रहता है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में समग्र सांसारिक वैभव, इन्द्रियाँ, रूप-यौवन, बल, आरोग्य- सभी इन्द्रधनुष के समान क्षणिक हैं, संयोगजन्य हैं इसलिए व्यक्ति को समग्र सांसारिक उपलब्धियों की अनित्यता एवं संयोगजन्यता को समझकर उनके प्रति आसक्त नहीं रहना चाहिए।[११०]

उत्तराध्ययन में लिखा है कि व्यक्ति का यह शरीर अनित्य है, अपवित्र है और अशुचि से इसकी उत्पत्ति हुई है। इसमें जीव का निवास भी अशाश्वत ही है। यह शरीर दु:ख एवं क्लेशों का भाजन है, अर्थात् यह शरीर स्वभाव से ही अनित्य है। इस शरीर की अपेक्षा से जीव भी अशाश्वत, अनित्य है। शारीरिक एवं मानसिक जितने भी क्लेश हैं, वे सभी इस शरीर के आश्रय से ही हैं।[१११] अत: व्यक्ति को इस शरीर के प्रति होनेवाले ममत्वभाव का त्याग करना चाहिए। *मरणविभक्ति* में अनित्य भावना पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि देव, सुर-असुर, सिद्धि-ऋद्धि, माता-पिता, मित्र-शत्रु, पुत्र-पत्नी, भवन-उपवन, यान-वाहन, बल-वीर्य, रूप-यौवन, देह आदि सब कुछ अनित्य है।[११२] *भगवती आराधना* के अनुसार व्यक्ति का शरीर फेन के बुलबुले के समान है। जिस प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फेन के बुलबुले नष्ट होते हैं, उसी प्रकार यह शरीर भी अवश्य नष्ट होगा।[११३] अत: व्यक्ति को इस शरीर के नष्ट होने पर दु:खी नहीं होना चाहिए। उसे इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि जिस प्रकार पक्षी दिन निकलने पर वृक्ष को छोड़कर अपने-अपने रास्ते की तरफ चल पड़ते हैं, उसी प्रकार प्राणी भी अपनी आयु पूर्ण होने पर अपने-अपने कर्मों के अनुसार अन्य योनियों में उत्पन्न होते हैं।[११४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनित्य-भावना के चिन्तन से व्यक्ति के मन में सांसारिक वस्तुओं, शरीर की नश्वरता आदि का ज्ञान होता है। इसके द्वारा व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं से अपने राग आदि का निषेध करता है। राग का निषेध होने से उसकी आसक्ति देह तथा सांसारिक वस्तुओं पर से हटती है। अत: वह बन्धन से हटकर मुक्ति-पथ की ओर अग्रसर होता है। इस भावना का चिन्तन करने से व्यक्ति का मन सांसारिक वस्तुओं से विरत हो जाता है तथा उसके मन में किसी भी वस्तु के प्रति किसी प्रकार का राग नहीं रहता है। जहाँ तक साधना में इस भावना की उपयोगिता का प्रश्न है तो इसके चिन्तन से व्यक्ति का मन सांसारिक विषय-वस्तुओं से हटता है, फलत: व्यक्ति अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एकाग्र-चित्त होकर आगे बढ़ता है।

अशरण-भावना

"विकराल मृत्यु से बचाने में कोई समर्थ नहीं है"- इस प्रकार की भावना का अर्थ अशरण-भावना है। *उत्तराध्ययन* में कहा गया है कि जिस प्रकार मृग को सिंह पकड़कर ले जाता है उसी प्रकार अन्त समय में मृत्यु भी मनुष्य को ले जाती है। माता-पिता, भाई-बहन या कोई भी उसे मृत्यु के पंजे से मुक्त नहीं करा सकता।[११५] *मरणविभक्ति* के अनुसार जन्म-जरामरण से कोई नहीं बच सकता है। विविध प्रकार के मांगलिक कार्य, मन्त्र-तन्त्र, पुत्र, मित्र, बन्धु-बान्धव जीव को मृत्यु से नहीं बचा सकते।[११६] *भगवती-आराधना* में अशरण-भावना पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जीव (व्यक्ति, मानव) अपने कर्मबन्ध के परिणाम के कारण अशरण है, क्योंकि आत्मा कर्मों के कारण ही बन्धन में पड़ती है। जीव के कषायरूप परिणामों के निमित्त उनके कर्मों की दीर्घ स्थिति होती है। प्राप्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव उनके सहकारी कारण होते हैं । जब वे कर्म अशुभ फल देते हैं तो उससे व्यक्ति को कोई नहीं बचा सकता।[११७] कर्मों के उदय के फलस्वरूप जन्म, जरा, मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना, आदि दु:ख उत्पन्न होते हैं जो व्यक्ति को भोगने पड़ते हैं।[११८] इस अवस्था में व्यक्ति का कोई भी रक्षक या शरणागत नहीं होता है। रोग का प्रतिकार तो औषधि आदि के द्वारा किया जा सकता है, लेकिन कर्म का प्रतिकार नहीं किया जा सकता। कर्म के उदय होने पर महापराक्रमी, महाबलशाली व्यक्ति भी उसके फल से किसी को नहीं बचा सकता। सभी प्रकार की विद्या, मन्त्र-तन्त्र, राजनीति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि इसके सामने निष्फल हो जाते हैं।[११९]

आत्मा पर कर्मों का आवरण रहने के कारण व्यक्ति संसार को अपना शरणस्थल समझने लगता है। वह नानाप्रकार के दु:खों को भोगता हुआ भी इस संसार में रहने की कामना करता रहता है। लेकिन व्यक्ति को ऐसा विचार करना चाहिए कि असातावेदनीय कर्मों के उदय होने पर इन कर्मों का नाश सम्यग्दर्शन, सम्यक्-चारित्र और सम्यग्तप के द्वारा ही सम्भव है, अत: यही मेरे लिए रक्षक और शरणागत है।[१२०]

अशरण-भावना समाधिमरण करने में सहायक है। इस भावना का चिन्तन करने से व्यक्ति को यह ज्ञान होता है कि वह अपने कर्मों का भोक्ता स्वयं है। उसके समस्त बन्धु-बान्धव आदि उसके कर्मों का उपभोग नहीं कर सकते । इससे व्यक्ति अपने कषायों को अल्प करता है, क्योंकि इसकी सहायता से वह सांसारिक वस्तुओं, रिश्ते-नाते, धन-वैभव आदि पर से अपने मोह का त्याग करता है और अपने राग को दूर करता है। साधना में इसकी उपयोगिता यही है कि यह भावना व्यक्ति को सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्-चारित्र तथा सम्यग्तप को शरणभूत मानने का सन्देश देती है और इस प्रकार व्यक्ति मुक्तिपथ पर अग्रसर होता है।

संसार-भावना

संसार की दु:खमयता का विचार करना संसार-भावना है। *उत्तराध्ययन* में कहा गया है कि जन्म दु:खमय है, रोग और मरण दु:खमय है। यह सम्पूर्ण संसार दु:खमय है जिसमें प्राणी को क्लेश प्राप्त हो रहा है।[१२१] यह लोक मृत्यु या मरण से पीड़ित है, जरा से घिरा है और रात-दिनरूपी शस्त्रधारा से त्रुटित है।[१२२]

मरणविभक्ति के अनुसार यह संसार दु:खमय है। यहीं जीव समस्त प्रकार के बन्धनों से बंधा रहता है और दु:ख को भोगता है। जीव अपने बन्धु-बान्धव, मित्र-पुत्र, धन-वैभव, भोग-विलास आदि के साधनों का विनाश होने पर , शरीर में रोग–व्याधि होने पर दु:खी होता है। इस संसार में सर्वत्र दु:ख का साम्राज्य है। इससे व्यक्ति का बचना कठिन है। इस संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ व्यक्ति जन्म-मरण आदि के क्लेशों से मुक्त हो।[१२३] *भगवती आराधना* के अनुसार यह संसार महासमुद्र के समान अनन्त और अथाह दु:खों से भरा पड़ा है। इसे पार करना कठिन है। क्योंकि इस संसार-समुद्र में अनन्तकाय पाताल है तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव परिवर्तन रूप जिसमें भँवर हैं, चार गति रूप महान् द्वीप हैं जो अनन्त हैं।[१२४] इस संसाररूपी समुद्र में हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, परिग्रहरूपी मगर आदि क्रूर जन्तु निवास करते हैं । जाति (नवीन शरीर धारण करना), जरा (वर्तमान शरीर के तेज, बल आदि में कमी होना), मरण (शरीर-त्याग)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि इसके भँवर हैं।[१२५] कर्म-रूपी भाण्ड से भरा हुआ जीव-रूपी जहाज शुभ-अशुभ परिणामरूपी वायु से संसार-रूपी महासागर में प्रवेश करके चिरकाल तक भ्रमण करता रहता है अर्थात् जीव इस संसार में विभिन्न प्रकार की योनियों में जन्म लेकर भ्रमण करता रहता है और दु:खों को भोगता रहता है।[१२६] दु:ख रूपी साम्राज्य से युक्त इस संसार में जीव अनन्तकाल से भ्रमण करता आ रहा है तथा अन्य समस्त जीवों के साथ माता-पिता, बहन-भाई, पुत्री-पुत्र, पत्नी-पति आदि सापेक्ष सम्बन्धों से पीड़ित होता रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस संसार में ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है जो एक जीव ने दूसरे अन्य जीवों के साथ नहीं भोगा है।[१२७]

संसार-भावना समाधिमरण के लिए सहायक रूप है। इस भावना के चिन्तन से व्यक्ति संसार के दु:खों को जान लेता है। उसे यह ज्ञान हो जाता है कि इस समय जो कुछ भी उसके पास है वह इस जन्म के पूर्व उसका अपना नहीं था तथा अगले जन्म में भी यह सब उसका अपना नहीं रह जाएगा । उसके अपने बन्धु-बान्धव पिछले जन्म में उसके अपने नहीं थे और शायद अगले जन्म में भी उसके नहीं होंगे। उसका यह शरीर भी अपना नहीं था। अत: इन सबके प्रति राग या प्रीति रखना उचित नहीं है। व्यक्ति को जो भी कष्ट होता है, उसके बन्धु-बान्धवों को जो पीड़ा होती है उससे उसे दु:खी नहीं होना चाहिए। संसार दु:खों का साम्राज्य है इस भावना के चिन्तन से उसे हर प्रकार के दु:ख का पूर्ण ज्ञान हो जाता है और वह किसी प्रकार के कष्टों से दु:खी नहीं होता है। इस ज्ञानोदय से व्यक्ति राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है। समाधिमरण के लिए राग-द्वेष से रहित होना अनिवार्य है । इस प्रकार यह भावना राग-द्वेष को दूर करने में सहायक होकर समाधिमरण में भी सहायक होती है।

साधना के क्षेत्र में इसकी उपयोगिता यही है कि इसके चिन्तन के द्वारा व्यक्ति संसारजनित तृष्णा को त्यागकर असंसारी भाव को प्राप्त करता है या उसकी प्राप्तत्व की ओर अग्रसर होता है। वह जन्म-मरण से रहित होकर सिद्ध पद को प्राप्त करना चाहता है। असंसारी भाव से तात्पर्य है- सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, मोह से रहित, विघ्नों से रहित, सम्यक् दर्शन से युक्त आत्मा (भाव)।

एकत्व-भावना

एकत्व-भावना का अर्थ है- प्राणी अकेले ही जन्म लेता है और अकेले ही मृत्यु को प्राप्त करता है। अपने शुभाशुभ कर्मों का उपभोग भी वह अकेले ही करता है। मृत्यु के आगमन पर सम्पूर्ण सांसारिक वैभव तथा कुटुम्ब का परित्याग करके व्यक्ति अकेले ही यहाँ से प्रयाण कर जाता है। *उत्तराध्ययन* के अनुसार आत्मा ही सुख-दु:ख का कर्ता है, भोक्ता है और यही आत्मा कर्मों का क्षय करनेवाली है। श्रेष्ठ आचार से युक्त आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मित्र तथा दुराचार से युक्त आत्मा शत्रु है। दुराचार में प्रवृत्त आत्मा अपना जितना अधिक अनिष्ट करती है उतना अनर्थ उसका गला काटनेवाला शत्रु भी नहीं करता। ऐसा निर्दयी संयमहीन पुरुष (आत्मा) मृत्यु के मुख में प्रविष्ट होकर अपने दुराचार को जानकर पश्चाताप करता है।[१२८] *मरणविभत्ति* में एकत्व-भावना पर विचार करते हुए कहा गया है कि जीव अकेले ही कर्म करता है और अकेले ही अपने कर्मों का फल भी भोगता है। जीव अकेले ही सद्गति (मृत्यु) को प्राप्त करता है। मृत्योपरान्त वह अकेले ही परलोक गमन करता है। उसके साथ उसके स्वजन परलोक नहीं जाते।[१२९] *भगवती आराधना* में एकत्व-भावना का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि मेरे आत्मीयजन, धन-वैभव, शरीर आदि परिग्रह मेरे साथ परलोक नहीं जायेंगे। ये केवल इसी लोक तक साथ रहेंगे, क्योंकि जीव अकेले ही परलोक जाता है।[१३०] इस लोक में जो हमारे बन्धु-बान्धव हैं वे परलोक में हमारे बन्धु-बान्धव नहीं हैं, इसी प्रकार धन, शरीर, शयन आसनादि समस्त परिग्रह इसी लोक में काम आते हैं, परलोक में नहीं। कभी-कभी तो ये परिग्रह इस लोक में ही व्यक्ति का साथ छोड़ देते हैं। अतः यह आशा करना व्यर्थ है कि ये समस्त परिग्रह परलोक में हमारे साथ रहेंगे।[१३१] व्यक्ति अपने पिता-पुत्र, मित्र, पत्नी, बन्धु-बान्धव के प्रति जो कर्म करता है उसका फल वह अकेले ही भोगता है, उसके पिता-पुत्र, बन्धु-बान्धव नहीं।[१३२]

इस भावना के चिन्तन से व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाता है कि वह अकेले ही सभी कर्मों का कर्ता-भोक्ता है। धन-सम्पत्ति, आत्मीयजन, जिनके लिए वह पापकर्म या पुण्यकर्म करता है वे सभी उसका साथ छोड़ देनेवाले हैं। यह शरीर भी साथ छोड़नेवाला है, अतः इनके प्रति प्रीति नहीं रखनी चाहिए। आत्मा को सत्कर्मों में लगाकर राग-द्वेष से मुक्त रहना चाहिए। इस प्रकार यह समाधिमरण करने में सहायक होती है।

साधना के क्षेत्र में एकत्व-भावना अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती है। व्यक्ति के मन में आत्मविश्वास जगाती है और उसकी पराङ्मुखता को समाप्त करती है। व्यक्ति के मन में इस भावना का संचार करती है कि जिन स्वजनों के लिए वह पापकर्म का संचय करता आ रहा है, वे सभी उसके सहायक नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त यह ज्ञान प्रदान करती है कि व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ ही उसका एकमात्र सहायक है। अपना हित और अहित दोनों उसी के हाथ में है।

अन्यत्व-भावना

जगत के सम्पूर्ण पदार्थों से स्वयं को भिन्न समझना और इस भिन्नता का पुनः-पुनः विचार करना ही अन्यत्व-भावना है। *मरणविभत्ति* के अनुसार आत्मा से यह शरीर भिन्न है, हमारे बन्धु-बान्धव, अन्य संसार के समस्त भौतिक पदार्थ तथा रिश्ते-नाते हमसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न हैं तथा हम (आत्मा) उन पदार्थों से भिन्न हैं।[१३३] अज्ञानवश व्यक्ति दूसरों के सुख-दुःख को अपना समझकर उनसे सुखी और दुःखी होता रहता है। दूसरों के दुःख को दूर करने का वह निरन्तर प्रयास करता है। इस क्रम में वह अपने स्वयं के दुःख के निराकरण के उपाय का प्रारम्भ भी नहीं कर पाता। उसे इस तथ्य का ज्ञान नहीं हो पाता है कि कोई अन्य व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के कष्ट का समाधान नहीं कर सकता, क्योंकि पूर्वजन्म में किए गए अपने प्रत्येक कर्म का फल प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं भोगना पड़ता है। अतएव प्रत्येक जीवधारी को अपने से भिन्न समझना चाहिए तथा उसके दुःख का कारण स्वयं को नही समझना चाहिए।[१३४] व्यक्ति को यह विचार करना चाहिए कि कोई किसी का स्वजन नहीं है और कोई किसी का परजन नहीं है। अतीत काल में समस्त अनन्त जीव समस्त अनन्त प्राणियों के स्वजन या परजन थे। भविष्य काल में भी सभी प्राणियों के सभी जीव स्वजन एवं परजन होंगे।[१३५]

आचार्य कार्तिकेय का मत है कि माता-पिता, बन्धु-बान्धव एवं पुत्रादि सभी इष्ट जन मेरे नहीं हैं। यह आत्मा उनसे सम्बन्धित नहीं है। वे सभी कर्मवशात् संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं और पथिक की भाँति मिलते एवं बिछुड़ते हैं।[१३६] आचार्य शिवार्य का विचार है कि उपकार और अपकार करने के कारण ही कोई किसी का स्वजन या परिजन होता है। यथा- माता-पिता पुत्र का पालन इस आशय से करते हैं कि वृद्धावस्था में पुत्र उनका सहायक होगा। पुत्र माता-पिता का आदर-सत्कार इस विचार से करता है कि इन्हीं के कारण मेरा जन्म हुआ है अर्थात् इन्हीं की कृपा से मेरा इस लोक में आगमन हुआ है। यदि किसी कारणवश इन सम्बन्धों में परस्पर कोई तनाव या विकार उत्पन्न हो जाता है तो वही माता–पिता–पुत्र आदि एक-दूसरे को परजन समझने लगते हैं।[१३७] अतः व्यक्ति को न तो किसी से राग करना चाहिए न द्वेष ही। उसे यह विचार रखना चाहिए कि सभी प्राणी मुझसे भिन्न हैं और मैं सभी से भिन्न हूँ ।[१३८]

यह भावना समाधिमरण में इसलिए सहायक है, क्योंकि इसका चिन्तन करने से व्यक्ति को संसार के अन्य सभी जीवों से अपनी भिन्नता का परिज्ञान होता है और वह यह सोचता है कि उसे किसी जीव के प्रति राग-द्वेष का भाव नहीं रखना चाहिए। इससे व्यक्ति को कषायों के कृशीकरण में भी सहायता मिलती है। संसार के सभी जीवों को अपने से इतर समझने के कारण व्यक्ति उन जीवों के प्रति अपने ममत्व का त्याग करता है। अतः इस भावना से भी रूपी कषाय को कृश करने में सहायता मिलती है।

साधना के क्षेत्र में इस भावना की उपयोगिता इस रूप में है कि यह व्यक्ति को बाह्य सम्बन्धों की भिन्नता से अवगत कराती है। वह अपने इनसे आदि भावों से मुक्त हो जाता है, फलतः व्यक्ति का मन एकाग्र हो जाता है। वह अपने साधना-पथ पर आगे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ता है और मुक्ति को प्राप्त करता है।

अशुचि-भावना

अशुचि का अर्थ अपवित्र होता है। शरीर के मोह को नष्ट करने के लिए जैन विचारकों ने अशुचि-भावना का विधान किया है। अशुचि-भावना में साधक मुख्य रूप से यह विचार करता है कि जिस देह, रूप, यौवन आदि का हमें अभिमान है, जिस पर हम ममत्व रखते हैं वह अशुचि का भण्डार है। आचार्य शुभचन्द्र शरीर की अशुचिता पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि "यह शरीर कृमियों से भरा हुआ, दुर्गन्धित, वीभत्स रूपवाला, मल-मूत्र से पूरित, गलन एवं ग्लानि स्वभाववाला, रुधिर, मांस-मज्जा, अस्थि आदि अनेक अपवित्र वस्तुओं से बना हुआ है। अस्थियों पर लिप्त मांस एवं त्वचा से आच्छादित यह शरीर सदा से अपावन है।[१३९] *उत्तराध्ययन* में भी शरीर की अशुचिता एवं अशाश्वतता पर प्रकाश डाला गया है।[१४०] *मरणविभक्ति* के अनुसार जीवों का शरीर अपवित्र वस्तुओं से मिलकर बना है अत: इसके प्रति ममत्व का भाव रखना व्यर्थ है। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि मांस और अस्थियों से संयुक्त, मूत्र और विष्ठा से परिपूरित तथा नौ छिद्रों से निन्तर अपवित्र पदार्थों का परिश्रावक (बहने) होनेवाले शरीर में क्या सुख है?[१४१]

भगवती आराधना के अनुसार अर्थ, काम और मनुष्यों का शरीर अशुभ है। सभी सुखों का भण्डार धर्म ही शुभ है, शेष सब अशुभ है।[१४२] अर्थ से तात्पर्य धन से है। धन सभी प्रकार के बुरे परिणामों का कारण है। धन व्यक्ति को इहलोक और परलोक दोनों ही स्थानों में दोषों से युक्त कर देता है। कहने का अर्थ यह है कि प्राय: व्यक्ति धन प्राप्त कर बुरे कर्मों में लिप्त हो जाता है। इस कारण वह इस लोक में तो कष्ट पाता ही है, परलोक में भी उसे कष्ट उठाने पड़ते हैं। बुरे कर्मों के संचय करने के कारण व्यक्ति बन्धन में पड़ा रहता है और विभिन्न प्रकार के दु:खों और योनियों को प्राप्त करता है। मृत्यु आदि भय का कारण धन ही है। इसीलिए धन को महाभय कहा गया है।[१४३] मोक्ष-प्राप्ति में सबसे बड़ा बाधक धन ही है। धन के घमण्ड (गर्व) के कारण ही व्यक्ति मोक्ष के प्रति चिन्तन भी नहीं करना चाहता है।[१४४]

कामभोग अपवित्र होता है। यह स्व तथा पर के शरीर के संयोग से उत्पन्न होता है। यह अल्प काल के लिए ही उत्पन्न होता है, लेकिन व्यक्ति को दोनों ही लोकों में दु:ख प्रदान करता है।[१४५] जीवों का यह शरीर अस्थियों से बना और चर्मों के आवरण से ढ़का है। कई तरह की विकृतियों एवं दुर्गन्धों से युक्त यह सभी रोगरूपी सर्पों का घर है। अत: यह शरीर अशुचित है और इसके प्रति ममत्व रखना व्यर्थ है।[१४६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर, धन, वैभव आदि की अशुचिता का बोध कराकर तथा इन पर से ममत्व का त्याग करने का सन्देश देने के कारण ही यह भावना समाधिमरण में सहायक होती है, क्योंकि ये सभी तथ्य व्यक्ति के राग-द्वेष के कारण बनते हैं। इन पर से जब राग-द्वेष हट जाता है तो व्यक्ति कषायमुक्त हो जाता है। सांसारिक वस्तुओं एवं भौतिक पदार्थों की अशुचिता को जानकर व्यक्ति इनकी तरफ से अपने मन को हटाता है और मोक्ष-प्राप्ति को अपना लक्ष्य समझता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए वह और अधिक एकाग्र चित्त होकर अपनी साधना में रत हो जाता है।

७. आस्रव-भावना

बन्धन के कारणों पर विचार करना आस्रव-भावना है। *मरणविभत्ति* के अनुसार ईर्ष्या, द्वेष, विषाद, क्रोध, मान, लोभ, आदि आस्रव के द्वार हैं। इन आस्रव–द्वारों के माध्यम से कर्मों का आगमन होता हैं। कर्मों का यह आगमन जीवों के गुणों के विनाश का कारण बनता है। जिस प्रकार समुद्र या नदी में छिद्रयुक्त नौका जल भर जाने के कारण नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार जीव भी कर्म–पुद्गलों के भर जाने के कारण विनाश को प्राप्त होता है।[१४७] *योगशास्त्र* में कहा गया है कि कर्मबन्ध का मूल कारण आस्रव है। आस्रव कायिक, वाचिक, मानसिक प्रवृत्ति, राग-द्वेष के भाव कषाय, विषय-भोग, प्रमाद, अविरति, मिथ्यात्व और आर्त, रौद्रध्यान हैं।[१४८] *भगवती आराधना* के अनुसार अरिहंत भगवान् द्वारा कहे गये अनन्त द्रव्य पर्यायात्मक पदार्थों में अश्रद्धान् के कारणों का अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय तथा मोहनीय-कर्मों के अधीन रहकर मिथ्यात्व की उत्पत्ति में सहायक होनेवाले कारणों का विचार करना ही आस्रव भावना है।[१४९] इस संसार के समस्त प्राणी सुख अथवा दुःख का अनुभव करते हैं। ऐसा शुभयोग अथवा अशुभयोग आस्रव के कारण होता है। शुभयोग आस्रव जहाँ पुण्यरूप है वही अशुभयोग आस्रव पापरूप है[१५०]। योग का अर्थ यहाँ उन प्रवृत्तियों से है जो मन में शुभ अथवा अशुभ विचार उत्पन्न करते हैं।

ईर्ष्या, विषाद, क्रोध, मान, लोभ आदि मन को विकारयुक्त करनेवाले कारक होते हैं, पर चिन्तन करने तथा इन्हें दुःखरूप मानने के कारण व्यक्ति इनसे बचना चाहता है। इनसे बचने के लिए वह अपने मन को कषायमुक्त करता है और इस तरह से यह भावना समाधिमरण में सहायक होती है।

८. संवर-भावना

जिन-जिन कारणों से आस्रव की उत्पत्ति होती है उन-उन कारणों का निरोध करना ही संवर है। संवर का बार-बार चिन्तन करना संवर-भावना है। *मरणविभत्ति* में स्पष्टरूप से कहा गया है कि जीव को कर्म-आस्रवों का निरोध करना चाहिए। इसके लिए उसे मन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वचन, काय से इन्द्रियों का निरोध एवं कषायों का नाश करना होता है।[१५१] आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं कि जो-जो आस्रव जिस-जिस उपाय से रोका जा सके, उसे रोकने के लिए विवेकवान व्यक्ति उस उपाय को काम में लाए।[१५२] संवर की प्राप्ति के लिए उद्योग करनेवाले व्यक्ति को चाहिए कि वह क्षमा से क्रोध का, नम्रता से मान का, सरलता से माया का और निस्पृहता से लोभ का निवारण करे।[१५३] अखण्ड संयम, साधना के द्वारा इन्द्रियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति से बलवान बनानेवाले विष के समान विषयों का तथा विषयों की कामना का निरोध करे। तीन गुप्तियों द्वारा तीन योगों को, अप्रमाद से प्रमाद को और सावद्य योग के त्याग से अव्रतों को दूर करे। सम्यग्दर्शन के द्वारा मिथ्यात्व को तथा शुभ भावना में चित्त को स्थिर करके आर्त, रौद्रध्यान को परास्त करे।[१५४] किस आस्रव का किस उपाय से निरोध किया जा सकता है व्यक्ति को उसका चिन्तन बार-बार अपने मन में करना चाहिए और यही चिन्तन संवर-भावना है।

कषायों के उत्पन्न करनेवाले विकारों का पूर्णतया निरोध करने का निर्देश देने के कारण ही यह भावना समाधिमरण में सहायक होती है।

९. निर्जरा भावना

आस्रव को संवर की सहायता से रोककर आगमों में कहे गए विभिन्न प्रकार के तपों की सहायता से पूर्व संचित कर्मों का क्षय करना ही निर्जरा है। निर्जरा के बारे में चिन्तन करना निर्जरा-भावना है। आस्रव संवर मात्र से ही कर्मों का क्षय नहीं हो जाता है। पूर्व के कर्मों के क्षय के लिए तप की आवश्यकता होती है। कहा भी गया है सुरक्षित रखा हुआ धन तब तक खर्च नहीं होता है, जब तक कि उसका उपयोग नहीं किया जाए। *मरणविभक्ति* के अनुसार पुरातन कर्मों का क्षय तप की सहायता से ही होता है।[१५५] *कार्तिकेयानुप्रेक्षा* में निर्जरा के लिए बारह प्रकार के तपों के विधान का वर्णन मिलता है।[१५६] *भगवती आराधना* में भी स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि पूर्व के कर्मों का क्रम से क्षय करना ही निर्जरा है।[१५७]

संवर के द्वारा नवीन कर्मों के आगमन को रोका जाता है तथा निर्जरा के द्वारा पूर्व संचित कर्मों का क्षय किया जाता है। इस प्रकार कर्मों का पूर्ण क्षय होता है। कर्मों के पूर्ण क्षय हो जाने से व्यक्ति कषायमुक्त हो जाता है। व्यक्ति को कषायमुक्त करने में सहायक होने के कारण यह भावना समाधिमरण में सहायक होती है।

१०. लोक-भावना

लोक की रचना, आकृति, स्वरूप आदि पर विचार करना लोक-भावना है। लोक का अर्थ होता है[१५८] धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव। ये द्रव्य जहाँ पाए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाते हैं उस स्थान विशेष को अर्थात् इन छह द्रव्यों के समुच्चय को लोक कहते हैं। लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ ये छह द्रव्य न हों। षड्द्रव्यों में से आकाश द्रव्य सर्वत्र व्याप्त है और अन्य द्रव्य स्थान विशेष में व्याप्त है। आकाश के जितने भाग में छह द्रव्य स्थित हैं, उतने आकाश-खण्ड को लोक कहते हैं। जिस आकाश-खण्ड में षड्द्रव्य न हो, सिर्फ आकाश ही हो, वह अलोक है। यह लोक किसी का बनाया हुआ नहीं है बल्कि अनादिकाल से चला आ रहा है। यह लोक तीन भुवनोंवाला, अन्त में सब तरफ से अतिशय बेगवाले और अतिशय बलिष्ठ तीन बातवलयों से वेष्ठित है तथा ताड़ के वृक्ष के आकार जैसा है अर्थात् नीचे से चौड़ा बीच में सरल (पतला) तथा अन्त में विस्तारूप है।[१५९]

लोक के अधो, मध्य और उर्ध्व तीन भाग हैं। नारकों का निवासस्थान अधोलोक है। यह नरकभूमि के नाम से जाना जाता है। इसकी संख्या सात मानी गई है।[१६०] मध्यलोक की आकृति झालर के समान है। इस लोक में असंख्यात् द्वीपसमुद्र है। जम्बूद्वीप, धात की खंड, कर्मभूमियाँ आदि इसी लोक में अवस्थित होती हैं।[१६१] मध्यलोक के ऊपर ऊर्ध्वलोक है जो आकार में पखावज (मृदङ्गविशेष) के समान है। सिद्धों, देवों का स्थान इसी लोक को माना गया है। इस प्रकार यह लोक स्वर्ग-नरक और मनुष्यलोक में बँटा हुआ है। इसी लोक में नाना प्रकार के प्राणी नाना गतियों में अपने-अपने कर्मों के अनुसार जन्म लेते और मरते रहते हैं।[१६२] अत: लोक की यह संरचना अनादिकालीन स्वनिर्मित है। कर्मवशात् जीव नरक योनि में जन्म लेकर दु:ख भोगता है। कर्मभूमि में जन्म लेकर तीर्थंकरों की तरह सिद्धपद को प्राप्त कर सकता है तथा देवलोक में जन्म लेकर अनन्य सुख का उपभोग कर सकता है।

लोक-भावना का यह चिन्तन हमें यह संदेश देता है कि अन्य द्रव्यों की भाँति हमारी आत्मा भी इस लोक का एक द्रव्य है। हमें उसका यथार्थ स्वरूप जानकर अन्य पदार्थों से ममता छोड़ आत्मभावना का अभ्यास करना चाहिए। यह आत्मभावना की साधना निर्ममत्व होने में सहायता करती है। फलत: साधक समाधिमरण के पथ पर निरंतर प्रगति करता जाता है।

११. धर्म-भावना

धर्म के स्वरूप और उसके आत्मविकास की शक्ति का विचार करना धर्म-भावना है। धर्म के वास्तविक स्वरूप का विचार करना आवश्यक है। एक जैनाचार्य ने धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि जिसमें राग और द्वेष न हो, स्वार्थ और ममत्व का अभाव हो वही सत्य एवं कल्याणकारी धर्म है। इस प्रकार धर्म के वास्तवकि स्वरूप का विचार करना और उसका पालन करना ही धर्म-भावना है। *उत्तराध्ययन* के अनुसार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार में एकमात्र शरण धर्म ही है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई रक्षक नहीं है। जरा और मृत्यु के प्रवाह में डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्मद्वीप ही उत्तमस्थान और शरण रूप है।[१६३] *मरणविभक्ति* में स्पष्टतया कहा गया है कि धर्म के स्वरूप और उसके गुणों का विचार करने से व्यक्ति अपने दोषों से मुक्त होता है। जैसे- जैसे वह दोषों से रहित होता जाता है, वैसे-वैसे वह परमपद (मोक्ष) के निकट होता जाता है क्योंकि दोषों से रहित होने पर उसका मन विषय–वासनाओं से मुक्त होता है।[१६४]

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार दुर्गति में गिरते हुए जीवों को जो धारण करता है, बचाता है, वह धर्म है। सर्वज्ञ के द्वारा कथित संयम आदि के भेद से दस प्रकार के धर्म ही मोक्ष प्राप्त कराते हैं। धर्म उनका बन्धु है जिनका संसार में कोई बन्धु नहीं है, धर्म उनका सखा है जिनका कोई सखा नहीं है। धर्म उनका नाथ है जिनका कोई नाथ नहीं है। अखिल जगत के लिए एकमात्र धर्म ही रक्षक है।[१६५] *भगवती आराधना* के अनुसार धर्म में श्रद्धा करने पर, धर्म को सुनने पर, धर्म को जानने पर, धर्म को स्मरण करने पर फल की प्राप्ति होती है तथा धर्म का पालन करने पर मन को शान्ति मिलती है। धर्म से मनुष्य पूज्य होता है सबका विश्वासपात्र होता है, सबका प्रिय होता है और यशस्वी होता है।[१६६]

इसकी सहायता से व्यक्ति अपने क्लेशों तथा दूषित मनोवृत्तियों से मुक्त होने का प्रयत्न करता है। व्यक्ति के कषाय अल्प होते हैं, क्योंकि कषायों की तीव्रता इन्हीं के कारण बढ़ती है। क्लेशों तथा दूषित मनोवृत्तियों को शुद्ध करने के कारण ही यह भावना समाधिमरण में सहायक होती है।

बोधिदुर्लभ- भावना

बोधिदुर्लभ-भावना के द्वारा यह चिन्तन किया जाता है कि जो बोध प्राप्त हुआ है उसका सम्यक् आचारण करना अत्यन्त दुष्कर है। इस दुर्लभबोध को पाकर भी सम्यक् आचरण के द्वारा आत्मविकास अथवा निर्वाण को प्राप्त नहीं किया तो पुनः ऐसा बोध होना अत्यन्त कठिन है। जैनशास्त्रों में कहा गया है कि चार वस्तुओं की उपलब्धि अत्यन्त दुर्लभ है- "संसार में प्राणी को मनुष्यत्व की प्राप्ति, धर्मश्रवण, शुद्ध-श्रद्धा और संयम मार्ग में पुरुषार्थ की। अत्यन्त कठिनाई से मानव शरीर की उपलब्धि होती है। जैन परम्परा के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति केवल मानव पर्याय में ही सम्भव है। सद्भाग्य से मानव जीवन प्राप्त हो भी जाए तो सत्य धर्म का श्रवण होना अत्यन्त कठिन है। सत्य धर्म का श्रवण करने का अवसर मिल भी जाए, लेकिन ऐसी अनेक आत्मायें हैं जिन्हें धर्म श्रवण के पश्चात् भी उस पर श्रद्धा नहीं होती है। श्रद्धा हो जाने पर भी उसके अनुकूल आचरण करना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार सत्य धर्म की उपलब्धि और उस पर आचरण करना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्यन्त दुर्लभ है। अत: साधक को उनकी दुर्लभता का विचार करते हुए हमेशा यह प्रयास करना चाहिए कि बोधि प्राप्ति का यह जो स्वर्ण अवसर उपलब्ध हुआ है वह हाथों से निकल नहीं जाए।[१६७]

मरणविभक्ति के अनुसार जीव मानव पर्याय, अच्छा वंश, सुन्दर रूप, बल, श्रद्धा, दर्शन, ज्ञान आदि प्राप्त कर सकता है, लेकिन बोधि की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है[१६८] *सूत्रकृतांग* में बोधि दुर्लभता का सन्देश देते हुए कहा गया है[१६९]- हे मनुष्यों! बोध को प्राप्त करो। बोध को प्राप्त क्यों नहीं करते हो? मृत्यु के बाद बोध प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, बीती हुई रात्रियाँ पुन: नहीं लौटती हैं और फिर मनुष्य जन्म मिलना भी दुर्लभ है।''

इस तरह हम देखते हैं कि बारह अनुप्रेक्षायें व्यक्ति को सांसारिकता से विमुख कर निवृत्तिमूलक साधना-पथ पर आगे बढ़ाने में सहायक होती हैं। इनकी सहायता से व्यक्ति उन समस्त भावों से मुक्त होने का प्रयास करता है जो बन्धन के कारण माने जाते हैं। उदाहरणस्वरूप सांसारिक वस्तुओं एवं अपने परिवार के प्रति रागभाव अथवा स्वयं अपने देह के प्रति ममत्व आदि रखना। इन सभी भावनाओं का लक्ष्य व्यक्ति को विषय-वासनाओं से मुक्त कराना है।

अगर हम इन बारह अनुप्रेक्षाओं में से किसी भी एक अनुप्रेक्षा पर अलग-अलग ध्यान केन्द्रित करें तो यही पायेंगे कि प्रत्येक अनुप्रेक्षा व्यक्ति को बन्धन के कारणों से बचने के लिए सजग करती है। यथा-अनित्य-भावना जहाँ संसार के प्रत्येक पदार्थ की नश्वरता का बोध कराती है वहीं अन्यत्व-भावना जगत के सभी वस्तुओं को अपने से भिन्न या पर बताती है। इस भावना के अनुसार संसार में कुछ भी अपना नहीं है सभी पराये हैं। अशुचि-भावना व्यक्ति के देह को ही अपवित्र मानकर उसके प्रति राग-भाव त्याग करने पर बल देती है वहीं अशरण-भावना के अनुसार इस संसार के समस्त जीव असहाय हैं। संसार-भावना संसार के दु:खों का विवरण प्रस्तुत करती है और उसे दु:खमय बताती है। लोक-भावना लोक की रचना और स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए व्यक्ति को नरक योनि से मुक्ति प्राप्त करने का सन्देश देती है। बोधिदुर्लभ-भावना ''बोधि'' दुर्लभता का उल्लेख करती है और आस्रव, संवर, निर्जरा आदि भावना कर्मों का क्षय करके इस बोधि की प्राप्ति का उपाय बतलाती है। धर्म-भावना मन के क्लेशों से मुक्त होकर शान्त चित्त रहने का सन्देश देती है, जिससे बोधि प्राप्त करने में सहजता हो।

इस तरह हम देखते हैं कि प्रत्येक भावना का अपना अलग-अलग महत्त्व है, उनका अपना अलग सन्देश है, जिससे प्रभावित होकर व्यक्ति अपने तीव्र कषायों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अल्प करने में सक्षम होता है। ये सभी भावनायें व्यक्ति के मन में शुभ विचारों की ज्योति जलाकर उसे साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ाने में सहायक होती हैं।

व्यक्ति मुख्य रूप से कषायों के वश में रहकर राग-द्वेष से मुक्त नहीं हो पाता है। लेकिन इन भावनाओं के चिन्तन से वह कषायों को पैदा करनेवाले मूल कारण को ही समाप्त कर देता है। वह अपने ममत्व का नाश इस भावना से करता है कि मेरा इस संसार में कोई नहीं है, यह संसार नाशवान है, मैं अकेला ही अपने कर्मों का कर्ता-भोक्ता हूँ। धन, दौलत, बल, शौर्य आदि सभी कर्मवशात् प्राप्त होते हैं, आज ये मेरे पास हैं कल किसी और के पास होंगे, यदि कोई इसके साथ दुर्व्यवहार करे तो मुझे इस पर किसी तरह का क्रोध नहीं करना चाहिए और न ही अपने धन-दौलत का घमण्ड या अभिमान करना चाहिए।

समाधिमरण प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को मुख्य रूप से कषायों को अल्प करना होता है तथा मन को राग-द्वेष से पूरी तरह मुक्त रखना होता है, तीव्र कषाय को अल्प करने के लिए कषायरूपी चोरों (मान, माया, क्रोध और लोभ) का नाश करना होता है। राग-द्वेष से मुक्त होने के लिए अपने शरीर, बन्धु-बान्धवों पर से अपने ममत्व का त्याग करना होता है। व्यक्ति को अपना मन शुभध्यान में लगाना होता है। साधक को मुख्य रूप से निम्न प्रकार की साधना करनी होती है-

१. अपने देह, अपने कुटुम्बीजनों पर से अपने ममत्व का त्याग करना ।

२. चतुर्विध कषायों को अल्प करना ।

अनुप्रेक्षायें इन दोनों में सहायक होती हैं। अत: समाधिमरण की साधना की दृष्टि से इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

समाधिमरण के अतिचार

समाधिमरण करने के लिए कठिन तप एवं साधना करनी पड़ती है। कभी-कभी साधना दीर्घ समय तक करनी होती है। इस काल में व्यक्ति के मन में तरह-तरह के विचार उठ सकते हैं। उसके मन में कभी अच्छे विचार तो कभी बुरे विचार उठते हैं। लेकिन समाधिमरण करनेवालों को मन में उठनेवाले विचारों पर नियन्त्रण रखना चाहिए, क्योंकि मन में उठनेवाले मनोभावों के कारण समाधिमरण खण्डित भी हो सकता है। जिन मनोभावों के कारण समाधिमरण खण्डित होता है, उन्हें अतिचार कहा जाता है। जैन ग्रन्थों में इन अतिचारों का उल्लेख मिलता है। अतिचारों की संख्या पांच है।

उवासगदसाओ के अनुसार अतिचारों की संख्या पांच है[१३०] (१) इहलोक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशंसा-प्रयोग, (२) परलोक-आशंसा-प्रयोग, (३) जीवित-आशंसा-प्रयोग, (४) मरण-आशंसा-प्रयोग तथा (५) कामभोग-आशंसा-प्रयोग।

(१) इहलोक-आशंसा-प्रयोग- ऐहिक भोगों या भौतिक सुखों की कामना करना जैसे- मैं मरकर राजा, समृद्धिशाली, शक्तिशाली तथा सुखसम्पन्न बनूँ।

(२) परलोक-आशंसा-प्रयोग- स्वर्ग, परलोक आदि में प्राप्त होनेवाले सुखों की कामना करना। जैसे- मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग मिलने की कामना करना और स्वर्ग में मिलनेवाले सभी सुखों के उपभोग की कामना करना।

(३) जीवित-आशंसा-प्रयोग - यश, कीर्ति, सेवा, सुश्रुषा के लिए उपलब्ध सहयोगी के लोभ तथा इसी तरह के अन्य कारणों के वशीभूत होकर अधिक समय तक जीने की लालसा रखना।

(४) मरण-आशंसा-प्रयोग- कठिनव्रत से होनेवाले कष्टों से घबराकर, अनशन के कारण उत्पन्न भूख, प्यास तथा अन्य किसी तरह की शारीरिक प्रतिकूलताओं को कष्ट समझकर शीघ्र मरण की कामना करना।

(५) काम-भोग-आशंसा-प्रयोग- ऐहिक तथा पारलौकिक शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्शमूलक इन्द्रिय सुखों को भोगने की कामना करना।

तत्त्वार्थसूत्र में समाधिमरण के पाँच अतिचारों का उल्लेख मिलता है[१७१]- (i) जीविताशंसा, (ii) मरणाशंसा, (iii) मित्रानुराग, (iv) सुखानुबन्ध और (v) निदानकरण।

(i) जीविताशंसा- आदर, सत्कार, पूजा-पाठ इत्यादि को देखकर अधिक जीने की कामना करना।

(ii) मरणाशंसा- तप के दौरान सेवा, सत्कार करनेवाले को अपने पास नहीं आते देखकर, उद्वेग के कारण मृत्यु की कामना करना।

(iii) मित्रानुराग- मित्रों, मित्रतुल्य व्यक्तियों और पुत्रों पर स्नेह का बन्धन दृढ़ होने से उनसे बिछुड़ने की कल्पना से कष्ट का अनुभव करना।

(iv) सुखानुबन्ध- अनुभूत सुखों का स्मरण करके उनके पुनः उपभोग की इच्छा करना।

(v) निदानकरण- तप व त्याग के फलस्वरूप किसी तरह की सांसारिक सुख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुविधा प्राप्त करने की आकांक्षा रखना।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार में भी समाधिमरण के इन पाँच अतिचारों का वर्णन मिलता है। इसके अनुसार ये पाँच अतिचार इस प्रकार हैं[१७२] (i) जीविताशंसा, (ii) मरणाशंसा, (iii) भयाशंसा, (iv) मित्रानुरागाशंसा और (v) निदानाशंसा।

(i) **जीविताशंसा**-मन में जीने की आकांक्षा रखना। समाधिमरण करनेवाले को मन में इस तरह की आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए- मैं कुछ समय तक और जीवित रहता तो अच्छा होता है।

(ii) **मरणाशंसा**- मृत्यु की आकांक्षा। समाधिमरण की साधना में व्यक्ति को भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि अनेक कष्टों को सहन करना होता है। निर्जन व सुनसान स्थान पर साधना करनी होती है। इससे उसके कष्टों में अभिवृद्धि होती है। इन कष्टों के कारण उसे अपने मन में इस तरह का विचार नहीं करना चाहिए कि मैं शीघ्र ही मर जाता तो अच्छा होता।

(iii) **भयानुशंसा**- भय सम्बन्धी अवधारणा। यह दो प्रकार का होता है- (क) इहलोक भय और (ख) परलोक भय

(क) इहलोक भय- ऐहिक सुखों की कामना करना। समाधिमरण की साधना के लिए जो अनशन व्रत लिया है, इस कारण मेरे शरीर को बहुत कष्ट होगा या व्यर्थ ही इतना कष्ट उठाना होगा आदि इहलोक भय है। कहने का अर्थ यह है कि सांसारिक सुखों की कामना नहीं करनी चाहिए। यथासम्भव इससे बचने का प्रयास करना चाहिए।

(ख) परलोक भय-पारलौकिक सुखों की कामना करना। समाधिमरण करनेवालों को इस तरह की भावना से दूर रहना चाहिए "हमने इतनी कठोर साधना का व्रत तो ले लिया है, क्या पता परलोक में मुझे इसका फल मिलेगा कि नहीं? अगर मिलेगा भी तो किस तरह का?"

(iv) **मित्रस्मृति अतिचार**-बाल्यावस्था में या अभी तक जिन-जिन मित्रों के साथ रहा उनको याद करना मित्रस्मृति नामक अतिचार है। क्षपक को मित्रस्मृति अतिचार से बचना चाहिए।

(v) **निदान अतिचार**- आगामी भोग-उपभोग आदि की आकांक्षा करना निदान अतिचार है। क्षपक को इस तरह की आकांक्षाओं का त्याग करना चाहिए।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में समाधिमरण के इन पाँच अतिचारों का वर्णन इस प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया गया है।[१७३]

(i) जीविताशंसा- असार देह की स्थिति में आदर न होकर जीने की इच्छा करना।

(ii) मरणाशंसा-शारीरिक कष्ट के भय से शीघ्र मरण की कामना।

(iii) सहृदयानुराग-पूर्व के मित्रों के साथ हुई आनन्ददायिनी क्रीड़ाओं को स्मरण करना और उसे भोगने की आकांक्षा रखना।

(iv) सुखानुबन्ध-पूर्व में किए गए भोगोपभोग एवं स्त्री संसर्ग सुखादि की कल्पना करना।

(v) **निदान**-भविष्य काल के लिए भोगों के वांछित रूप की कामना करना।

धर्मामृत (सागार) के अनुसार समाधिमरण करनेवाले व्यक्ति को सदैव इन पाँच अतिचारों से बचना चाहिए। इसके अनुसार ये अतिचार हैं[१७४]-

(i) जीने की इच्छा- अपना विशेष आदर-सत्कार तथा बहुत से लोगों द्वारा अपनी सेवा-सत्कार करते देखकर, लोगों से अपनी प्रशंसा सुनकर ऐसा मानना कि चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देने पर भी मेरा जीवित रहना ही अच्छा है।

(ii) मरने की इच्छा- रोग आदि की पीड़ा से तथा इसी प्रकार के अन्य शारीरिक कष्टों से बचने के लिए शीघ्र मृत्यु की कामना करना अथवा आहार त्याग करने पर कोई मेरा आदर नहीं करता, सेवा और प्रशंसा नहीं करता, इस तरह की भावनाओं के वशीभूत होकर शीघ्र मरने की कामना करना।

(iii) मित्रानुराग - बाल्यावस्था में साथ-साथ खेलने, दु:खों में दु:खी, सुखों में सुखी होनेवाले मित्रों के अनुराग को समरण करना।

(iv) सुखानुबन्ध - मैंने अपने जीवन में कई तरह के उपभोगों का भोग किया है, मैं इस प्रकार सोता था, इस प्रकार क्रीड़ा करता था इत्यादि अनुभूत भोगों को स्मरण करना।

(iv) निदान - इस समय में मैं जो कठिन तप कर रहा हूँ आगामी जन्म में इसके कारण मुझे अच्छा कुल मिलेगा, मैं चक्रवर्ती राजा बनूँगा आदि इच्छाओं की कामना करना।

उपर्युक्त ग्रन्थों के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाधिमरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के मुख्यरूप से पाँच अतिचार हैं। समाधिमरण की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को इन अतिचारों से मुक्त रहना आवश्यक है।

संदर्भ :-

१. भगवतीसूत्र, (घासीलाल जी म०), पृ०-४३८-४४२.

२. वही

३. तए णं से मोग्गरपाणी जक्खे सुदंसणं समणोवासयं अदूरसमंतेणं वीईवयमाणं वीईवयमाणं पासइ, पासित्ता आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसेमाणे तं पलसहस्सणिप्फण्णं अओमयं मोग्गरं उल्लालेमाणे-उल्लालेमाणे जेणेव सुदंसणे समणोवासए तेणेव पहारेत्थ गमणाए। तए णं सुदंसणे समणोवासए मोग्गरपाणिं जक्खं एज्जमाणं पासई, पासित्ता अभीए अतत्थे अणुव्विग्गे अक्खुभिय अचलिए असंभंते वत्थंतेणं भूमिं पमज्जइ, पमज्जित्ता करयलपरिग्गहियं दसहणं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी-अन्तकृद्दशा, (मधुकर मुनि) तृतीय अध्ययन, षष्ठ वर्ग, पृ०-१२१

४. नमोत्थु णं अरहंताणं जाव संपत्ताणं। नमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स आइगरस्स तित्थयरस्स जाव संपाविउकामस्स। पुव्वि पि णं मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए थूलए पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए, थूलाए, मुसावाए, थूलाए अदिण्णादाणे सदारसंतोसे कए जावज्जीवाए, इच्छापरिमाणे कए जावज्जीवाए। तं इदाणिं पिण तस्सेव अंतियं सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि जावज्जीवाए, मुसावायं अदत्तादाणं मेहुणं परिग्गहं पच्चक्खामि जावज्जीवाए, सव्वं कोहं जाव (माणं, मायं, लोहं, पेज्जं दोसं कलहं अब्भक्खाणं पेसुण्णं परपरिवायं अरइरइं मायामोसँ) मिच्छादंसणसल्लं पच्चक्खामि जावज्जीवाए, जइणं एत्तो उवसग्गाओ मुच्चिस्सामि तो मे कप्पइ पारित्तए । अह णं एत्तो उवसग्गाओ न मुच्चिस्सामि 'तो मे तहा' पच्चक्खाए चेव त्ति कट्टु सागारं पडिमं पडिवज्जइ। अन्तकृद्दशा, तृतीय अध्ययन, षष्ठ वर्ग, पृ० १२१-१२२.

५. आचारांग, शीलांक टीका, पत्रांक २८४ आचारांगसूत्र (मधुकरमुनि), पृ० २७९, ब्यावर

६. मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखना करिष्यामि।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम्।।पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १७६ श्रीमद् जयचन्द आश्रम, अगास, १९९६

७. कालेन वोपसर्गेण निश्चित्यायुः क्षयोन्मुखम्।
कृत्वा यथाविधि प्रायं, तास्ताः सफलयेत् क्रियाः।। धर्मामृत (सागार), ८/९,
देहादिवैकृतैः सम्यङ् निमित्तैस्तु सुनिश्चिते।
मृत्युवाराधानामग्न मते दुर्र न तत्पदम् । वही, ८/१०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. जरवग्घिणी ण चंपई जाव ण वियलाइ हुंति अक्खाइं
बुद्धी जाव ण णासइ आउजलं जाव ण परिगलई ।। आराधनासार, २५

९. श्रावकाचार संग्रह (भाग-२), ८/९,१० अनु० पं० हीरालाल सिद्धान्तालंकार, श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर

१०. समाधिमरणोत्साहदीपक, १९-२१ ।

११. जरा रोगेन्द्रियहानिभिरावश्यक परिक्षयो ।। जै० सि० को०, भाग ४, पृ०-३८६.

१२. श्री आचारांगसूत्रम्, अनु०-सौभाग्यमल जी, पृ०-५६६.

१३. आयारो, आचार्य तुलसी, पृ०-२९३.

१४. तत्त्वार्थसूत्र, अनु० पं० सुखलाल संघवी, पृ०-१८३.

१५. Sallekhana is not suicide, p.- 6.

१६. जै० बौ० गी० आ० द० तु० अ०, (भाग-२), पृ०-४३६.

१७. कोसलय धम्मसीहो अट्ठं साधेदि गिद्धपुट्ठेण।
णयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिरिं विप्पजहिदूणा।। भगवती आराधना, २०६७.

१८. पाडलिपुत्ते धूदाहेदुं मामयकदम्मि उवसग्गे।
साधेदि उसभसेणो अट्ठं विक्खाणसं किच्चा।। वही, २०६९.

१९. अहिमारएण णिवदिम्मि मारिदे गहिदसमणलिंगेण ।
उट्ठाहपसमणत्थं सत्थग्गहणं अकासि गणी ।। वही, २०६९ ।

२०. सगडालएण वि तघा सत्तग्गहणेण साधिदो अत्थो।
वररुइपओगहेदुं रुट्ठे णंदे महापउमे ।। वही, २०७०

२१. तस्थौ तरोस्तले यस्य ज्वलितो वह्निना ततः
निपेतवद्भिरालातैः प्रत्यंगं स कदर्थितः ।। आराधनासार, पृ०-८९.

२२. शुकचरेण व्यंतरदेवेन तेन पूर्ववैरमनुस्मृत्य शीतलवारिणा सिक्तः तथा शीतलवातेन कदर्थितः सहजशुद्धं परमात्मानमाराध्य केवलाख्यं च ज्योतिरुत्पाद्य निर्वाणं प्राप्तवान् श्रीदत्तो मुनिः। आराधनासार, पृ०-१०९.

२३. इतश्च पांसुलश्रेष्ठी चिरंतननिजांगनासक्तिजनितं वैरमनुस्मृत्य तीव्रतरक्रोधावेशात्तं मुनीद्रं गजकुमारं लोहकीलकैः कीलयित्वा बहुतरां पीडां चापाद्य प्रपलाय्यगतः। मुनीन्द्रोपि तथा विधां बाधां सोढ्वा धर्मध्यानेन स्वर्गतः।।
वही, पृ० १०८.

२४. अन्तकृद्दशा, अष्टम् अध्ययन, तृतीय वर्ग, पृ०-७८-८०.

२५. तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं संजयाण वुसीमओ।
न संतसन्ति मरणन्ते सीलवन्ता बहुस्सुया ।। उत्तराध्ययन, ५/२९.

२६. णिमम्मो णिरहंकारो णिक्कसाओ जिदिंदिओ धीरो।
अणिदाणो दिठिसंपण्णो मरंतो आराहओ होइ ।। मूलाचार (पूर्वार्द्ध). १०३
णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसाइणो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ।। मूलाचार, पूर्वार्द्ध, १०४.
एदं पच्चक्खाणं जो काहदि मरणदेसयालम्मि ।
धीरो अमूढसण्णो सो गच्छइ उत्तमं ठाणं ।। वही, १०५.

२७. भगवती आराधना, गाथा २०८, २६४.

२८. एयं सरागसंलेहणाविहिं जइ जइ जई समायरइ ।
अज्झप्पसंजुयमई सो पावइ केवलं सुद्धिं ।। मरणविभत्ति, १८७ १८९, १९९, १७६.

२९. उवासगदसाओ- प्रथम अध्ययन से दस अध्ययन के आधार पर ।

३०. तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं, जाव (विउलं कक्कसं, पगाढं, चंडं, दुक्खं) दुरहियासं वेयणं सम्मं सहइ, जाव (खमइ, तितिक्खइ) अहियासेइ।।
उवासगदसाओ, (मधुकर मुनि), ब्यावर, २/१००.

३१. तए णं देवे हत्थि-रूवे कामदेवं ससणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ पासित्ता आसुरत्ते .....। उवासगदसाओ, २/१०५.

३२. .....तिक्खाहिं विसपरिगयाहिं दाढाहिं उरंसि चेव निकुट्टेइ ।
वही, २/१०९, २/११०

३३. तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव पासित्ता आसुरत्ते चुलणीपियस्स समणोवासयस्स जेट्ठं पुत्तं गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता, अग्गओ धाएइ, धाएत्ता तओ मंससोल्लए करेई, करेत्ता आदाणभरियंसि कडाहयंसि अद्दहेइ, अद्दहेत्ता चुलणीपियस्स समणोवासयस्स गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचइ ।।वही, ३/१३०, ३/१३२

३४. उवासगदसाओ, ३/१३३, १३६, १३७, १३८, १४५, १४६, १४९.

३५. वही, ४/१५२

३६. तए णं से देवे सुरादेवं समणोवासयं चउत्थं पि एवं वयासी हं भो । सुरादेवा समणोवासया । अपित्थयपत्थिय ४। जाव न परिच्चयसि, तो ते अज्ज सरीरंसि जमग-समगमेव सोलस-रोगायं के पक्खिवामि, तं जहा-सासे , कासे जाव (जरे, दाहे, कुच्छिसूले, भगंदरे, अरिसए, अजीरए, दिट्ठिसूले, मुद्धसूले, अकारिए, अच्छिवेयणा, कण्णवेयणा, कंडुए, उदरे), कोढे जहा णं तुमं अट्टदुहट्ट जाव (-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ) ववरोविज्जसि ।। उवासगदसाओ, ४/१५२.

३७. वही, ४/१५५.

३८. वही, ४/१५४, १५६.

३९. उवासगदसाओ, ५/१५८.

४०. .... जाव न भंजेसि तो ते अज्ज जाओ इमाओ छ हिरण्ण-कोडिओ निहाणपउत्ताओ, छ वुड्ढि-पउत्ताओ, छ पवित्थर-पउत्ताओ, ताओ साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता आलभियाए नयरीए सिंघाडय जाव (तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह- महापह) पहेसु सव्वओ समंता विप्पइरामि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ववरोविज्जसि ।। वही, ५/१६०.

४१. वही, ५/१६४.

४२. उपासगदसाओ, ८/२५२, २५३.

४३. वही, ८/२५४.

४४. तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीय दोच्चंपि, तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे आसुरत्ते ४ ओहिं पउंजइ, पउंजित्ता ओहिणा आभोएइ, आभोइत्ता रेवइं गाहावइणिं एवं वयासी-हं भो रेवई । अपत्थिय-पत्थिय४ एवं खलु तुमं अंतो सत्त-रत्तस्स अलसएणं वाहिणा अभिभूया समाणी अट्ट-दुहट्ट-वसट्टा असमाहिपत्ता कालमा-से कालं किच्चा अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुए नरए चउरासीइ- वाससहस्सट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उवज्जिहिसि ।। वही,८/२५५.

४५. उवासगदसाओ, ८/२६४, ८/२६५-२६८.

४६. आचारांगसूत्र (मधुकर मुनि) अष्टम अध्ययन, षष्ठ उद्देश्यक, सूत्र २२४.

४७. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति से गिलामि च खलु अहं इमंसि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेण परिवहित्तए' से आणुपुव्वेण आहारं संवट्टेज्जा, आणुपुव्वेण आहारं संवट्टेत्ता कसाए पतणुए किच्चा, समाहियच्चे .....।

आचारांगसूत्र, (मधुकर मुनि) ८/६/२२४.

४८. वही, पृ० २९४. ४९. वही, पृ० २९४.

५०. कसाए पयणुए किच्चा अप्पाहारो तितिक्खए ।
अह भिक्खू गिलाएज्जा आहारस्सेव अंतियं ।। वही, ८/८/२३१.

५१. जीवियं णाभिकंखेज्जा मरणं णो वि पत्थए ।
दुहतो वि ण सज्जेज्जा जीविते मरणे तहा ।।वही, ८/८/२३२.

५२. मज्झत्थो णिज्जरापेही समाहिमणुपालए ।
अंतो बहिं वियोसज्ज अज्झत्थं सुद्धमेसए ।। वही, ८/८/२३३

५३. जं किंचुवक्कमं जाणे आउखेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अंतरद्धाए खिप्पं सिक्खेज्ज पंडिते ।। वही, ८/८/२३४.

५४. गामे अदुवा रण्णे थंडिलं पडिलेहिया ।
अप्पपाणं तु विण्णाय तणाइं संथरे मुणी ।। वही, ८/८/२३५.

५५. अणाहारो तुवट्टेज्जा पुट्ठो तत्थ हियासए ।
णातिवेलं उवचरे माणुस्सेहिं वि पुट्ठवं ।। वही, ८/८/२३६.

५६. संसप्पगा य जे पाणा जे य उड्ढमहेचरा ।
भुंजंते मंससोणियं ण छणे ण पमज्जए ।। वही, ८/८/२३७.

५७. पाणा देहं विहिंसंति ठाणातो ण वि उब्भमे ।
आसवेहिं विवित्तेहिं तिप्पमाणोऽधियासए ।। वही, ८/८/२३८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५८. गंथेहिं विवित्तेहिं आयुकालस्स पारए ।
पग्गहिततरगं चेतं दवियस्स वियाणतो ।। वही, ८/८/२३९.

५९. अगारि-सामाइयंगाइँ सड्ढी काएण फासए ।
पोसहं दुहओ पक्खं एगरायं न हावए ।। उत्तराध्ययनसूत्र, ५/२३.

६०. ताणि ठाणाणि गच्छन्ति सिक्खित्ता संजमं तवं ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा जे सन्ति परिनिव्वुडा ।। वही, ५/२८.

६१. तओ काले अभिप्पेए सड्ढी तालिसमन्तिए ।
विणएज्ज लोम-हरिसं भेयं देहस्स कंखए ।। वही ५/३१.

६२. बारसेव उ वासाइं संलेहुक्कोसिया भवे ।
संवच्छरं मज्झिमिया छम्मासा य जहन्निया ।। वही, ३६/२५१.

६३. पढमे वासचउक्कम्मि विगईनिज्जूहणं करे ।
बिइए वासचउक्कम्मि विचित्तं तु तवं चरे ।। वही, ३६/२५२

६४. एगन्तरमायामं कट्टु संवच्छरे दुवे ।
तओ संवरच्छरद्धं तु नाइविगिट्ठं तवं चरे ।। वही ३६/२५३

६५. तओ संवच्छरद्धं तु विगिट्ठं तु तवं चरे ।
परिमियं चेव आयामं तंमि संवच्छरे करे ।। वही, ३६/२५४.

६६. कोडिसहियमायामं कट्टु संवच्छरे मुणी ।
मासद्धमासिएणं तु आहारेण तवं चरे ।। वही, ३६/२५५.

६७. संलेहणा य दुविहा अब्भिंतरिया १ य बाहिरा २ चेव ।
अब्भिंतरिय कसाए १ बाहिरिया होइ य सरीरे २ ।। मरणविभत्ति १७६.

६८. उल्लीणोल्लीणेहि य अहव न एगंतवद्धमाणेहिं ।
संलिह सरीरमेयं आहारविहिं पयणुयंतो ।। वही, १७८.

६९. छट्ठऽट्ठम-दसम-दुवालसेहिं भत्तेहिं चित्त-किट्ठेहिं ।
मिय-लहुकं आहारं करेहि आयंबिलं विहिणा ।। वही, १८३.

७०. कोहं खमाइ, माणं मद्दवया, अज्जवेण मायं च ।
संतोसेण य लोभं निज्जिण चत्तारि वि कसाए ।। वही, १८९

७१. को दुक्खं पावेज्जा? कस्स य सुक्खेहिं विम्हओ होज्जा ?
को व न लभेज्ज मुक्खं ? राग-दोसा जइ न होज्जा ।। वही, १९७.

७२. छम्मासिया जहन्ना, उक्कोसा बारसेव वारिसाइं ।
आयंबिलँ महेसी तत्थ य उक्कोसयं बिंति ।। वही, १८२.

७३. वही, गाथा २१०, २४०, २४१, २४२, २४३.

७४. जा काइ पत्थणाओ कया मए राग-दोसवसएणं ।
पडिबंधेण बहुविहा, तं निंदे तं च गरिहामि ।। वही, २५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७५. जइ ताव ते सुपुरिसा आयरोवियभरा निरवयक्खा ।
गिरिकुहर-कुंदरगया साहंति य अप्पणो अट्ठं ।। वही, २७०.

७६. न वि कारणं तणमओ संथारो, न वि य फासुया भूमी ।
अप्पा खलु संथारो होई विसुद्धो मरंतस्स ।। वही २८७.

७७. एवं कयसंलेहं अब्भिंतर - बाहिरम्भि संलेहे ।
संसारमोक्खबुद्धी अनियाणो दाणि विहराहि ।। वही, २०७.

८०. सव्वं आहरविहिं सण्णाओ आसए कसाए य ।
सव्वं चेय ममत्तिं जहामि सव्वं खमावेमि ।। मूलाचार (पूर्वार्द्ध), १११.

८१. सव्वं आहरविहिं पच्चक्खामि पाणयं वज्ज ।
उवहिं च वोसरामि य दुविहं तिविहेण सावज्जं ।। वही , ११३

८२. णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण विज्जदे दुक्खं ।
जम्मणमरणादंकं छिंदि ममत्तिं सरीरादो ।। वही, ११९.

८३. पढमं सव्वदिचारं बिदियं तिविहं भवे पडिक्कमणं ।
पाणस्स परिच्चयणं जावज्जीवायमुत्तमट्ठं च ।। वही, ११९.

८४. सल्लेहणा च दुविहा अब्भंतरिया य बाहिरा चेव ।
अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे ।। भगवती आराधना, २०८

८५. सव्वे रसे पणीदे णिज्जूहित्ता दु पत्तलुक्खेण ।
अण्णदरेणुवधाणेण सल्लिहइ य अप्पयं कमसो ।। वही, २०९.

८६. अद्धाणसणं सव्वाणसणं दुविहं तु अणसणं भणियं ।
विहरंतस्य य अद्धाणसणं इदरं च चरिमंते ।। वही, २११.

८७. अणुपुव्वेणाहारं संवट्टतो य सल्लिहइ देहं ।
दिवसुग्गहिएण तवेण चावि सल्लेहणं कुणइ ।। वही, २४९

८८. तं वत्थुं मोत्तव्वं जं पडि उप्पज्जदे कसायग्गि ।
तं वत्थुमल्लिएज्जो जत्थोवसमो कसायाणं। ।। वही, २६४.

८९. णच्चा संवट्टिज्जंतमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ।
अरहंतसिद्धसाहण अंमि सिग्घमालोचे ।। वही, २०१७.

९०. उक्कस्सएण भत्तपइण्णाकालो जिणेहिं णिद्दिट्ठो ।
कालम्मि संपहुत्ते बारसवरिसाणि पुण्णाणि ।। वही , २५४

९१. जोगेहिं विचित्तेहिं दु खवेइ संवच्छराणि चत्तारि ।
विगडी णिज्जूहित्ता चत्तारि पुणो वि सोसेदि ।। वही, २५५.

९२. आयंबिलणिव्वियडीहिं दोण्णि आयबिलेण एक्कं च ।
अद्ध णादिविगट्ठेहिं अदो अद्धं विगट्ठेहिं ।। वही, २५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९३. भ० आ०, गाथा ६५-६९.

९४. कोहं खमाइ, माणं मद्दवया, अज्जवेण मायं च ।
संतोसेण य लोभं, निज्जिण चत्तरि वि कसाए ।। मरणविभत्ति, १८९

९५. तपोचात्र शुभं ध्यानं सत्क्रिया व शुभा गुणाः ।
एतैर्विना क्व संन्यास-शुद्धिः कथं शुभा मतित ।। समाधिमरणोत्साहदीपक, ४७.

९६. जुत्तस्स उत्तमट्ठे मलियकसायस्स निव्वियारस्स ।
भण केरिसो उ लाभो संथारगयस्स खमगस्स ।। संथारगपइण्णयं ४४,४५

९७. ततो मुक्तवाऽखिलाऽऽहारं चतुर्विधमनुक्रमात् ।
यावज्जीवं करोत्येष शोषकानध-हानये ।।समाधिमरणोत्साहदीपक ६५.

९८. णासदि बुद्धी जिब्भावसस्स मंदा वि होदि तिक्खा वि ।
जो णिगसिलेसलग्गो व होई पुरिसो अणप्पवसो ।। भगवती आराधना १६३९.

९९. सह्यन्तेऽत्र पराधीनतया लङ्घनराशिभिः ।
यथा दुःकर्मजा लोकैः क्षुत्क्लेश-दुःख-कोटयः ।। समाधिमरणोत्साहदीपक, ८४.
तथा किन्नात्र सोढव्योपवासादि- तपो- भवा ।
क्वचित्क्षुद्वेदना व्याप्ता दक्षैः सर्वार्थसिद्धिदा ।। वही, ८५.

१००. नित्यात्र- भक्षकाणाञ्च लम्पटानां सदाशिनाम् ।
सर्वाङ्गेषु श्रयन्तेऽहो रुग्दुःखक्लेश कोटयः ।। वही, ८९.

१०१. तं नाण-दंसणाणं चारित्त-तवाण जिणपणीयाणं ।
जं आराहणमिणमो आणा आराहणं बिंति ।। भत्तपरिन्ना, ७.
इत्थं विचार-पानाद्यैः ज्ञान-ध्यान-सुधारसैः ।
क्षपको धैर्ययोगाधैर्जयेत्तृषा-परीषहम् ।। समाधिमरणोत्साहदीपक १०१.

१०२. एतेभ्यश्चिरकालोत्थं – तृड्दुःखेभ्यो नृपुङ्गव ।
संन्यासस्थोऽल्प-तृड्-दुःख तपोजं कोऽत्रमन्यते ।।

१०३. भगवती-आराधाना, गाथा १६४०, १६४२, १६४३ ।

१०४. दारिद्र्य-ग्रसितो दीनः स्वोदरार्थं भ्रमन् महीम् ।
शिलाद्रि-कठिनक्ष्मासु सुप्तोऽहं नृभवेष्यवहम् ।। समाधिमरणोत्साहदीपक, १०६.

१०५. यो रूक् पूर्वार्जिताऽघानां विनाशं कुरुते मम ।
स्वल्प-दुःखादि-दानैः स कथं नेष्टो हितङ्करः ।। वही, ११२.

१०६. प्राकृत सूक्ति सरोज, भावनाधिकार, ३,१६.

१०७. सूक्ति संग्रह, ४१.

१०८. भावपाहुड, ६६.

१०९. अद्धुव असरण भणिया संसारामेगमण्णमसुइत्तं ।
आसव-संवर-णामा णिज्जर लोजाणुपेहाओ ।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा १/२.
अदुवमसरणमेगत्तभण्णसंसारलोपमसुईत्तं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसवसंवर णिज्जर धम्मं बोधि व चितिज्ज ।। भगवती आराधना, १७१०.

११०. भावपाहुड

१११. इमं सरीरं अणिच्चं असुइं असुइसंभवं ।
असासयावासमिण दुक्ख-केसाण भायणं ।। उत्तराध्ययनसूत्र, १९/१३.

११२. सव्वट्ठाणाइं असासयाइं इह चेव देवलोगे य ।
सुर-असुर-नराईणं रिद्धिविसेसा सुहाइं वा ।।
मरणविभत्ति ५७५, एवं गाथा ५७६, ५७७, ५७८.

११३. लोगो विलीयदि इमो फेणोव्व सदेवमाणुसतिरिक्खो ।
रिद्धिओ सव्वाओ सुविणयसंदंसणसमाओ ।। भगवती आराधना, १७/ ११.

११४. प्रातस्तकं करित्यज्ये यथेते यान्ति पत्रिणः ।
स्वकर्मवशगाः शाश्वत्तयेते क्वापि देहिनः।। भावनायोग, ५.

११५. जहेह सीहो व • मियं गहाय मच्चू नरं नेई हु अन्तकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया कालम्मि तम्मिंऽसहरा भवंति ।।
उत्तराध्ययन, १३/२२.

११६. जम्म-जरा-[illegible]भए अभिद्दुए विविहवाहिसंतत्ते ।
लोगम्मि नत्थि सरणं [illegible]जिंदवरसासणं मृतुं ।।
मरणविभत्ति ५७९, एवं गाथा ५८१, ५८२, ५८३.

११७. णिरुवक्कमस्स कम्मस्स फले समुवट्ठिदंमि दुक्खंमि ।
जादिजरामरणरुजाचिंताभयवेदणादीए ।। भगवती आराधना, १७२९.

११८. रोगाणं पडिगारा दिट्ठा कम्मस्स णत्थि पडिगारो ।
कम्मं मलेदि हु जगं हत्थीव णिरंकुसो मत्तो ।। वही, १७३६.

११९. विज्जाहरा य बलदेववासुदेवा य चक्कवट्टी वा ।
देविंदा व ण सरणं कस्सइ कम्मोदार होंति ।। वही, १७३८.
एवं कार्तिकेयानुप्रेक्षा, अशरण भावना, गाथा २३.

१२०. दंसणणाणचरित्तं तवो य ताणं च होई सरणं च ।
जीवस्स कम्मणासणहेदुं कम्मे उदिण्णम्मि ।। भगवती आराधना, १७४१.

१२१. जम्मं दुक्खं जरा दुःख रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसन्ति जन्तवो ।। उत्तराध्ययनसूत्र, १९/१६.

१२२. मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो जरा परिवारिओ ।
अमोहा रयणो वुत्ता एवं ताय ! वियाणह ।। वही, १४/२३.

१२३. सो नत्थि इहोगासो लोए वालग्गकोडिमित्तो वि ।
जम्मण मरणा बाहा अणेगसो जत्थ न य पत्ता । मरणविभात्ति, ५९५.

१२४. बहुतिव्वदुक्खसलिलं अणंतकायप्पवेसपादालं ।
चदुपरिवट्टावत्तं चदुगदिबहुपट्टमणंतं ।। भगवती आराधना, १७६४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२५. हिंसादिदोसमगरादिसावदं दुविहजीवबहुमच्छं ।
जाइजरामरणेदयमणेयजादीसदुम्मीयं ॥ वही, १७६५.

१२६. भावनायोग, पृ० १८.

१२७. सर्वैः सर्वेऽपि सम्बन्धाः संप्राप्ता देहधारिभिः ।
अनादिकालसंभ्रान्तैस्त्रसस्थावरयोनिषु ॥ ज्ञानार्णव, (संसारभावना),११

१२८. न तं अरी कंठछेत्ता करेइ जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥ उत्तराध्ययनसूत्र, २०/४८
अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय-सुपेट्ठिओ ॥ वही, २०/३७.

१२९. इक्को करेइ कम्मं, फलमवि तस्सेक्कओ समणुहवइ ।
इक्को जायइ मरइय, परलोयं इक्कओ जाइ ॥ मरणविभत्ति ५८६.

१३०. णीया अत्था देहादिया य संगा ण कस्स इह होंति ।
परलोगं अण्णेत्ता जदि वि दइज्जंति ते सुट्ठु ॥ भगवती आराधना , १७४५.

१३१. इहलोगबंधवा ते णियया परस्स होंति लोगस्स ।
तह चेव धणं देहो संगा सयणासगा दी ॥ वही, १७४६.

१३२. भावना योग, पृ० २५-२६.

१३३. अन्नं इमं सरीरं अन्नो हं, बंधवा विमे अन्ने ।
एवं नाउण खमं, कुसलस्स न तं खमं काउं ॥ मरणविभत्ति ५९०.

१३४. किहदा जीवो अण्णो अण्णं सोयदि हु दुक्खियं णीयं ।
ण य बहुदुक्खपुरक्कडमप्पाणं सोयदि अबुद्धी ॥ भगवती आराधना, १७४९.

१३५. सव्वो वि जणो सयणो सव्वस्स वि आसि तीदकालम्मि ।
एंते य तहाकाले होहिदि सजणो जणस्स जणो ॥ वही, १७५१

१३६. पंथे पहिय-जणाणं जह संजोओ हवेइ खणमित्तं ।
बंधु जणाणं च तहा संजोओ अद्धुओ होइ ॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १/८

१३७. माया पोसेइ सुयं आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति ।
पोसेदि सुदो मादं गब्भे धरियो इमाएत्ति ॥ भगवती आराधना, १७५५.
होउण अरी वि पुणो मित्तं उवकारकारणा होइ ।
पुत्तो वि खणेण अरी जायदि अवयारकरणेण ॥ वही, १७५६.

१३८. तम्हा ण कोह कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे ।
कज्जं पडि हुंति जगे णीया व अरी व जीवाणं ॥ वही, १७५७

१३९. असृग्मांसवसाकीर्णं शीर्णं कीकसपञ्जरम् ।
शिरानद्धं च दुर्गन्धं क्व शरीरं प्रशस्यते ॥ ज्ञानार्णव, (अशुचि भावना)२

१४०. उत्तराध्ययनसूत्र १९/१३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४१. मंस-ऽट्ठियसंघाए मुत्त पुरीसभरिए नवच्छिड्डे ।
असुइं परिस्सवंते, सुहं शरीरम्मि किं अत्थि ।। मरणविभत्ति, ६०९.

१४२. असुहा अत्था कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणं ।
एओ चेव सुभो णवरि सव्वसोक्खायरो धम्मो ।। भगवती आराधना, १८०७.

१४३. सव्वदुक्खसंनिलयं अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ ।
प्रश्नव्याकरणसूत्र, आस्रवद्वार

१४४. इहलोगिय परलोगियदोसे पुरिसस्स आवहइ णिच्चं ।
अत्थो अणत्थमूलं महाभयं मुत्तिपडिपंथो ।। भगवती आराधना, १८०८.

१४५. कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा ।
उवधो लोए दुक्खावहा य ण य हुंति ते सुलहा ।।
वही, १८०९. एवं योगशास्त्र, द्वितीयप्रकाश, ७७.

१४६. अजिनपटलगूढं पञ्जरं कीकसानां कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढ गाढ ।
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम् ।।

१४७. ईसा-विसाय-मय-कोह-लोह-दोसेहिं एवमाईहिं । ज्ञानार्णव, (अशुचिभावना), १३
देवा वि समभिभूया तेसु वि य कओ सुहं अत्थि? मरणविभत्ति, ६११.

१४८. कषाया विषया योगाः प्रमादाविरती तथा ।
मिथ्यात्वमार्त्तरौद्रे चेत्यशुभं प्रति हेतवः ।। योगशास्त्र, ४/७८.

१४९. मिच्छतं अविभरणं कसाय जोगा य आसवा होति ।
अरहंत वुत्तअत्थेसु विमोहो होइ मिच्छतं ।। भगवती आराधना, १८१९.

१५०. कम्मासवदाराइं निरुंभियव्वाइं इंदियाइं च ।
हंतव्वा य कसाया तिविहं तिविहेण मोक्खत्थं ।। मरणविभत्ति, ६२०.

१५१. मरणविभत्ति, ६२०, ६२१.

१५२. येन येन ह्यु पायेन, सध्यते यो य आश्रवः ।
तस्य-तस्य निरोधाय स स योज्यो मनीषिभिः ।। योगशास्त्र, ४/८१

१५३. क्षमा क्रोधस्य मानस्य मार्दवं त्वार्जवं पुनः ।
मायायाः सङ्गसन्यासो लाभस्यैते द्विषः क्रमात् ।। ज्ञानार्णव (संवर भावना), ६

१५४. गुत्ती जोग-णिरोहो समिदी य पमाद-वज्जणं चेव ।
धम्मो दया-पहाणो सुतत्त-चिंता अणुप्पेहा ।।
कार्तिकेयाणुप्रेक्षा, ९७ एवं योगशास्त्र, ४/८५.

१५५. धण्णा न करंति नवं संजमजोगेहिं कम्मट्ठविहं ।
तवसलिलेणं मुणिणो धोयंति पुराणयं कम्मं ।। मरणविभत्ति, ६२८.

१५६. बारस-विहेण तवसा णियाण-रहियस्स णिज्जरा होदि ।
वेरग्ग-भावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स ।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५७. तवसा विणा ण मोक्खो संवरमित्तेण होई कम्मस्स ।
उवभोगादीहिं विणा धणं ण हु खीयदि सुगुत्तं ।। भगवती आराधना, १८४०.
१५८. धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गल-जन्तवो ।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिंहिं ।। उत्तराध्ययनसूत्र, २८/७
१५९. वेष्टित: पवनै: प्रान्ते महावेगैर्महाबलै: ।
त्रिभिस्त्रिभुवनाकीर्णो लोकस्तालतरूस्थिति: ।। ज्ञानार्णव, (लोकभावना), २
१६०. तत्त्वार्थ, ३/१. १६१. वही, ३/७,१२,१४.
१६२. यत्रैते जन्तव: सर्वे नानागतिषु संस्थिता: ।
उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते कर्मपाशवशंगता ।। ज्ञानार्णव (लोकभावना), २
१६३. मरिहिसि राय! जया तया वा मणोरमे कामगुणे पहाय ।
एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ।। उत्तराध्ययनसूत्र १४/४०
१६४. जह-जह दोसोवरमो, जह-जह विसएसु होई वेरग्गं ।
तह-तह विण्णायव्वं आसन्नं से पयं परमं ।। मरणविभत्ति, ६३२.
१६५. दुर्गतिप्रपतत्प्राणि-धारणाद्धर्म उच्यते ।
संयमादिदशविध: सर्वज्ञोक्तो विमुक्तये ।। योगशास्त्र, २/११.
अबन्धूनामसौ बन्धुरसखीनामसौ सखा ।
अनाथानामसौ नाथो धर्मो विश्वैकवत्सल: ।। वही, ४/१००.
१६६. धम्मेण होदि पुज्जो विस्ससणिज्जो पिओ जसंसी य ।
सुहसज्झो य णराणं धम्मो मणणिव्वुदिकरो य ।। भगवती आराधना, १८५२
१६७. ज्ञानार्णव गाथा ५,६,१२ एवं भ० आ० १८५२-१८५२.
१६८. माणुस्स-देस-कुल-काल-जाई इंदियबलोवयाणं च ।
विन्नाणं सद्धा दंसणं व दुलहं सुसाहूणं ।। मरणविभत्ति, ६३४.
१६९. सूत्रकृतांग २/१/१.
१७०. ...इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे । - उवासगदसाओ, १/५७
१७१. जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानकरणानि ।।- तत्त्वार्थसूत्र, ७/३२
१७२. जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामान: ।
सल्लेखनातिचारा: पञ्च जिनेन्द्रै: समादिष्टा: ।। रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ५/८
१७३. जीवितमरणाशंसे सुहृदनुराग: सुखानुबन्धश्च ।
सनिदान: पन्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ।। पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १९५
१७४. जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागं सुखानुबन्धमजन् ।
सनिदानं संस्तरगश्चरेच्च सल्लेखना विधिना ।। धर्मामृत (सागार) ८/४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचम अध्याय

जैनधर्म में समाधिमरण की परम्परा

जैनधर्म में समाधिमरण की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। समाधिमरण की घटनाओं का उल्लेख कतिपय प्राचीन जैन ग्रन्थों में तो मिलता ही है, साथ ही इस सम्बन्ध में अनेक अभिलेख या शिलालेख भी प्राप्त होते हैं। किसी तथ्य की ऐतिहासिकता की पुष्टि के लिए शिलालेखों का स्थान अद्वितीय है। शिलालेखों में उत्कीर्णित वाक्यों को सन्देहात्मक दृष्टि से नहीं देखा जा सकता, जबकि साहित्यिक साक्ष्यों पर सन्देह किया जा सकता है, क्योंकि साहित्यिक साक्ष्यों में परिवर्तन या परिवर्द्धन की अधिक सम्भावना रहती है। इसी तथ्य को दृष्टिगत करते हुए समाधिमरण की ऐतिहासिकता की पुष्टि के लिए हमने शिलालेखों में वर्णित समाधिमरण के उदाहरणों को यथासम्भव संकलित करने का प्रयास किया है।

कालक्रम के आधार पर इन शिलालेखों के समय का भी वर्गीकरण किया गया है। सामान्यतया काल विभाजन एक समस्या ही है, फिर भी विद्वानों ने लगभग सातवीं शती तक और उससे पूर्व का काल प्राचीन काल एवं ८वीं शती से १६ वीं शती तक का समय मध्यकाल माना है। इसके बाद का काल आधुनिक काल कहलाता है। कालक्रम के इसी वर्गीकरण के आधार पर समाधिमरण की परम्परा का उल्लेख किया गया है।

प्राचीन काल

तमिलनाडु एवं कर्णाटक के पहाड़ों की गुफाओं में ब्राह्मी लिपि में कुछ व्यक्तियों के नाम मिलते हैं। विद्वानों का विचार है कि ये नाम इन गुफाओं में समाधिमरण करने वाले व्यक्तियों के होने चाहिए। इनका काल ई० पू० से लेकर ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी का माना जाता है। श्रवण बेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर प्राप्त शिलालेख में महावीर से भद्रबाहु तक की आचार्य परम्परा का वर्णन करते हुए भद्रबाहु के शिष्य प्रभाचन्द्र[१] के द्वारा इस स्थान पर समधिमरण लेने का उल्लेख है। यद्यपि यह शिलालेख शक संवत् ५२२ का माना जाता है। इस शिलालेख में उल्लिखित प्रभाचन्द्र को विद्वानों ने चन्द्रगुप्त मौर्य कहा है। यद्यपि यह प्रश्न विवादास्पद है, किन्तु इतना निश्चित है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधिमरण प्राप्त करने का उल्लेख करनेवाला यह शिलालेख प्राचीनतम है।

इसी स्थान पर लगभग शक संवत् ६२२ का दूसरा शिलालेख उपलब्ध है, जिसमें चित्तूर के मौनी गुरु की शिष्या नागमति गन्तियर[२] के द्वारा तीन मास का अनशन करके शरीरांत करने का उल्लेख है।

वहीं अन्य शिलालेखों में मुनि चरित श्री[३], नेडुबोर का पानप भट्टार[४], धर्मसेन के शिष्य बलदेव[५], उग्रसेन[६], मौनी के शिष्य गुणसेन[७], मेरुमाली की शिष्या धण्णे कुत्तारेवि गुरवि[८], उल्लिकाल[९], तार्त्थद[१०], कालाविर के शिष्य कलापक[११], ऋषभसेन के शिष्य नागसेन[१२], म्मडिगले[१३], वट्टे के शिष्य सिंहनन्दि[१४] के समाधिमरण व्रत ग्रहण करने का उल्लेख है।

पुन: इसी स्थान पर मिले अन्य शिलालेखों में नन्दिसेन[१५], देवसेन[१६], आचार्य चन्द्रदेव[१७] के समाधिमरण का उल्लेख है।

कटवप्र पर्वत से प्राप्त शिलालेखों में जो सम्भवत: ७वीं शदी के हैं, में भी समाधिमरण लेनेवाले के नाम वर्णित हैं। इन शिलालेखों में , अनन्तमती[१८], ससमितिगन्ति[१९] के समाधिमरण का उल्लेख मिलता है।

कटवप्र पर्वत पर कुछ और भी शिलालेख मिले हैं। ये सभी शिलालेख लगभग सातवीं शती के प्रारम्भ के हैं। इन शिलालेखों में कालान्तुर के किसी मुनि[२०] (नाम स्पष्ट नहीं है।), गुणदेव सूरि[२१], शुद्धमुनि[२२], महादेवमुनि पुङ्गव[२३], साध्वी राज्ञीमतिगन्ति[२४], इन्द्रनन्दि[२५] के समाधिमरण का विवरण मिलता है। इसके अतिरिक्त भी कुछ अन्य शिलालेख हैं जिनमें समाधिमरण लेनेवालों के नाम स्पष्ट नहीं हैं।

छठी-सातवीं शताब्दी के ही कुछ शिलालेख अन्य स्थानों से प्राप्त हुए हैं। इनमें पेत्वणि[२६] वंश के किसी व्यक्ति के समाधिमरण के उल्लेख के साथ-साथ, नविलूर संघ के आचार्य[२७] (नाम स्पष्ट नहीं हैं), माविअब्बे[२८], नन्दिमुनि[२९] पुर्त्तिय[३०] आदि व्यक्तियों के समाधिमरण लेने के विवरण हैं।

मध्यकाल

मध्यकाल में भी समाधिमरण की परम्परा कायम रही, क्योंकि विभिन्न स्थानों से प्राप्त मध्यकालीन शिलालेखों में भी समाधिमरण का उल्लेख मिलता है। इनमें कुप्पटूर, नेल्लूर, भरङ्गी, मैसूर तथा अन्य कई स्थान उल्लेखनीय हैं।

बन्दलिके से प्राप्त शिलालेख में से एक शक संवत् ८४० का है। इसमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जक्कियब्बे के समाधिमरण का उल्लेख है।[३१] यहाँ से प्राप्त दूसरा शिलालेख ललिकीर्ति मुनि के शिष्य शुभचन्द्रदेव[३२] के समाधिमरण का उल्लेख करता है। यह शिलालेख सम्भवत: १२१३ ई० का है।

बिदरे से प्राप्त शिलालेख जो सम्भवत: १०वीं सदी का है। इस शिलालेख में त्रिलोकचन्द्र भट्टार के शिष्य रविचन्द्र भट्टार[३३] एवं एक अन्य जैन मुनि[३४] के समाधिमरण का उल्लेख है।

अङ्गडि से भी शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जो सम्भवत: ९वीं और १०वीं शती के हैं। इन शिलालेखों में विमलचन्द्र पंडितदेव[३५], वज्रपाणि व्रतीश्वर[३६], शुभचन्द्रदेव के शिष्य प्रभाचन्द्र[३७] के समाधिमरण का वर्णन मिलता है।

नेल्लूर से प्राप्त शिलालेख, जो दसवीं-ग्यारहवीं शती का है- में जक्कियब्बे[३८] मदुवङ्गनाड् का स्वामी किविर के अयय[३९] के समाधिमरण का वर्णन है।

हिरे-अवलि से कुछ शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जो ११वीं से लेकर १४वीं शती तक के हैं, में चन्द्रदेव, सिद्धान्तदेव के शिष्य माधवसेन-भट्टारक देव[४०], देवनन्दि के गृहस्थ शिष्य नालप्रभु आवलि[४१], सिद्धान्तदेव के गृहस्थ शिष्य चन्द्रगोड[४२], हरिहर राय के मन्त्री, कान-रामण की पत्नी काम गौण्ड[४३], कोप्पण और उसकी पत्नी[४४] के समाधिमरण का उल्लेख है।

करडालु के शिलालेखों में महासती हर्य्यले[४५], कौण्डकुन्दान्वय की गृहस्थ शिष्या हरिहर देवी के[४६] समाधिमरण की चर्चा है। ये शिलालेख सम्भवत: ११वीं शती के हैं।

१२वीं-१४वीं शदी के शिलालेख "हेग्गेरे" से प्राप्त हुए हैं। इन शिलालेखों में मेघचन्द्र भट्टारक देव[४७], चन्द्रकीर्ति[४८] आदि के समाधिमरण का उल्लेख है। चिक्कमागदि में समाधिमरण का उल्लेख करनेवाले शिलालेख मिले हैं, जो ११वीं शती के हैं। इन शिलालेखों में वीरोज[४९] और बौम्मव्वे[५०], मुडिकेसावन्तने[५१], बम्मोज[५२], शुभकीर्ति[५३] पण्डित की शिष्या कामव्व[५४] के समाधिमरण की चर्चा है।

'कडकोल' से कुछ शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जो १२वीं शती के हैं। इन शिलालेखों में सोमय्य[५५], मारगावुण्ड[५६], चण्डिगौडि[५७] के समाधिमरण का उल्लेख है।

उद्रि से तेरहवीं शदी के शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इन शिलालेखों में बोम्मगौड[५८], चन्द्रसेन सूरि के शिष्य मुनिभद्रदेव[५९] के समाधिमरण का उल्लेख है। यहीं से एक और शिलालेख प्राप्त हुआ है जो समाधिमरण की ही चर्चा करता है, लेकिन समाधिमरण लेने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले का नाम स्पष्ट नहीं हो पाया है।[६०]

हुम्मच से १२वीं शती के शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इन शिलालेखों में डेवेग्गडे[६१], पार्श्वसेन बोव[६२], बालचन्द्रदेव की गृहस्थ शिष्या सोयिदेवि[६३], पुष्पसेन देव और अकलङ्कदेव[६४], गुणसेन सिद्धान्तदेव के गृहस्थ शिष्य यादगवुड[६५], पायण्ण[६६] के समाधिमरण का उल्लेख है।

हलेबीड से दो शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें एक १२वीं शती का और दूसरा लगभग १३वीं शती का है। इन शिलालेखों में अभयचन्द्र[६७], रामचन्द्र मलधारिदेव[६८] के समाधिमरण की चर्चा की गई है।

तवनन्दि से कुछ शिलालेख मिले हैं, जो सम्भवत: १२वीं-१३वीं शती के हैं। इन शिलालेखों में मगलु सिरियव्वे[६९], दण्डेश माधव[७०], बोम्मण[७१], लक्ष्मी बोम्मनक्क[७२] के समाधिमरण की चर्चा की गई है।

भरङ्गी से १४वीं शती के शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें गोपण[७३], भागीरथी[७४], बुल्लप के समाधिमरण का उल्लेख किया गया है।

चन्द्रगिरि पर्वत पर दण्डनायक बलदेव के पुत्र सिङ्गिमय[७५] के समाधिमरण का उल्लेख मिलता है। बसवनपुर से ११वीं शती के शिलालेख में चन्द्रप्रभ मुनिनाथ[७६] के समाधिमरण का वर्णन मिलता है। बलगाम्बे से प्राप्त ११वीं शती के शिलालेखों में पद्मियक्के[७७] और पद्मोवे[७८] के समाधिमरण की चर्चा की गई है। नित्तर से प्राप्त १२वीं सदी के शिलालेख में मालब्बे और वो डिडयचके[७९] के समाधिमरण की चर्चा मिलती है।

इसी प्रकार दानसाले के १२वीं शती के शिलालेख में पद्मप्रभु के शिष्य चलिग सेनबोव[८०] के समाधिमरण लेने का वर्णन है। पुरले से प्राप्त १२वीं शती के शिलालेख में विनयनिधि बालचन्द्र[८१] के समाधिमरण का उल्लेख मिलता है। चिक-मगलूर से प्राप्त १२वीं शती के शिलालेख में मसणगौड के पुत्र सोम[८२] के समाधिमरण की चर्चा मिलती है। हुलुहल्लि नामक स्थान में १२वीं शती के एक शिलालेख में चन्द्रकीर्ति[८३] और उनके विभिन्न शिष्यों[८४] के समाधिमरण का उल्लेख मिलता है। हलसोरब नामक स्थान में १३वीं शती के शिलालेख में तम्मगौड[८५] के समाधिमरण के बारे में जानकारी दी गई है।

हादिकल्लु में एक शिलालेख मिला है, जो सम्भवत: १४वीं शती का है। इस शिलालेख में कलिगौण्ड[८६] के समाधिमरण लेने का वर्णन मिलता है।

मैसूर के भिन्न-भिन्न स्थानों से भी समाधिमरण से सम्बन्धित शिलालेख प्राप्त हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। ये शिलालेख १०वीं से लेकर १४वीं शती के हैं। इन शिलालेखों से श्रीधरदेव के शिष्य नेमिचन्द्र[८७], नागकुमार की पत्नी जविकयब्बे[८८], सएलाचार्य[८९],अमृतब्बेकान्ति[९०], देवेन्द्र पंडित भट्टारक की शिष्या मारब्बेकन्ति[९१], सिन्दय्य[९२], प्रभाचन्द्र सिद्धान्त भट्टारक की शिष्या देवियब्बे[९३], महेन्द्रकीर्ति[९४], राचय[९५], आचार्य सिंहनन्दि[९६], माकब्बेजनित[९७], जयकीर्तिदेव के शिष्य नागचन्द्र सिद्धान्तदेव[९८], कनकनन्दि[९९] तथा भास्करनन्दि पंडितदेव[१००], भोगवे[१०१], सातिपेट[१०२], नागययने[१०३], हव्वक्का[१०४], चन्द्रप्रभदेव की शिष्या पेण्डरवाचिमुत्तव्वे[१०५], मुनिचन्द्रदेव एवं उनके शिष्य पालयकीर्तिदेव[१०६], आचार्य मलधारि[१०७], बोम्मब्बे[१०८], माघवचन्द्रदेव की शिष्या[१०९], देमायप्प[११०], कमलसेन की शिष्या जकौव्वे[१११], सकलचन्द्र भट्टारक[११२], कुलचन्द्र भट्टारक के शिष्य सकलचन्द्र भट्टारक[११३], मादवे[११४], सोमदेवाचार्य की शिष्या आकलपे अब्बे[११५], नयकीर्ति भट्टारक के शिष्य नालप्रभु गंगर सावन्त सोव[११६] अमृतैय[११७], चण्डिगौडि[११८], मादैय्य[११९], योगीन्द्र के शिष्य बम्मगवुड[१२०] केशणंदि भटार के शिष्यों एवं माधवचन्द्र भट्टारकदेव के शिष्य परिसय[१२१], पद्मप्रभ के शिष्य धर्मसेन[१२२], नामिसेट्टि[१२३], बाचिसोट्टि[१२४], विशालकीर्ति राऊल के शिष्य नागचन्द्रदेव[१२५], बेल्लप[१२६], मारदेवी[१२७], रामक्क[१२८], नेमण्ण के पिता और पितामह[१२९], कमलदेव के शिष्य लोकाचार्य[१३०], चटवेगन्ति[१३१], नन्दिभट्टारक की शिष्या यिल्लेकन्ति[१३२], अनन्तकीर्तिदेव के शिष्य बोप्पय[१३३], लक्ष्मीसेन के शिष्य मानसेनदेव[१३४], मल्लिराय[१३५], रायराज गुरु हेमसेन के शिष्य बुलिसेट्टि[१३६], गुम्मिसेट्टि[१३७], बाचण्ण[१३८], चोकिसेट्टि[१३९], पुराजी पेवय्य[१४०], चन्द्रनाथदेव की शिष्या नादोव्वे[१४१], बोम्मण्ण[१४२], जिनचन्द्रदेव[१४३], बोम्मिसेट्टि[१४४], सायिगवुडि[१४५], नागवे[१४६], सत्यण्ण, शान्तिसेट्टि, शान्तिदेव मुनि एवं माघनन्दि मुनि[१४७], नन्दिभट्टारक के शिष्य बोप्पगौड[१४८], नेमिदेव आचार्य के शिष्य सिंगिसेट्टि, देविसेट्टि, पदुमव्वे तथा सिंगेय[१४९], अकलंकदेव के शिष्य बयिचिसेट्टि[१५०], भट्टारक के शिष्य मरगोण्ड[१५१], यापनीय संघ-कुमुदगण के शान्तिकीरदेव[१५२], मलधारिदेव की शिष्या कंचलदेवी[१५३] के समाधिमरण का उल्लेख है।

इस तरह हम देखते हैं कि मध्यकाल में समाधिमरण की परम्परा का प्रचलन था। समाधिमरण की परम्परा इस काल में पूरे भारतवर्ष में विद्यमान थी, क्योंकि भारत के विभिन्न स्थानों से ये शिलालेख प्राप्त हुए हैं। उदाहरणस्वरूप ये शिलालेख बुन्दलिके, बिदरे, अङ्गडि, नेल्लूर, हिरे-आवलि, कणवे, हलसोरब, मैसूर एवं अन्य कई स्थानों से प्राप्त हुए हैं। मथुरा से भी समाधिमरण का उल्लेख करनेवाले शिलालेख प्राप्त हुए हैं।

अगर शिलालेखों की संख्या के आधार पर समाधिमरण की परम्परा पर विचार किया जाए तो एक बात हमारे समक्ष उपस्थित होती है, वह यह कि यह परम्परा प्राचीन काल की अपेक्षा मध्यकाल में अधिक प्रचलित थी। लेकिन यह बात भी ध्यान में रखना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यक होगा कि मात्र शिलालेखों की संख्या के आधार पर परिकल्पना ठीक नहीं , क्योंकि शिलालेखों के आधार पर प्रतिशत या इसी तरह की गणना शुद्ध नहीं होती है। उनकी सहायता से मात्र उस समय की प्रथा पर प्रकाश अवश्य डाला जा सकता है। इस आधार पर हम यही कह सकते हैं कि समाधिमरण की परम्परा प्राचीनकाल की तरह मध्यकाल में भी प्रचलित थी।

आधुनिक काल

आधुनिक समय में जहाँ अन्य धर्मों में स्वेच्छा से देहत्याग अप्रचलित है, वहीं जैनधर्म में समाधिमरण जैसी परम्परा अभी भी वर्तमान है। समय-समय पर जैन परम्परा के मुनि और गृहस्थ समाधिमरण करते रहते हैं। अत: आधुनिक काल में भी जैनधर्म में समाधिमरण की परम्परा प्रचलित है और इसके बहुतायत उदाहरण मिलते हैं। आधुनिक काल में जिन महापुरुषों ने समाधिमरण किया उनकी चर्चा की जा रही है।

जोधपुर में सन् १९४५ ई० को श्री शम्भूनाथ राम जी म० ने समाधिमरण किया था। अपने समाधिमरण व्रत के क्रम में उन्होंने सात दिनों का उपवास किया, तत्पश्चात् उनकी मृत्यु हो गयी।[१५४]

श्री बनवारीलाल जी म० ने सन् १९४९ ई० में १० दिन का संथारा लेकर समाधिमरणपूर्वक देहत्याग किया था।[१५५]

जोधपुर में ही माननीय श्री जीन्द जी के शिष्य श्री कृपाराम जी ने १९ दिन तक संथारा व्रत लेकर समाधिमरणपूर्वक अपना देहत्याग किया था। इनकी दीक्षा संवत् १९४९ ई० में हुई थी।[१५६]

श्री मोहर सिंह जी ने दिल्ली में सन् १९५३ ई० में ४ दिनों के संथारे के बाद समाधिमरणपूर्वक अपना देहत्याग किया था।[१५७] आचार्य श्री शान्तिसागर जी म० का समाधिमरण १८ सितम्बर १९५५ ई० को हुआ। समाधिमरण के पूर्व आचार्य श्री ने ३६ दिनों तक अनशन व्रत किया। इन ३६ दिनों में आपने सिर्फ चार बार जल ग्रहण किया था। सन् १९१९ ई० में आप दीक्षित हुए थे। दीक्षित होने के बाद आपने जीवनपर्यन्त नमक, शक्कर, घी तथा हरे फल का त्याग कर दिया था। जीवन के अन्तिम समय में आपने ३६ दिनों तक अन्न का भी त्याग कर दिया था।[१५८]

श्रीमती सीताबाई नाहर ने कूंदेवाड़ी में ५२ दिनों का उपवास करके समाधिमरण विधि से अपने देह का त्याग किया था। इनका समाधिमरण ४ मई १९७८ ई० में ९८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष की अवस्था में हुआ।[१५९]

महासती श्री लज्जावंती जी ने लुधियाना में १० दिनों का उपवास करके समाधिमरणपूर्वक अपना देहत्याग किया। उनका समाधिमरण १० अप्रैल १९७८ ई० को हुआ था।[१६०]

साध्वी श्री हंगाम कुंवर जी का समाधिमरण रतलाम में १४ अप्रैल १९८० को हो गया। अपने समाधिमरण व्रत के क्रम में उन्होंने ५७ दिन का उपवास किया था।[१६१]

प्रज्ञापुरुष क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी का समाधिमरण २४ मई १९८३ को हुआ था। उनका देहावसान ४२ दिनों के संथारा व्रत के बाद हुआ था।[१६२]

साध्वी किरण का समाधिमरण ५३ दिन के अनशन के बाद लाडनूं में हो गया। साध्वीश्री आचार्य तुलसी की शिष्या थी।[१६३]

साध्वी लिखभावत जी का समाधिमरण फतेहपुर में हुआ। इन्होंने २४ दिनों का अनशन किया था। इनका समाधिमरण २ अगस्त, १९८७ को हुआ था।[१६४]

श्री घेवरचन्द सुराणा ने ३० दिनों के उपवास व्रत के बाद समाधिमरणपूर्वक अपना देहत्याग किया। श्री सुराणा आचार्य श्री तुलसी के गृहस्थ अनुयायी थे। इनका समाधिमरण १ सितम्बर १९८७ को पूर्ण हुआ।[१६५]

श्रीमती मनोहरी देवी ने हैदराबाद में २२ दिनों के उपवास के बाद समाधिमरणपूर्वक अपना देहत्याग दिया।[१६६]

श्रीमती हीराबाई बरमेचा ने घोड़नदी में ४५ दिनों के अनशन के बाद समाधिमरणपूर्वक अपना देहत्याग किया। इनका स्वर्गवास १३ जुलाई १९८७ को हुआ।[१६७]

सरदारशहर (राजस्थान) की श्रीमती भंवरी देवी बोरड़ ने ६३ दिनों के संथारे के बाद ११ सितम्बर १९८७ को समाधिमरणपूर्वक अपना देहत्याग किया।[१६८]

श्री बद्रीप्रसाद जी महाराज ने ७३ दिनों के संथारे के बाद १६ अक्टूबर १९८७ को समाधिमरण किया। इनका समाधिमरण सोनीपत में हुआ।[१६९]

श्रीमती जेठीबाई गुंदेचा का १५ दिवसीय संथारा व्रत के पश्चात् समाधिमरणपूर्वक देहावसान हो गया।[१७०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साध्वी श्री महायशाश्री जी म० का समाधिमरण ४५ दिनों के संथारे के बाद हो गया। उनका समाधिमरण सूरत के उपासरा नगर में हुआ। आप दृढ़ संयमी और व्रत परायण साध्वी थीं।[१७१]

श्रीमती डाई देवी बोथरा का समाधिमरण मार्च १९८८ में हो गया। श्रीमती बोथरा ८ मार्च से अनशन व्रत प्रारम्भ की थी और ७ दिनों के बाद उनका देहावसान हो गया।[१७२]

आचार्य की श्रुतसागर जी महाराज का समाधिमरण ८ मई १९८८ ई० को हो गया। आपने नौ दिनों का संथारा व्रत लिया था। आप श्री आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के शिष्य थे।[१७३]

आर्यिका सरलमती जी[१७४] ने दिनांक २६ जुलाई ९६ को लूणवा में समाधिमरणपूर्वक अपना देहत्याग किया। वें ८५ वर्ष की थीं। वे पिछले एक माह से अस्वस्थ चल रही थी। समाधिमरण की साधना के लिए वे पिछले माह से ही जल का सेवन कर रहीं थीं और चारों प्रकार के आहार का त्याग का रखा था।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आधुनिक काल में जहाँ व्यक्ति दूसरों के संसाधनों को हड़प जाने के प्रयत्न में लगा हुआ है, तथा नए-नए आराम के साधनों की आवश्यकता महसूस कर रहा है, वहीं इस काल में भी जैनधर्म में आस्था व्यक्त करने वाले लोग जीवन के सभी ऐश्वर्यों का त्याग करके समाधिमरणपूर्वक अपना देहत्याग कर रहे हैं।

संदर्भ :-

१. जैन शिलालेख संग्रह (प्रथम भाग), हीरालाल जैन, शिलालेख नं०-१, पृ०-२.
२. अदेयरेनाड चित्तूर मौनिगुरवडिगल शिषियत्तियर् नागमतिगन्तियर् मूरु तिङ्गल् नोन्तु मुडिप्पिदर् । वही, शिलालेख नं०- २, पृ०-२.
३. चरितश्रीनामधेयप्रभुमुनिन्द्रतगल् नोन्तुसौख्यस्थनाय्दान् ।
वही, शिलालेख नं०- ३, पृ०-३
४. श्री नेडुबोरेय पानप भटारर्न्तु मुडिप्पिदार् । वही, शिलालेख, नं०-६ पृ०-३.
५. धर्म्मसेनगुरवडिगला शिष्यर् बालदेवगुरवडिगल् सन्यासनं ।
वही, शिलालेख नं०-७, पृ०-४.
६ श्री मालनूर पट्टिनि गुरवडिगल शिष्य- उग्रसेन.... सन्यासनं.।
वही, शिलालेख नं०-८, पृ०-४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. श्री अगलिय मौनिगुरवर शिष्य कोट्टरद गुणसेनगुरवर्त्रोन्तु मुडिप्पिदार् ।
वही, शिलालेख नं०-९, पृ०-४

१०. श्री पेरुमालु गुरवडिगला शिष्य धण्णे कुत्तारेवि. गुरवि..... डिप्पिदार् ।
वही, शिलालेख नं०-११, पृ०-४.

११. श्री उल्लिक्कल्गोर वडिगल् नोन्तु.... दार् । वही, शिलालेख नं०-११ पृ०-५

१२. श्रीतीर्त्थद गोरवडिगल नो - वही, शिलालेख नं०-१२, पृ०-५.

१३. ....कलापकद गुरवडिगल्लिर्प्पत्तोन्दु दिवसं सन्यासनं नोन्तु मुडिप्पिदार् ।
वही, शिलालेख नं०-१३, पृ०-५

१४. श्री ऋषभसेन गुरवडिगल शिष्यर् नागसेन गुरवडिगल सन्यासनविधि इन्तु मुडिप्पिदार्।
वही, शिलालेख नं०-१४, पृ०-५

१५. श्री म्मडिगल नोन्तु कालं केय्दार् । वही, शिलालेख नं०-१६, पृ०-६.

१६. श्री वेट्टेडे गुरवडिगल्माणाक्कर्स्सिङ्गणन्दिगुरवडिगल्नोन्तुकालं-केय्दार् ।
वही, शिलालेख नं०-१९, पृ०-७.

१७. सन्यासनं-गे-। य्दुरु सत्वन्नन्दिसेन-प्रवर-मुनिवरन्देवलोकक्के सन्दान् ।
वही, शिलालेख नं०-२६, पृ०-११.

१८. तनगे मृत्युवरवानरि देन्दु सुपण्डितन् ।
अनेक-शील-गुणमालेगलिन्सगिदोप्पिदोन् ॥
विनय-देवसेन-नाम-महामुनि नोन्तु पिन् ।
इन दरिल्दु पलितङ्कदे तान्दिवमेरिदान् ॥ वही, शिलालेख नं०-३२, पृ०-१३.

१९. .....चन्द्र- देवाचार्य्य नामन् उदित-श्री- कल्वप्पिनुल्ले रिषिगिरि-शिले-
मेल्नोन्तुतन्देहमिक्कि निरवद्यन्नेरि स्वर्गे शिवनिलेपडेदान्साधुगल्पूज्यमानन् ।
वही, शिलालेख नं०-३४, पृ०-१४.

२०. चपलिल्ला नविलूर सङ्घदमहानन्तामतीखन्तियार् ।
विपुलश्रीकटवप्रनल्-गिरियमेल्नोन्तोन्नदु सन्मार्गेदिन् ॥
वही, शिलालेख नं०-२८, पृ०-१२.

२१. करेइल्-नल्तप-धर्म्मदा-ससिमति-श्री गन्तियर्व्वन्दुमेल् ॥
वही, शिलालेख नं०-३५, पृ०-१५.

२२. ....एनम्मा कलन्तूरनं.... वही, शिलालेख नं०, १५९, पृ० ३०८.

२३. .....दे शास्त्रविदो येन गुणदेवाख्य सूरिणे कल्वाप् पर्व्वत-विख्याते-नम ।
वही, शिलाललेख नं०-१६०, पृ०-३०८.

२४. सुन्दरपेम्पदुग्रतदोगिद .....वार्द्धदनिन्द्यमेन्दु पिन् सुन्दरि सौंचदाय्यदेरदे .....।
वही, शिलालेख नं०-१९२, पृ०-३१५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३. महादेवन्मुनिपुङ्गवत्रदर्प्पि कलु पेर्द्दपं महातवन्मरणप्पे तनगा..... ।
वही शिलालेख नं०-१९३, पृ०-३१५

२४. नमिलूरा सिरिसङ्घद् आजिगणदा राज्ञीमती गन्तिार् ।
वही शिलालेख नं०-१९४ (२०७), पृ०-३१७.

२५. इन्द्रनन्दि आचार्य्य .....श्वररि ।
वही, शिलालेख नं०-१९४ (२०५) पृ०-३१६-१७.

२६. तनगे मृत्यु-वरवानरिदे पेर्त्वाण-वंशदोन् ।
वही, शिलालेख नं०-१९४ (२०८) पृ०-३१७.

२७. जन्नत् नविलूर अनेकगुणदा..... श्रासङ्घ....दु..... ।
वही, शिलालेख नं०-१९४ (२११), पृ०-३१८.

२८. चेन्ददे बुद्धिय हारमनि....तियुं....य मावि अब्बेगल् ।
वही, शिलालेख नं०-१९४ (२१४) पृ०-३१८.

२९ ....नि....पौत्र...नन्दिमुनिप....सिद्धिस्थनादम् ।
वही, शिलालेख नं०-१९४ (२१७) पृ०-३१९.

३०. तमगे मृत्युवरवानरिंद श्री पुर्त्तिय .....।
वही, शिलालेख नं०-१९४ (२१९), पृ०-३१९.

३१. जैन शिलालेख संग्रह (भाग २), शिलालेख नं०-१४०, पृ०-१६३-१६४.

३२. जैन शिलालेख (भाग ३), शिलालेख नं०-४५९, पृ०-३०८.

३३. .....रविचन्द्र-भटारर् संन्यसनं गेय्दु मुडिपिदर्.....
जैन शिलालेख-संग्रह भाग २, शिलालेख नं०-१५८, पृ०-२००.

३४. .....स्य सकल-सममेन्दु दर्म्म गेयदु सन्यसद .....।
वही, शिलालेख नं०-१५९, पृ०-२०१.

३५. बिमलचन्द्र-पण्डित-देवर् सन्यासन विधियिं मुडिपि....।
वही, शिलालेख नं०-१६६, पृ०-२०७.,

३६. ..... सन्यास-विधानदिं मुडिपि पूज्यं वज्रपाणि-व्रतीश्वर.....।
वही, शिलालेख नं०-१७८, पृ०-२१९.

३७. .....प्रभाचन्द्र-देवर निसिधि.....। वही, शिलालेख नं०-१८०, पृ०-२२०.

३८. बिडिसि समाधियं पडेदुदेल्लियुमच्चरि जक्कियब्बेय ॥
वही, शिलालेख नं० १८३, पृ० २२६.

३९. .....किविरियय्यङ्गल् चाङ्गलद बसदियोल् पन्नेरडं नोन्तु मुडिपि ।
वही, शिलालेख नं०-१८४, पृ०-२२६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४०. भट्टारक देवरू.....अनुपम समाधि निधियिम् ।
वही, शिलालेख नं०-२८६, पृ०-४३७.

४१. .....श्रीमन्-नाल-प्रभु..... समाधि-विधियिं मुडिहि.....।
वही, जैन शिलालेख संग्रह (भाग-३) शिलालेख नं०-५४१, पृ०-३८१.

४२. .....चन्द गौण्डन तम्म ।- सन्यसन-समाधि-विधियिं मुडिहि.....।
वही, शिलालेख नं०-५६२, पृ०-३९४.

४३. सति कामीगौण्डि सन्यसनि विधियिं मुडिहि.....।
वही, शिलालेख नं०-५९४, पृ०-४३१.

४४. वही, शिलालेख नं०-६०५, पृ०-४४०-४४५.

४५. सति हर्य्यल-देवी सुरेन्द्र लोकमम् । वही, शिलालेख नं०-३८३, पृ०-१६६.

४६. हरिहर-देवियं.....सुतुं समाधियिम् । वही, शिलालेख नं०-३८४, पृ०-१६७.

४७. मेघचन्द्र-भट्टारक देवरु सन्यसनविधियिं समाधि-वोडेदु.....।
वही, शिलालेख नं०-३६४, पृ०-१४०.

४८. .....सुत चन्द्रकीर्त्ति स्वर्ग्ग बडेदम् । वही, शिलालेख नं०-५४५, पृ०-३८३.

४९. वीरोज मुडिपि सुगति-प्राप्तनाद । वही, शिलालेख नं०-४२२, पृ०-२२७.

५०. बोम्मले सन्नसनसमाधियं.....। वही, शिलालेख नं०-४२२, पृ०-२२७.

५१. मुडिय सा..... वन्त सन्यसन-समधियं माडि सुगति-प्राप्तनादं ।
वही, शिलालेख नं०-५०२, पृ०-३५१.

५२. ...चिक्कमागडिय अक्कसाले बम्मोज । वही, शिलालेख नं०-५१३, पृ०-३६३.

५३. मल्लवे.....दान धर्म्म.....समाधि-विधियिं सुर-लोक ।
वही, शिलालेख नं०-४८४, पृ०-३३७.

५४. ..कामव्वे...सन्यसन समाधि-विधियिं । वही, शिलालेख नं०-४८९, पृ०-३३९.

५५. .....सोमय्यनु समादि.....। वही, शिलालेख नं०-४९०, पृ०-३३९.

५६. ....मारगावुण्ड सर्व्व.. निब्रि ....। वही, शिलालेख नं०-५०८, पृ०-३५६.

५७. चण्डिगौडि सर्व्व-निब्रि (वृ) त्तियं कयि-कोण्डु.....।
वही, शिलालेख नं०-५२५, पृ०-३७४.

५८. .....बोम्म-गौडनु सकल-सन्यसन-विधियिं मुडिपि.....।
वही, शिलालेख नं० ५७८, पृ० ४०९.

५९. मुनिभद्र देवरुरे सद्गति सौख्यमनेयिद्दर त्रिजम् ।
वही, शिलालेख नं०-५८८, पृ०-४२६.

६०. वही, शिलालेख नं० ४९१, पृ० ३४०.

६१. डे वेग्गडे-त.....समाधि विधियिं मुडुपि सुर-लोक.....।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वही, शिलालेख नं०-४९४, पृ०-३४१.

६२. पार्श्व सेनबोव.....माडि.....सुरलोक प्रापितनादम् ।

वही, शिलालेख नं०-४९७, पृ०-३४७.

६३. .....सोयि-देवि आनन्द.....समाधि विधियिं मुडिपि सुर-लोकव.....।

वही, शिलालेख नं०-५००, पृ०-३५०.

६४. ..पुष्पसेन मुडिपिदनोलबिम् । .....अकलङ्क व्रतियनोय्य तक्कुदे धात्रा ।

वही, शिलालेख नं०-५०३, पृ०-३५२ एवं ३५३.

६५. .....यादगवुड समाधि-विधियिं मुडिपि .....।

वही, शिलालेख नं०-५४२, पृ०-३८१.

६६. ....पायण्ण सकल-सन्यसन-सल्लेखन.....।

वही, शिलालेख नं०-५९७, पृ०-४३३.

६७. ..भव-रोगक्के सु-वैद्यनोवभयचन्द्रं...अरिडात्मीय-समाधियं..सर्ब्बाहारमं देहमं ॥

वही, शिलालेख नं०-५२४, पृ०-३७२.

६८. श्रीमद्रामचंद्र-मलधारि देवरू.....समाधियेन्दु.....सन्यसनपूर्व्वकं ।

वही, शिलालेख नं०-५८४, पृ०-३८५.

६९. .....मगलु सिरियव्वे समाधिविधियिं मुडिपि....।

वही, शिलालेख नं०-५३४, पृ०-३७८.

७०. दण्डेश-माधवं.....दित्यस्समाधि-विधिना भुवि ।

वही, शिलालेख नं०-५४०, पृ०-३८०.

७१. बोम्मण्णनु समाधि-विधियिं मुडिपि स्वर्ग लोक प्राप्तनादनु ।

वही, शिलालेख नं० ५६८, पृ० ४००.

७२. ....लक्ष्मि बोम्मक्कनु समाधि विधियिं मुडिपि स्वर्ग्ग-लोक-प्राप्तियादल्।

वही, शिलालेख नं०-५६९, पृ०-४०१.

७३. गोपणो भूषणात्तो.....आतन समाधि-विधानमेन्तेन्दोडे ।

वही, शिलालेख नं०-६१०, पृ०-४५३.

७४. .....भगिरथि तालिद्लायत- स्वर्ग-सौख्यमं ।

वही, शिलालेख नं०-६४१, पृ०-४८८.

७५. .....समाधिविधियिं .....सिङ्गिमय्यनमरेन्द्रावासमं..... ।९।

जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, शिलालेख नं०-५२, पृ०-८७.

७६. श्री चन्द्रप्रभदेव-देव-मरणे शास्त्राण्र्णवं शोषितम् ।

- जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, शिलालेख नं०-४१०, पृ०-२०९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७७. पद्मियर्क्कनो....समाधि विधियिं..। वही, शिलालेख नं०-४२०, पृ०-२२५.
७८. ....पद्मौवे सुचित्तदिं समाधि कूडि स्वर्ग्ग.....।
वही, शिलालेख नं०-४२०, पृ०-२२६.
७९. चौडियक्कनं....अलव समाधियोले.....। वही, शिलालेख नं०-४३९, पृ०-२६६.
८०. चलिग सेनबोवनु निजायु.....। वही, शिलालेख नं०-४६८, पृ०-३१८.
८१. ...बालचन्द्र । सु-समाधियं मुडिपि....। वही, शिलालेख नं०-४६९, पृ०-३१९.
८२. .....सोम-गौड समाधि वडदु.....। वही, शिलालेख नं०-५२६, पृ०-३७५.
८३. ....प्राप्तो दिव्यं गति.....चन्द्रकीत्ति-व्रतोन्द्रः ।
वही, शिलालेख नं०-५७१, पृ०-४०३.
८४. श्री श्रुतमुनीश्वर शिय्यरु ।..... सन्यसन समाधियिं ।
वही, शिलालेख नं०-५७१, पृ०-४०४.
८५. तम्म-गऊड तनगे क्षय-व्याधियाद ....ध्यानादिं जिन-चरण...।
वही, शिलालेख नं०-५९३, पृ०-४३०.
८६. कालि-गावुण्डि समाधि-विधियिं मुडिपि .....।
वही, शिलालेख नं०-६१२, पृ०-४५७.
८७. जैन शिलालेख-संग्रह, भाग ४, शिलालेख नं०-७४-७५, पृ०-४३.
८८. वही, शिलालेख नं.-७४-७५, पृ०- ४३.
८९. इलवेडे मल्लाचारि ।। वही शिलालेख नं०-७६, पृ०- ४४.
९०. गे अमृत्त-ब्बे कन्तिय रुरदु नोन्तु समाधि यिं (मुडिपि)
वही, शिलालेख नं०-९०, पृ०-५५.
९१. वही, शिलालेख नं०-१०२, पृ०-६९.
९२. वही, शिलालेख नं०-१०३, पृ०-७०.
९३. वही, शिलालेख नं०-१०५, पृ०-७०.
९४. वही, शिलालेख नं०-१०८, पृ०-७०.
९५. वही, शिलालेख नं०-१०९, पृ०-७१.
९६. वही, शिलालेख नं०-११८, पृ०-७४.
९७. माकब्बेगंतिय मडिबद बीचग....। वही, शिलालेख नं०-१२०, पृ०-७४.
९८. वही, शिलालेख नं०-१४३, पृ०-९५.
९९. वही, शिलालेख नं०-१४४, पृ०-९५.
१००. वही, शिलालेख नं०-१६०, पृ०-११३.
१०१. वही, शिलालेख नं०-१६४, पृ०-११४.
१०२. वही, शिलालेख नं०-२७५-२७६, पृ०-२०८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०३. वही, शिलालेख नं०-२७७-२७८, पृ०-२०९.
१०४. बम्माचारिय हेण्डति हव्वक्कनु सुरलोकप्राप्तेयादलु ।
- वही, शिलालेख नं०-२८१, पृ०-२१०
१०५. वही, शिलालेख नं० २८३, पृ०-२१७.
१०६. वही, शिलालेख नं०-२९८-३००, पृ०-२२७.
१०७. वही, शिलालेख नं०-३०३, पृ०-२२८.
१०८. वही, शिलालेख नं०-३०७, पृ०-२२९.
१०९. नागव्वे गोकवेय मगलु स (मा)- धिविधियिंद मुडिपि.....।
वही, शिलालेख नं०-३१२, पृ०-२३३
११०. वही, शिलालेख नं०-३१४, पृ०-२३४.
१११. जकौव्वे समाधिविधियिं मुडिपि सुगति य प्राप्तेयादलु ॥
वही, शिलालेख नं०-३२२, पृ०-२५०
११२. त्रिदिनादनशनविधिना त्रिविष्टिपं संप्राप्तः।
वही, शिलालेख नं०-३२७, पृ०-२५३
११३. वही, शिलालेख नं०-३३७, पृ०-२५७.
११४. वही, शिलालेख नं०-३४०-३४१, पृ०-२५८.
११५. वही, शिलालेख नं०-३४३, पृ०-२५९.
११६. वही, शिलालेख नं०-३४४, पृ०-२५९.
११७. वही, शिलालेख नं० ३४६, पृ०-२६०.
११८. वही, शिलालेख नं० ३५०, पृ०-२६१.
११९. वही, शिलालेख नं०-३५४, पृ०-२६३.
१२०. ...बम्मगवुड महापुरुषो..गतो सिद्धिं समाधिना ।
वही, शिलालेख नं०-३५७, पृ०-२६४
१२१. वही, शिलालेख नं०-३६१-३६७, पृ०-२६६.
१२२. धर्मसेनमहामुनिः ॥..... वही, शिलालेख नं०-३७५, पृ०-२६९.
१२३. मिसेट्टि दिवदोल् कैवलयमं तालद्दिं । वही, शिलालेख नं०-३७९, पृ०-२७३.
१२४. वही, शिलालेख नं०-३८७, पृ०-२७५.
१२५. वही, शिलालेख नं०-३९२, पृ०-२७८.
१२६. वही, शिलालेख नं०-३९६, पृ०-२७९.
१२७. .....मारदेवियरू स्वर्गंग तरादरु । वही, शिलालेख नं०-३९८,, पृ०-२८३.
१२८. रामक्कनवर....तुंगसमाधि..।-वही, शिलालेख नं०-४००, पृ०-२८६-२८७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२९. वही, शिलालेख नं०-४०२, पृ०-२८८.
१३०. वही, शिलालेख नं०-४०९, पृ०-२९१.
१३१. चटवेगन्ति मत्तवूर बसदि तपसु । - वही, शिलालेख नं०-४१०, पृ०-२९२.
१३२. .....यिल्लेकन्तिय (र्) (स) न्यसनंगेय्दु सुर (लोकक्के) ।
वही, शिलालेख नं०-४१७, पृ०-२९६.
१३३. बोप्पय सन्यसनविधियिं..... (स्व) र्गस्त ।
वही, शिलालेख नं०-४१८, पृ०-२९६.
१३४. श्रीमानसेनदेवर निषिधि .....। वही, शिलालेख नं०-४२१, पृ०-२९९.
१३५. वही, शिलालेख नं०-४२३-४२४, पृ०-३००.
१३६. वही, शिलालेख नं०-४३१, पृ०-३०१.
१३७. गुम्मिसेटियर निस्तिगे.....। वही, शिलालेख नं०-४४२, पृ०-३०८.
१३८. बाचण्णमल । वही, शिलालेख नं०-४४३-४४४, पृ०-३०९.
१३९. चोकिसेट्टि.....। वही, शिलालेख नं०-४४९, पृ०-३११.
१४०. वही, शिलालेख नं०-५२२, पृ०-३४८.
१४१. र गुड्डि नादोव्वेय.....। वही, शिलालेख नं०-५४०, पृ०-३५७.
१४२. वार बोम्मण्ण गलु स्वर्गस्त । वही, शिलालेख नं०-५७८, पृ०-३६८.
१४३. जिनचंद्रदेवरु मुडिपि....। वही, शिलालेख नं०-५८०, पृ०-३६९.
१४४. वही, शिलालेख नं०-५८९, पृ०-३७१.
१४५. वही, शिलालेख नं०-५९०, पृ०-३७२.
१४६. वही, शिलालेख नं०-५९१, पृ०-३७२.
१४७. वही, शिलालेख नं०-५९९-६०२, पृ०-३७५.
१४८. वही, शिलालेख नं०-६०४, पृ०-३७५.
१४९. वही, शिलालेख नं०-६०६, पृ०-३७६.
१५०. वही, शिलालेख नं०-६०९, पृ०-३७७.
१५१. वही, शिलालेख नं०-६१०, पृ०-३७७.
१५२. वही, शिलालेख नं०-६११-६१२, पृ०-३७७.
१५३. वही, शिलालेख नं०-६१४, पृ०-३७८.
१५४. हमारी परम्परा-ले०-रामप्रसाद जी० म०, उद्धृत-महावीर मिशन, सम्पादक-सलेकचन्द जैन, फरवरी १९८८, पृ०-५५.
१५५. वही, पृ०-५. १५६. वही, पृ०-५५. १५७. वही, पृ०-५५.
१५८. दिगम्बर-जैन-मित्र, १९५६, आचार्य श्री शान्तिसागर जी विशेषांक, पृ०-१७-१८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५९. श्रमणोपासक, जून १९७८, पृ०-४६.
१६०. जैन-जगत, जून १९८०, पृ०-४०.
१५१. वही, जून १९८०, पृ०-४०.
१६२. श्री जिनेन्द्रवर्णी स्मरणान्जलि, पृ०-१६२-१६३.
१६३. दैनिक जैन-समाज, ८ जून, १९८७, पृ०-१.
१६४. जैन-भारती अंक ३२, १७ अगस्त १९८७, पृ०-१७.
१६५. जैन भारती, १४ सितम्बर १९८७, पृ०-१२०.
१६६. जैन-भारती, जैन ३८, २८ सितम्बर १९८७, पृ०-२०.
१६७. अमर-भारती, अगस्त १९८७, पृ०-४८.
१६८. जैन-जगत, अक्टूबर, १९८७, पृ०-९१.
१६९. जैन-प्रकाश, १६ अक्टूबर १९८७, पृ०-२९.
१७०. सुधर्मा, अंक ७ जनवरी १९८८, पृ०-५६.
१७१. जैन-जगत, फरवरी १९८८, पृ०-६३.
१७२. जैन-भारती, २१ मार्च १९८८, पृ०-१६.
१७३. सम्यगज्ञान, मई १९८८, पृ०-२५-२६.
१७४. जैनमित्र (साप्ताहिक १) १ अगस्त, १९९६, पृ०-२९९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठ अध्याय

समाधिमरण एवं ऐच्छिक मृत्युवरण

मृत्युवरण की स्वतन्त्रता का प्रश्न ?

क्या समाधिमरण और इच्छापूर्वक मृत्युवरण समान अवधारणा है? यदि हाँ! तो समाधिमरण के अतिचार का प्रसंग गलत हो जाता है, क्योंकि समाधिमरण के अतिचार में जिन-जिन तथ्यों का उद्घाटन हुआ है, वस्तुत: वे व्यक्ति की सभी प्रकार की इच्छाओं का निषेध करने की ओर ही संकेत देते हैं। लेकिन यदि ऐसा ठीक है तो एक व्यावहारिक प्रश्न उठता है कि व्यक्ति किस तरह से सभी तरह की इच्छाओं से मुक्त होकर जीवन जीये। यद्यपि इस समस्या का निराकरण कर पाना संभव नहीं है, फिर भी हमें यह मानकर चलना होगा कि समाधिमरण और इच्छित मृत्युवरण दो भिन्न-भिन्न प्रसंग है। इच्छित मृत्युवरण की कोटि में आत्महत्या को रखा जा सकता है इस सम्बन्ध में पूर्व में विचार किया जा चुका है कि समाधिमरण और आत्महत्या में बहुत बड़ा फर्क है। इच्छितमरण और मरणदान का प्रसंग भी आज चर्चा का विषय बना हुआ है। यद्यपि मरणदान में मृत्यु का कारण कोई अन्य व्यक्ति बनता है, लेकिन इसके पीछे मृत्युदान पानेवाले की सहमती भी रहती है। तो क्या मरणदान और समाधिमरण को समान तथ्य मान लिया जाए। यह भी उचित नहीं है। अत: समाधिमरण और ऐच्छिकमृत्यु के प्रसंग से कई तथ्य जुड़े माने जा सकते हैं। जिन पर विभिन्न दृष्टिकोणों से चिन्तन करना आवश्यक है।

भारतवर्ष में सतीप्रथा और जौहर के रूप में इच्छितमरण का प्रसंग स्वीकृत रहा है। जौहर जैसी घटना तो अधिक प्राचीन नहीं है, लेकिन सतीप्रथा एक प्राचीनतम नैतिक क्रिया के रूप में मान्य रही है । जहाँ तक जौहर की बात है तो प्राय: स्त्रियों ने सतीत्व रक्षा हेतु ही इसे स्वीकार किया है, लेकिन सतीप्रथा के साथ यह बात लागू नहीं होती। क्योंकि कभी-कभी स्त्रियों की बालात् पति की चिता पर जलने के लिए विवश होना पड़ा है। यही कारण है कि आज भारत में सतीप्रथा जैसी प्राचीन मान्यताओं को अवैध घोषित किया जा चुका है। परन्तु ये दोनों ही परिस्थितयाँ ऐच्छिक मृत्युवरण के ही प्रतिरूप हैं। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या समाधिमरण के साथ इन दोनों की तुलना भी जा सकती है? क्योंकि इन तीनों ही क्रियाओं में इच्छापूर्वक देहत्याग किया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतएव हम ऐच्छिक मृत्युवरण के विभिन्न दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर अपनी चर्चा के क्रम को आगे बढ़ा रहे हैं।

जीवन और मृत्यु का चिन्तन मानव के लिए अत्यन्त रोचक विषय रहा है। सामान्यत: सभी जीव जीना चाहते हैं। सभी को जीवन प्रिय है और मृत्यु अप्रिय है। सामान्यत: इसी जीजीविषा के आधार पर जीवन को सुखरूप और मृत्यु को दु:खरूप माना जाता है। प्राय: जीवन और मृत्यु के विकल्प में सभी जीवन का विकल्प चुनते हैं, अत: सामान्यतया मृत्यु का विकल्प चुनने का प्रश्न ही नहीं उठता है। फिर भी कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो या तो जीवन से ऊबकर या नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के रक्षण के लिए मृत्यु का वरण करते हैं। मृत्यु के वरण करने के अनेक कारण हो सकते हैं। यथा-

१. अत्यधिक शारीरिक दु:ख या रोग की पीड़ा सहन नहीं कर पाने के कारण व्यक्ति जीवन को त्याग देना चाहता है।

२. अत्यधिक निर्धनता के फलस्वरूप अपनी एवं परिवार की जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करने के कारण भी व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण करता है।

३. पारिवारिक क्लेश के कारण अत्यधिक दु:खवश जीवन से निराश होकर व्यक्ति जीवन का त्याग करना चाहता है।

४. कभी-कभी व्यक्ति की प्रतिष्ठा पर आँच आती है तो वह प्रतिष्ठारहित जीवन जीने की अपेक्षा मृत्यु को ही अधिक वरणीय मानता है।

५. इन सामान्य कारणों के अतिरिक्त भी कुछ लोग नैतिक मूल्यों या चारित्र की रक्षा के लिए भी अपने जीवन का त्याग कर देना चाहते हैं।

६. कभी-कभी व्यक्ति स्नेही या प्रियजन की मृत्यु से दु:खी होकर भी प्राणत्याग करना चाहता है।

७. धार्मिक दृष्टि से जन्म-जरा-मरण के चक्र से छुटकारा पाने के लिए या आध्यात्मिक मूल्यों के संरक्षण के लिए भी मृत्यु का वरण किया जाता है।

इस प्रकार अनेक कारण होते हैं जिससे व्यक्ति जीवन का अभिलाषी होते हुए भी मृत्यु की आकांक्षा कर लेता है। अब यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या व्यक्ति इन परिस्थितियों में अपने देहत्याग के लिए स्वतंत्र है या परतंत्र? अगर स्वतंत्र है तो किस तरह की स्वतंत्रता उसे मिलनी चाहिए। क्या वह आग में जलकर, पानी में डूबकर, फांसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगाकर अनशनपूर्वक अथवा शस्त्र की सहायता से देहत्याग करे अथवा उसे प्राणत्याग करने की स्वतंत्रता नहीं मिलनी चाहिए? यहाँ प्रतिप्रश्न उठ सकता है क्यों नहीं मिलनी चाहिए? अत: इन्हीं बिन्दुओं को केन्द्र में रखकर ऐच्छिकमरण के कुछ प्रसंगों पर आलोचनात्मक चिंतन का प्रयास किया जा रहा है।

समाधिमरण और सती प्रथा

समाधिमरण और सती प्रथा- इन दो भिन्न परम्पराओं में देहत्याग का ज्वलंत उदाहरण है। अत: इन दोनों के सम्बन्ध में तुलनात्मक विचार अपेक्षित है। समाधिमरण और सती प्रथा देहत्याग की एक ऐसी विधि है जिसमें प्राय: व्यक्ति में देहत्याग की भावना स्वस्फूर्त मानी जाती है। यद्यपि सती प्रथा के प्रत्येक प्रसंग में यह बात नहीं पायी जाती है, इसीलिए रूपकुंवर के सती होने की घटना और उसके नेपथ्य में छिपी हुई मानसिकता को समझकर भारत सरकार ने इस कुप्रथा को पूरी तरह से अवैध माना है। सती प्रथा अब मात्र इतिहास की विषयवस्तु बन गयी है, लेकिन समाधिमरण भी परम्परा अभी भी जीवित है। इन दोनों ही परम्पराओं के पीछे दर्शन और कुछ नैतिक तथ्य अवश्य हैं जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति इन्हें अंगीकार करता है।

पं० सुखलाल जी संघवी ने समाधिमरण की स्थिति पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला है और इस अनुक्रम में सती प्रथा के समय कोई स्त्री अपना देहत्याग क्यों करती है इसका दृष्टांत भी प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार-जैनधर्म लौकिक या अध्यात्मिक दोनों प्रकार की सामान्य स्थितियों में प्राणान्त करने का अधिकार नहीं देता है। लेकिन जब देह (लौकिक) और आध्यात्मिक सद्गुणों में से किसी एक को चुनने का प्रश्न उपस्थित हो जाता है तो ऐसी स्थिति में देहत्याग करके भी अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति को बचाने का उसी प्रकार निर्णय करना चाहिए जिस प्रकार सती स्त्री दूसरा मार्ग न देखकर देहनाश के द्वारा भी अपने सतीत्व की रक्षा करती है। यदि देह और संयम दोनों की ही समान भाव से रक्षा सम्भव हो सके तो दोनों की ही रक्षा करना परम कर्तव्य है, परन्तु जब एक की ही रक्षा का प्रश्न आए तो सामान्य व्यक्ति शरीर की ही रक्षा पसन्द करेगा और आध्यात्मिक संयम की उपेक्षा करेगा, जबकि समाधिमरण का अधिकारी व्यक्ति संयम की रक्षा को महत्त्व देगा। जीवन तो दोनों ही है- दैहिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए प्राणान्त या अनशन की अनुमति है। भयंकर विपत्तियों में शरीर की रक्षा के निमित्त संयम से पतित होने के अवसर आने पर या अनिवार्य रूप से प्राणान्त करनेवाली बीमारी हो जाने पर, स्वयं को तथा दूसरों को निरर्थक परेशानी होने पर या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयम सद्गुण की रक्षा सम्भव नहीं होने पर मात्र समभाव की दृष्टि से व्यक्ति समाधिमरणपूर्वक अपना देहत्याग कर सकता है।[१]

इस तरह हम देखते हैं कि समाधिमरण में जो देहत्याग किया जाता है वह मात्र संयम और धर्म रक्षा के निमित्त ही किया जाता है, क्योंकि उसमें व्यक्ति संयम से पतित होने के कारण अनिवार्य रूप से प्राणान्त करनेवाली स्थिति उत्पन्न होने से प्राणत्याग करता है। तात्पर्य है कि शारीरिक दुर्बलता के कारण शरीर जब अपने कार्यों का सम्पादन नहीं कर पाता है, इसके लिए किसी दूसरे पर आश्रित रहना पड़ता है, जिससे स्वयं को और दूसरों को भी कष्ट होता है, तभी प्राणत्याग किया जाता है। इस स्थिति में व्यक्ति देहत्याग के लिए स्वतन्त्र है, क्योंकि अनुपयोगी और भारयुक्त शरीर को उस स्थिति में ढ़ोना ठीक नहीं है, इससे आध्यात्मिक मूल्यों के खण्डित होने की आशंका रहती है।

ऐच्छिक मृत्युवरण का एक वीभत्स रूप सती प्रथा है, जो हिन्दू परम्परा में प्रचलित रहा है इसे सहमरण, सहगमन, अन्वारोहन या अनुभरण आदि के नामों से भी जाना जाता है। सती का सीधा-सादा अर्थ है- पति की मृत्यु के बाद विधवा स्त्री का पति की चिता के साथ जिन्दा जलना। इस प्रक्रिया में दो स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं-

१. पहली स्थिति में विधवा स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध जलाया जाता है या जलने के लिए विवश किया जाता है। सती होने का यह रूप कभी भी प्रशस्त मृत्युवरण नहीं है। इसे कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

२. दूसरी स्थिति में विधवा स्वेच्छापूर्वक अपनी पति की चिता के साथ जल जाती थी। यह ऐच्छिक मृत्युवरण का रूप है। फिर भी इस देहत्याग का क्या औचित्य है, इस पर हमें तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करना है। सती प्रथा के सम्बन्ध में हिन्दू धर्मग्रन्थों में पर्याप्त चिन्तन हुआ है। इस चिन्तन के आधार पर सती प्रथा से सम्बन्धित हिन्दू धर्मग्रन्थों को तीन कोटियों में बाँटा जा सकता है-

क. प्रथम कोटि में वे हिन्दू धर्मग्रन्थ आते हैं, जिन्होंने कभी भी सती प्रथा का समर्थन नहीं किया है।

ख. द्वितीय कोटि में वे ग्रन्थ आते हैं जो सती प्रथा का संकेत तो करते हैं, लेकिन सती होना उचित नहीं मानते हैं और सती हो रही स्त्री को पुन: सांसारिक जीवन-जीने का निर्देश देते हैं।

ग. तृतीय कोटि में वे ग्रन्थ आते हैं जो स्पष्टतया सती प्रथा का समर्थन करते हैं और इसकी महत्ता पर भी प्रकाश डालते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सती प्रथा का समर्थन नहीं करनेवाले ग्रन्थ

वैदिक ग्रन्थों में सती प्रथा का समर्थन नहीं किया गया है। *भारद्वाज गृह्यसूत्र*[२] में स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि स्त्री को विवाह के समय से ही गृह्याग्नि प्रज्वलित रखनी चाहिए। पति की मृत्यु के बाद भी पत्नी को उस पवित्राग्नि को प्रज्वलित रखना चाहिए। कहने का अर्थ यही है कि जिस गृह की रक्षा अर्थात् बच्चे, परिवार आदि की देखभाल एवं उसकी सुरक्षा का भार पहले पति पर था, पति की मृत्यु के बाद इन सभी दायित्वों का निर्वाह उसकी पत्नी के ऊपर आ जाता है और पत्नी का यह धर्म है कि वह इन दायित्वों का निर्वाह उचित ढंग से करे।

सती प्रथा का अस्पष्ट ढंग से समर्थन करनेवाले ग्रन्थ

कौशिक गृह्यसूत्र[३] के अनुसार विधवा को मृतक पति के सिर के समीप उत्तर दिशा की ओर लेटना चाहिए। इसके बाद अन्त्येष्टि - प्रमुख अथवा चिता में आग लगानेवाला व्यक्ति मृतक से कहता है- "हे मर्त्य ! यह स्त्री (तुम्हारी पत्नी) परलोक में तुमसे युक्त होने के लिए शव के पास लेटी है। इसने पतिव्रता स्त्री के सभी कर्तव्यों को पूरा किया है। इसे इस संसार में सन्तान एवं धन प्रदान करो" इसके बाद उस स्त्री को उठाते हुए कहता है "हे स्त्री ! तुम मृत (पति) के पास लेट रही हो। वहाँ से उठो और उसके पास चली आओ तथा उसकी पत्नी बनो जो तुमसे विवाह करने को तैयार है। इस कथन से यह स्पष्ट है कि स्त्री स्वेच्छापूर्वक पति की चिता के साथ सती होना चाहती है, लेकिन उसके परिवार के लोग उसे ऐसा करने से मना करते हैं। वे उससे (स्त्री) कहते हैं कि सती मत होओ। तुम पुनः सांसारिक जीवन में लौट आओ और अपने देवर आदि से शादी करके उसके बच्चे की मां बनकर अपनी घर-गृहस्थी बसाओ।

विष्णुधर्मसूत्र[४] के अनुसार- "पति की मृत्यु के बाद विधवा ब्रह्मचर्य का पालन करे अथवा पति की चिता के साथ ही सती हो जाए।" इसी प्रकार *वृहस्पतिस्मृति*[५] में भी स्पष्ट रूप से लिखा गया है कि "पति की मृत्यु के बाद स्त्री चिता पर चढ़ जाए अथवा पति के कल्याण के लिए शुद्ध जीवन यापन करे।" *व्यासस्मृति*[६] के अनुसार "मृत पति को लेकर ब्राह्मणी अग्नि में प्रवेश करे। जीवित रहने पर केशों को सजाना छोड़कर तपस्या से शरीर को सुखावे।"

३. सती प्रथा का स्पष्टरूप से समर्थन करनेवाले ग्रन्थ

हिन्दू धर्मशास्त्रों में कुछ ऐसे भी ग्रन्थ मिलते हैं जो स्पष्ट रूप से सती प्रथा का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्थन करते हैं। *मिताक्षरी*[७] के अनुसार जो स्त्री पति का अनुगमन करती है वह तीनों कुलों को पवित्र करती है। वृद्धहारित ने सती की अत्यधिक प्रशंसा की है और लिखा है- "जो स्त्री मृत पति का आलिंगन कर अग्नि में जल जाती है, वह पतिलोक प्राप्त करती है। सती स्त्रियों के लिए पति के मरने पर अग्नि में जल मरने के अतिरिक्त कोई अन्य धर्म नहीं हैं। जो स्त्री अपने पति को लेकर अग्नि में जलती है, वह वैष्णव पद को प्राप्त करती है, जिसे योगी ही पाते हैं।[८] *दक्षस्मृति*[९] में सती की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि सती स्वर्गलोक प्राप्त करती है। पति की मृत्यु पर जो नारी अग्नि में प्रवेश करे वह शुभाचारवाली स्वर्ग लोक में महिमा पाती है। *पाराशरस्मृति*[१०] में सती की प्रशंसा इस प्रकार की गई है- स्वामी के मृत्युगत हो जाने पर जो नारी ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित रहती है वह एक सद् ब्रह्मचारी के समान ही मरने के पश्चात् स्वर्ग की प्राप्ति करती है। जिस प्रकार सर्प पकड़नेवाला सर्प को बिल से बलपूर्वक निकालता है, उसी प्रकार सती स्त्री पति का उद्धार करके उस (पति) के साथ ही आनन्दित होती है।"

इस तरह से हम देखते हैं कि हिन्दू धर्मग्रन्थों में सती को लेकर विभिन्न प्रकार के मत व्यक्त किए गये हैं। एक ओर कौशिक गृह्यसूत्र, भारद्वाज गृह्यसूत्र, विष्णु धर्मसूत्र, व्यासस्मृति, बृहस्पतिस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका तथा अपरार्क संहिता जैसे हिन्दू धर्मग्रन्थ सती प्रथा का समर्थन नहीं करते हैं वहीं दूसरी ओर मिताक्षरी, दक्षस्मृति, पाराशरस्मृति आदि हिन्दू धर्मग्रन्थ सती का स्पष्ट रूप से समर्थन करते हैं। इन ग्रन्थों के अनुसार विधवा को सती होना चाहिए है, अन्यथा वह पाप का भागी बनती है। सती का समर्थन नहीं करनेवाले ग्रन्थों पर विचार किया जाए तो उनमें स्पष्ट रूप से यह निर्देश मिलता है कि विधवा को सती नहीं होना चाहिए। पति की मृत्यु के बाद विधवा को संयम का पालन करना चहिए तथा अपने घर-गृहस्थी की देखभाल करनी चाहिए। यह दूसरी बात है कि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं होने की स्थिति में या संयम पालन से चूकने की स्थिति में इन ग्रन्थों में भी विधवा को सती होने का स्पष्ट या अस्पष्ट निर्देश मिलता है। इन स्पष्ट और अस्पष्ट निर्णय के आधार पर यही कहा जा सकता है कि सती होना मात्र परिस्थिति एवं समय पर निर्भर करता है। अगर विधवा को यह विश्वास है कि वह संयम और ब्रह्मचर्य की रक्षा कर सकती है तो पति की मृत्यु के बाद भी वह अपना जीवन व्यतीत कर सकती है, अन्यथा वह सती होने के लिए स्वतन्त्र है।

सती प्रथा और जैनधर्म

सती प्रथा के सन्दर्भ में जैन आगम साहित्य में हमें एक भी ऐसी घटना का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख नहीं मिलता है जहाँ पत्नी पति के शव के साथ जली हो या जिन्दा जला दी गयी हो। यद्यपि *निशीथचूर्णि*[१२] में एक ऐसा उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार सोपारक के पांच सौ व्यापारियों को कर नहीं देने के कारण राजा ने उन्हें जला देने का आदेश दे दिया था और उल्लेख के अनुसार उन व्यापारियों की पत्नियाँ भी उनकी चिताओं में जल गई थीं। लेकिन जैनाचार्य इसका समर्थन नहीं करते हैं, पुनः इस अपवादित उल्लेख के अतिरिक्त जैन साहित्य में इस प्रकार के उल्लेख नहीं मिलते हैं। *महानिशीथ*[१३] में इससे भिन्न यह उल्लेख मिलता है कि किसी राजा की विधवा कन्या सती होना चाहती थी, किन्तु उसके पितृकुल में यह प्रचलन नहीं था, अतः उसने अपना विचार त्याग दिया। इससे लगता है कि जैनाचार्यों ने पति की मृत्योपरान्त स्वेच्छा से भी अपने देहत्याग को अनुचित ही माना है और इस प्रकार के मरण को बालमरण या मूर्खता ही कहा है। सती प्रथा का धार्मिक समर्थन जैन आगम साहित्य और उसकी व्याख्याओं में हमें कहीं नहीं मिलता है।

यद्यपि आगमिक व्याख्याओं में दधिवाहन की पत्नी एवं चन्दना की माता आदि के कुछ ऐसे उल्लेख अवश्य हैं जिनमें ब्रह्मचर्य की रक्षा के निमित्त देहत्याग किया गया है।[१३] किन्तु यह अवधारणा सती प्रथा की अवधारणा से भिन्न है। जैनधर्म और दर्शन यह नहीं मानता है कि मृत्यु के बाद पति का अनुगमन करने से अर्थात् जीवित चिता में जल मरने से पुनः स्वर्गलोक में उसी पति की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत जैनधर्म अपने कर्म-सिद्धान्त के प्रति आस्था के कारण यह मानता है कि पति-पत्नी अपने-अपने कर्मों और भावों के अनुसार ही विभिन्न योनियों में जन्म लेते हैं। यद्यपि परवर्ती जैन कथा-साहित्य में हमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं जहाँ एक भव के पति-पत्नी आगामी अनेक भवों में जीवनसाथी बने, किन्तु इसके विरुद्ध भी उदाहरणों की जैन कथा-साहित्य में कमी नहीं है।[१४]

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि धार्मिक आधार पर जैनधर्म सती प्रथा का समर्थन नहीं करता। यद्यपि जैनधर्म में सती प्रथा का समर्थन न होने के कुछ सामाजिक कारण भी है। व्याख्या साहित्य में ऐसी अनेक कथायें वर्णित हैं जिनके अनुसार पति की मृत्यु के पश्चात् पत्नी न केवल पारिवारिक दायित्व का निर्वाह करती थी, अपितु पति के व्यवसाय का संचालन भी करती थी। शालिभद्र की माता भद्रा को राजगृह का एक महत्त्वपूर्ण श्रेष्ठी और व्यापारी निरूपित किया गया जिसके वैभव को देखने के लिए श्रेणिक भी उसके घर आया करते थे।[१५] आगमों और आगमिक व्याख्याओं में ऐसे अनेक उल्लेख भी हैं जहाँ कि स्त्री पति की मृत्यु के पश्चात् विरक्त होकर भिक्षुणी बन जाती थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह सत्य है कि जैन भिक्षुणी संघ विधवाओं, कुमारियों और परित्यक्ताओं का आश्रय स्थल था। यद्यपि जैन आगम साहित्य एवं व्याख्या साहित्य दोनों में हमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं जहाँ पति और पुत्रों के जीवित रहते हुए भी पत्नी या मातायें भिक्षुणी बन जाती थीं। *ज्ञाताधर्मकथा* में द्रौपदी पति और पुत्रों की सम्मति से दीक्षित हुई थी, किन्तु उनके अतिरिक्त ऐसे उदाहरणों की अधिकता भी देखी जाती है जहाँ पत्नियाँ पति के साथ अथवा पति एवं पुत्रों की मृत्यु के उपरान्त विरक्त होकर संन्यास ग्रहण कर लेती थीं। कुछ ऐसे उल्लेख भी मिले हैं जहाँ स्त्री आजीवन ब्रह्मचर्य को धारण करके या तो पितृगृह में ही रह जाती थी अथवा दीक्षित हो जाती थी। जैन परम्परा में भिक्षुणी संस्था एक ऐसा आधार रही है जिसने हमेशा नारी को संकट से उबारकर आश्रय दिया है।

इसके अतिरिक्त जैनागमों और उनकी व्याख्याओं में ऐसे अनेक सन्दर्भ मिलते हैं जहाँ विधवायें अथवा अबला नारियाँ परिस्थितियों की विकटता को समझते हुए सांसारिक जीवन को त्यागकर भिक्षुणी धर्म स्वीकार कर लेती थीं। भिक्षुणी जीवन में उन्हें अत्यन्त मान-सम्मान मिलता था। उदाहरणस्वरूप मदनरेखा के पति की हत्या उसके भाई ने किया। इस घटना से मदनरेखा विचलित हो गयी, उसे लौकिक जीवन से विरक्ति हो गयी और उसने भिक्षुणी जीवन अपना लिया।[१६] मदनरेखा की तरह यशभद्रा[१७] पद्मावती[१८] आदि स्त्रियों के उदाहरण हमारे समक्ष भिक्षुणी जीवन की उपादेयता को स्पष्ट करता है। इसी तरह से *ज्ञाताधर्मकथा* में भी पोट्टिला[१९] तथा सुकुमालिता[२०] के भिक्षुणी बनने के प्रसंग का वर्णन मिलता है। भिक्षुणी बन जानेवाली ये स्त्रियाँ अपने जीवन को साधना और संयम से इस तरह जोड़ लेती थीं कि सांसारिक विषय वासनाओं का उनके जीवन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था। सदाचरण ही उनके जीवन का लक्ष्य बन जाता था। समस्त संघ उनके साधनामय जीवन से उत्प्रेरित होकर साधना के मार्ग पर आगे बढ़ने की चाहत रखता था।

जैन भिक्षुणी संघ उन सभी स्त्रियों के लिए शरणदाता होता था, जो विधवा, परित्यक्ता अथवा आश्रयहीन होती थीं। जैनधर्म में सती प्रथा को कोई प्रश्रय नहीं मिला। जब-जब भी नारी पर कोई अत्याचार किए गए जैन भिक्षुणी संघ उसके लिए रक्षा कवच बनता रहा, क्योंकि भिक्षुणी संघ में प्रवेश करने के बाद न केवल यह पारिवारिक उत्पीड़न से बच सकती थी, अपितु एक सम्मानपूर्ण जीवन भी व्यतीत कर सकती थी। आज भी विधवाओं, परित्यक्ताओं, पिता के द्वारा दहेज न दे पाने कारण अथवा कुरूपता आदि किन्हीं कारणों से अविवाहित रहने के लिए विवश कुमारियों के लिए जैन भिक्षुणी संघ आश्रय स्थल है। जैन भिक्षुणी संघ ने नारी की गरिमा और उसके सतीत्व दोनों की रक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की, यही कारण था कि सतीप्रथा जैसी कुत्सित प्रथा जैनधर्म में कभी भी नहीं रही।

महानिशीथ में एक स्त्री को सती होने का मानस बनाने पर भी अपने कुल और परम्परा में सती-प्रथा का प्रचलन नहीं होने के कारण उसे अपने निर्णय को बदलना पड़ा, यह इस बात का प्रमाण है कि जैनाचार्यों की दृष्टि सती प्रथा विरोधी थी। जैन परम्परा में ब्राह्मी[२१], सुन्दरी[२२], द्रौपदी[२३], राजिमती[२४] आदि को सती कहा गया है और तीर्थङ्करों के नामकरण के साथ-साथ आज भी १६ सतियों का नाम स्मरण किया जाता है। किन्तु इन्हें सती इसलिए कहा गया है कि ये अपने शील की रक्षा हेतु या तो अविवाहित रहीं या पति की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने अपने चरित्र एवं शील को सुरक्षित रखा। आज जैन साध्वियों के लिए "महासती" विशेषण का प्रयोग होता है जिसका आधार उनका शील पालन ही है। जैन परम्परा में आगमिक व्याख्याओं और पौराणिक रचनाओं के पश्चात् जो प्रबन्ध साहित्य लिखे गये उनमें सर्वप्रथम सती प्रथा का ही जैनीकरण रूप हमें देखने को मिलता है। तेजपाल-वस्तुपाल प्रबन्ध में बताया गया है कि तेजपाल और वस्तुपाल की मृत्यु के पश्चात् उनकी पत्नियों ने अनशन करके अपने प्राणत्याग दिये।[२५] यहाँ पति की मृत्यु के पश्चात् शरीर त्यागने का उपक्रम तो है, किन्तु उसका स्वरूप सौम्य बना दिया गया है। वस्तुत: यह उस युग में प्रचलित सती प्रथा की जैनधर्म में क्या प्रतिक्रिया हुई थी, उसका सूचक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सती प्रथा को लेकर हिन्दू और जैन परम्परा में मूलभूत अन्तर है। हिन्दू परम्परा जहाँ विधवा स्त्री को पति की चिता के साथ जल जाने पर जोर देती है वहीं जैन परम्परा इसका निषेध करता है। यहाँ विधवा स्त्री को भिक्षुणी संघ में प्रवेश करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है तथा उन्हें मान-सम्मान देने की भरपूर कोशिश की जाती है। दूसरी तरफ हिन्दू परम्परा में भी विधवाओं को विधवा आश्रम में आश्रय दिया जाता है, लेकिन यहाँ उन्हें उस तरह का मान-सम्मान नहीं मिलता है जिस तरह का जैन श्रमण संघ में जैन स्त्रियों को मिलता है। फलत: हिन्दू विधवायें विधवा आश्रम में शरण नहीं लेना चाहती हैं। दूसरा अन्तर धार्मिक विश्वास से सम्बन्धित है। जैन परम्परा जहाँ कर्म-सिद्धांत के आधार पर व्यक्तिगत मुक्ति को मानती है वही हिन्दू परम्परा व्यक्तिगत मुक्ति के साथ-साथ इतर मुक्ति में भी विश्वास करती है। हिन्दू धर्मग्रन्थों में यह लिखा गया है कि विधवा के सती होने पर मृत पति की मुक्ति, स्वयं की मुक्ति तथा अन्य बन्धु-बान्धवों की भी मुक्ति संभव है, जबकि जैन ग्रंथों में इसका अभाव है। अत: हिन्दू धर्म में सती प्रथा के अधिक प्रचलन का इसे एक सर्वप्रमुख कारण माना जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्थिक पक्ष और सती प्रथा

सती होने का एक कारण आर्थिक समस्या भी रही है। अनेक परिस्थितियों में स्त्रियों को स्वार्थ की बेदी पर ही सती होना पड़ा है। चाहे वह स्वार्थ का स्तर पारिवारिक हो या सामाजिक। पारिवारिक स्तर पर अगर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि विधवा की समस्या जो पहले उसके पति की समस्या थी अब उसके परिवार की समस्या है। इन समस्याओं को पूरा करने के लिए उसके परिवारवालों को मानसिक शारीरिक एवं आर्थिक तीनों ही प्रकार की समस्याओं से अवगत होना पड़ता है। इन्हीं समस्याओं से बचने के लिए स्त्री को सती होने के लिए विवश किया जाता है। सती होने के लिए विवश किए जाने पर उसके परिवारवालों को बहुत से लाभ होते हैं। अगर उसके परिवार की स्त्री सती हो जाती है तो अन्धविश्वास से परिपूर्ण इस समाज में उसका नाम तो ऊँचा होगा ही, साथ ही यह कार्य आर्थिक रूप से लाभकारी भी होगा। क्योंकि संभव है उसके नाम पर कोई मन्दिर बनवा दिये जायें, लोग उसकी पूजा करने लगें। श्रद्धा एवं भक्ति का भाव प्रदर्शित करने के लिए धन आदि का चढ़ावा भेंट करें। इससे धन और मान दोनों की ही सम्भावना बलवती होती है। सती प्रथा के पीछे अगर इस तरह की भावना है तो उसका कभी भी समर्थन नहीं किया जा सकता है।

सतीत्व रक्षा एवं सती की प्रासंगिकता

विधवा अगर यह सोचकर सती हो कि उसका पति मर गया है। अब उसे अकेले ही रहना होगा। अकेले ही उसे अपने सतीत्व की रक्षा करनी होगी। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भी उसे स्वयं करनी होगी, लेकिन यह सब करने में वह सक्षम नहीं हो पाएगी, हो सकता है इस क्रम में उसको सतीत्व के भंग हो जाने का भय हो तथा वह यह भी विचार करे कि आज तक जिसके साथ रहा वह अब नहीं है, अत: अन्त समय में उसे अपने पति का साथ नहीं छोड़ना चाहिए, उसे अपने पति के साथ ही रहना चाहिए तो इस दृष्टिकोण से वह स्त्री इच्छापूर्वक मृत्यु का वरण कर सकती है। इस दृष्टि से वह मृत्युवरण करने के लिए स्वतन्त्र है।

समाधिमरण और जौहर

सतीप्रथा की भाँति जौहर भी स्वेच्छापूर्वक देहत्याग की विधि है। मध्यकालीन भारत में राजपूत (हिन्दू) राजाओं की पत्नियों द्वारा किये गये जौहर के अनेक उदाहरण मिलते हैं जौहर की इस प्रथा में स्त्रियाँ सामूहिक रूप से अपने शरीर को अग्नि में समर्पित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करके प्राणत्याग किया करती थीं। जौहर तभी किया जाता था जब यह निश्चित हो जाता था कि अब प्राणरक्षा के बदले अपने धर्म, अपने सतीत्व को खोना पड़ेगा। ऐसी ही विकट परिस्थिति में स्त्रियाँ सामूहिक रूप से अग्निकुंड में जलकर अपने प्राणत्याग करती थीं। समाधिमरण में भी धर्मरक्षार्थ अपने देहत्याग का विधान किया गया है और जौहर में भी इन्हीं परिस्थितियों में देहत्याग किया जाता था। दोनों ही परिस्थितियों में स्वेच्छापूर्वक धर्मरक्षार्थ देहत्याग किया जाता है। किन्तु ऐसा नहीं है कि दोनों समान हैं। इन पर पर्याप्त चिन्तन की अपेक्षा है।

जौहर की प्रथा का प्रचलन मुख्य रूप से मध्यकाल में राजस्थान में रहा। इस दिशा में टोड महोदय ने अपनी पुस्तक *Annals of Atiquities of Rajasthan* में विस्तार से प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं कि राजपूत स्त्रियाँ अपमानित और पतित होने की अपेक्षा स्वयं को आग में जलाकर मार देना अधिक उपयुक्त समझती थीं।[२६] उस समय आक्रान्ताओं द्वारा छोटे-छोटे राज्यों पर आक्रमण किये जाते थे। विजित प्रदेशों पर विजयी राजा और उनकी सेना द्वारा तरह-तरह के जुल्म ढ़ाये जाते थे। प्राय: जुल्म का शिकार वहाँ की स्त्रियों को होना पड़ता था। उन्हें दैहिक एवं यौन उत्पीड़न की असह्य वेदना के साथ-साथ दासता की अमानुषिक परिस्थितियों का भी समाना करना पड़ता था। अत: उन यातनाओं से बचने के लिए राजपूत पुरुष जीवन के अंतिम क्षण तक संघर्ष करते थे तथा स्त्रियाँ जौहर करके अपने प्राण का त्याग करती थीं।

डॉ० उपेन्द्र ठाकुर का मानना है कि जौहर जैसी ही प्रथा का प्रचलन रोम और ग्रीस में भी था। वे लिखते हैं कि वहाँ के निवासी अजातीय अपमान, यौन-उत्पीड़न तथा उसी तरह के अन्य विकट परिस्थितियों से बचने के लिए आग में जलकर तथा अमान्य विधियों से अपने प्राणों का त्याग किया करते थे।[२७] परन्तु भारतवर्ष में जौहर जैसी प्रथा का इतिहास काफी पुराना माना जाता है। विद्वानों को विश्वास है कि इस परम्परा का मूलाधार दक्ष की पुत्री सती द्वारा किए गये देहत्याग को माना जा सकता है।[२८] इसी क्रम में कुछ लोगों का मत है कि भारतवर्ष में जौहर का प्रारंभ सिकंदर-आक्रमण (४ थी शती ई. पू.) के समय से माना जा सकता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सिकंदर भारत आक्रमण के समय शिवि, मालव, क्षुद्रक, जैसे छोटे-छोटे गणराज्यों पर आक्रमण करता हुआ आगे बढ़ रहा था। इसी अभिमान के तहत उसने किसी शहर पर भी आक्रमण किया तथा उसे जीत लिया। पराजय की स्थिति तथा अपमान के भय से बचने के लिए वहाँ के २० हजार पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों ने सामूहिक रूप से आग में जलकर देहत्याग किया। यही सामूहिक आत्मदाह भारत में जौहर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[२९] मध्यकाल में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह राजपूताने में विकसित हुआ, लेकिन मुगल सल्तनत के विघटन के बाद इस प्रथा का भी अन्त हो गया।

जहाँ तक जौहर के ऐतिहासिक साक्ष्य की बात है तो इस दिशा में चित्तौड़ के राणा रतनसिंह की रानी पद्मिनी के साथ अन्य स्त्रियों द्वारा किया गया जौहर काफी प्रसिद्ध है। यद्यपि यह कथानक विभिन्न तरह के विवादों से परिपूर्ण माना जाता है तथा इतिहासकार इस पर समान मत नहीं रखते हैं, लेकिन उसे जौहर की भावना को समझनेवाला एक जीवन्त ऐतिहासिक साक्ष्य माना जा सकता है। रानी पद्मिनी को अपनी कथानक का आधार बनाकर मलिक मुहम्मद जायसी ने १५४० ई० में पद्मिनी नामक महाकाव्य लिखा। इस महाकाव्य में पद्मिनी के जीवन की यह कथा लिखी गई है कि दिल्ली का सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी उसे पाने के लिए ही चित्तौड़ गया था। इस महाकाव्य में रानी पद्मिनी के जीवन के साथ जुड़ी विभिन्न घटनाओं का हृदयस्पशी वर्णन किया गया है। इसमें अलाउद्दीन की कूटनीति, राजपूत योद्धाओं के शौर्य एवं पराक्रम तथा पद्मिनी के आत्मदाह का जीवन चित्र खींचा गया है।[३०]

अधिकांश इतिहासकार इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि पद्मिनी के रूप की महक ही अलाउद्दीन के चंचल मन के चितेरे को चित्तौड़ खींच लाई। शक्तिसम्पन्न वह मदांध, कामी सुन्दरता की इस प्रतिमूर्ति को पाने के लिए व्याकुल हो उठा। अलाउद्दीन ने राणा रतनसिंह को लिख भेजा कि अपनी रूपमती रानी पद्मिनी को उसके हरम में भेज दे। इसके बदले में वह चित्तौड़ को स्वतंत्र राज्य मान लेगा। राणा ने उसके इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और दोनों के बीच युद्ध हुआ। अलाउद्दीन अपनी विशाल सेना के साथ चित्तौड़ पर आक्रमण करने के लिए निकल पड़ा। डॉ गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपनी पुस्तक राजपूताने के इतिहास में इस सैनिक अभियान का वर्णन विस्तार से किया है।[३१] वीर राजपूत सैनिकों ने अपने नायक राणा रतनसिंह के नेतृत्व में सुल्तान के विरुद्ध जमकर संघर्ष किया। बाद में धोखे से राजा रतनसिंह को कैद कर लिया गया, तब उसकी रानी पद्मिनी ने बड़ी वीरता एवं कुशलता से युद्ध का संचालन किया। बाद में सन् १३०३ ई० में रानी पद्मिनी ने हजारों स्त्रियों के साथ आग में जलकर प्राणोत्सर्ग किया।[३२] इसी प्रकार की घटना जैसलमेर राज्य में घटित हुई जब वहाँ अलाउद्दीन ने आक्रमण किया। इस आक्रमण के कारण वहाँ की २४ हजार स्त्रियों ने नवजात शिशुओं एवं वृद्धों के साथ जौहर किया।[३३]

राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात् पानीपत के प्रथम युद्ध (१५२६ ई०) के कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय बाद बहादुर शाह ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया राजपूत योद्धाओं ने समरभूमि में अपनी वीरता और बहादुरी का परिचय दिया। वे जीवन के अंतिम क्षणों तक दुश्मनों के फौज से जमकर लड़ते रहे। जब उन्हें यह अनुभव होने लगा कि अब उनकी पराजय सुनिश्चित है तब इस आशय का संकेत किले में गुप्त रीति से पहुँचाया गया। इस संकेत के आधार पर युवराज अर्जुन हर की माता कर्णावती के नेतृत्व में युवराज की बहनें तथा १३ हजार राजपूत स्त्रियों ने जौहर के माध्यम से आत्मदाह किया।[३४]

सम्राट अकबर के मारवाड़ अभियान के समय भी राजपूत स्त्रियों ने जौहर किया था। अकबर के इस अभियान का वर्णन इतिहासकारों ने इस प्रकार किया है- जब अकबर ने मारवाड़ पर आक्रमण किया तथा किले की घेराबंदी को तंग करना शुरू किया उस समय किले में जीवनोपयोगी सामग्री का अभाव होने लगा। ऐसे समय में आठ हजार राजपूत वीरों ने एक साथ मिलकर पान का अंतिम बीड़ा खाया और भूमि में अंतिम संघर्ष हेतु जाने को उद्यत हुए। किले का दरवाजा खोल दिया गया। सभी तहर की उपयोगी वस्तुओं को नष्ट किया जाने लगा। राज्य के नवरत्न, पाँच रानियाँ, उनकी पुत्रियाँ, दो नवजात शिशु तथा परिवार एवं सम्भ्रांत कुलों की महिलाओं ने एक साथ अग्निकुंड में जलकर अपने प्राणों का उत्सर्ग किया।[३५]

अगर हम जौहर की इन घटनाओं और कथानकों की पृष्ठभूमि में झांककर देखें तो हमारे समक्ष कुछ ऐसे बिन्दु उपस्थित होंगे जो इनके पीछे छिपी हुई भावनाओं को समझाने के लिए आधारबिन्दु का काम कर सकते हैं। यहाँ कुछ विवेच्य बिन्दुओं को प्रस्तुत किया जा रहा है जिसकी आशंका से स्त्रियाँ जौहर करके अपने देह का त्याग करती थीं। ये बिन्दु हैं -

१. शील भंग की आशंका के कारण, २. गुलामी की दासता से बचने के लिए ३. अपमान की पराकाष्ठा से मुक्ति पाने के लिए, ४. धर्म भ्रष्टता से बचने के लिए ५. प्राणोत्सर्ग के अतिरिक्त अन्य कोई और मार्ग शेष नहीं रहने की स्थिति में।

वस्तुत: उपर्युक्त सारे तथ्य इच्छाओं द्वारा संचालित माने जा सकते हैं तथा इनके पीछे भावनात्मक विचारबिन्दु भी छिपे हो सकते हैं। इस प्रकार जौहर को इच्छितमरण का ही एक रूप माना जा सकता है, जो तीव्र भावनात्मक आवेग के वशीभूत होकर ग्रहण किया जाता है। परन्तु उस भावनात्मक आवेग में भी धर्म और शीलरक्षा की भावना ही प्रमुख है। प्राय: इसी भावावेग की प्रधानता के कारण जौहर की प्रक्रिया को प्रशंसनीय दृष्टि से देखा जाता रहा है, क्योंकि भारतीय चिन्तन में धर्म की बेदी पर देहत्याग को सदैव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रशंसनीय वृत्ति के रूप में स्वीकार करने की परम्परा रही है। भारतीय मनीषियों ने सदैव यह उद्घोष किया है कि शीलरक्षा, धर्मरक्षा हेतु अगर अपने प्राणों का बलिदान देना पड़े तो इसे सहर्ष स्वीकार किया जा सकता है। ये बातें मात्र चिन्तन में ही नहीं मिलतीं बल्कि इसे व्यवहार रूप में भी स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि भारतीय धर्मग्रन्थों में इस बलि की वेदी पर अपने प्राणों को न्योछावर कर देने के असंख्य उदाहरण मिल जाते हैं। जहाँ तक जौहर एवं समाधिमरण की तुलना का प्रश्न है तो दोनों को समकक्ष नहीं माना जा सकता है। लेकिन जौहर को धर्मपूर्वक देहत्याग का एक रूप अवश्य माना जा सकता है और इस रूप में यह समाधिमरण के साथ तुलनीय हो सकता है, क्योंकि अपवादिक परिस्थिति में बाह्य विधियों की सहायता से प्राणान्त करने का दृष्टांत जैन ग्रन्थों में भी मिलता है और इसे समाधिमरण की साधना को खंडित करनेवाला देहत्याग नहीं माना जाता है।

जौहर एवं उसकी स्वतन्त्रता

सतीत्व की रक्षा के लिए सामूहिक रूप से स्त्रियों का अग्नि में स्वेच्छापूर्वक जल कर मरने का नाम जौहर है। जौहर कोई स्त्री उसी समय करती थी जब उसे यह विदित हो जाता था कि उसके राज्य या नगर के समस्त पुरुष युद्ध की बलिदेवी पर भेंट चढ़ गए हैं और अब आक्रमणकारी सम्पूर्ण धन-सम्पत्ति के साथ उसका भी उपभोग करेंगे। इसी प्रकार की घटना जैसलमेर राज्य में घटित हुई जब वहाँ अलाउद्दीन ने आक्रमण किया। इस आक्रमण के कारण वहाँ की २४ हजार स्त्रियों ने नवजात शिशुओं एवं वृद्धों के साथ जौहर किया। अत: मात्र सतीत्व की रक्षा के लिए ही स्त्रियाँ जौहर करती थीं। इस दृष्टिकोण से जौहर करने के लिए समस्त स्त्रियाँ स्वतन्त्र हैं, क्योंकि सभी को अपनी पवित्रता की रक्षा करने का अधिकार है। किसी कारणवश उसे अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए देहत्याग करना पड़े तो इसके लिए वह स्वतन्त्र है। यहाँ एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि मात्र स्त्रियों को ही क्यों जौहर करना चाहिए? प्रत्युत्तर में यही कहा जा सकता है कि जहाँ पुरुषों पर बलात्कार सम्भव नहीं है, वहीं स्त्रियों पर यह सम्भव है। इसी कारण स्त्रियाँ जौहर एवं सती प्रथा को अपनाती हैं।

मरणदान का प्रश्न

वर्तमान समय में मरणदान एक विचारणीय प्रश्न है। मरणदान का तात्पर्य इस रूप में है कि असह्य वेदना से एवं अनिवार्य मृत्यु के कारण से ग्रस्त व्यक्ति को क्या कोई मरणदान नहीं दे सकता है? क्या मरणदान देनेवाला व्यक्ति या स्वयं मरणदान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहनेवाला व्यक्ति अपराधी है? क्या इसकी स्वतन्त्रता नहीं है? इस प्रश्न पर काका कालेलकर ने गहन अध्ययन किया और लिखा कि भूखे को अन्न देना, प्यासे को पानी देना, थके हुए को आराम देना, डरे हुए को अभयदान देना, शरणागत को आश्रय देना आदि सेवा के भाव हैं और प्रशंसनीय हैं। यदि किसी जीव का जीवन असह्य हो जाए, उसके जीने का कोई अर्थ नहीं रह जाए, मरना उसके लिए अनिवार्य हो जाए तो क्या वह स्वयं या किसी की सहायता से मरण नहीं कर सकता है? क्या उसे मरण में सहायता देनेवाला या स्वयं वह अपराधी है?

काका साहेब ने इसका समर्थन किया है और एक उदाहरण की सहायता से मरणदान को स्पष्ट किया- "किसी व्यक्ति को कुष्ठ रोग हो गया था। तरह-तरह के इलाज कराने पर भी उसका रोग ठीक नहीं हुआ। कुष्ठ रोग उसके सारे शरीर में फैल गया। हाथ-पाँव, नाक-कान, आँख आदि सभी अंग अक्षम हो गए। उसकी सेवा करनेवाले लोग थक गए। अपनी इस स्थिति से दु:खी होकर उस असहाय व्यक्ति ने डाक्टर से कहा- अब मेरे जीने का क्या मतलब रहा? मेरा यह वेदनापूर्ण निरर्थक जीवन किस काम का रहा? क्या ऐसे घृणित जीवन से मुक्ति दिलाना तुम्हारा कर्तव्य नहीं है? क्या तुम मुझे मरणदान नहीं दे सकते हो? इस स्थिति में अगर तुम मरणदान नहीं दोगे तो क्या यह तुम्हारी मेरे प्रति कठोरता नहीं होगी। अब प्रश्न यह है कि इस स्थिति में उस चिकित्सक का क्या कर्तव्य है? क्या वह उस व्यक्ति को मरणदान देकर उसे उसके कष्टों से मुक्त कर दे या उसे यूं ही कष्ट सहन करने के लिए छोड़ दे। ऐसे प्रश्न को लेकर मेरी तो यही धारणा है कि चिकित्सक को उस समय उस मरीज को मरणदान देना चाहिए, क्योंकि यह विदित हो चुका है कि वह (मरीज) मरनेवाला है। उसका रोग ठीक नहीं होनेवाला है। अत: अहिंसा को ध्यान में रखकर उसे मरणदान देना चाहिए, क्योंकि कहा भी गया है कि बार-बार की हिंसा की अपेक्षा एक बार की हिंसा अधिक ठीक होती है। मरीज को वेदना से पीड़ित कष्टों के कारण हर समय कराहते रहने से चिकित्सक प्रतिक्षण हिंसा ही करता है। अत: वह उसे मरणदान देकर प्रतिक्षण होनेवाली हिंसा को रोक सकता है।

एक बार महात्मा गाँधी ने किसी रोग से पीड़ित असह्य वेदना से ग्रस्त बछड़े को मृत्युदान दिया। उनके इस कृत्य पर काफी विवाद भी हुआ था। इसके सम्बन्ध में जब उनसे पूछा गया कि आपने ऐसा क्यों किया? प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा कि पालतू जानवर हमारा प्रेम समझ सकता है। वह हमसे प्रेम करता भी है। लेकिन न तो वह अपनी परिस्थिति पूरी तरह समझ सकता है और न विचारपूर्वक अपना अभिप्राय व्यक्त कर सकता है। जिस तरह छोटे बच्चे किसी चीज को नहीं समझते हैं और उसके बारे में उनके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मां-बाप या पालक को ही सब कुछ करना होता है, ठीक उसी तरह पालतू जानवरों के बारे में भी उसके मालिक या पालक का कर्तव्य होता है। यहाँ हम ठीक से विचार करें तो एक ही बात पाते हैं कि गाँधी जी ने मात्र वेदना से छुटकारे के लिए ही बछड़े को मरणदान दिया। उन्हें जब यह ज्ञान हो गया कि यह बछड़ा मरने से बच नही पाएगा। अपने रोग की पीड़ा को वह सहन नहीं कर पा रहा है। बोलने की शक्ति नहीं रहने के कारण अपनी वेदना को शब्दों में व्यक्त नहीं कर पा रहा है। अत: ऐसी स्थिति में उसके पालनकर्ता का यह कर्तव्य है कि वह उस बछड़े को उस असह्य वेदना से मुक्ति दिलाए। गाँधी जी ने भी उस बछड़े को असह्य वेदना से मुक्ति दिलाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री की, क्योंकि उन्हें चिकित्सकों ने यह पहले ही बता दिया था कि यह बछड़ा मरने से बचेगा नहीं।

मृत्युदान की इस चर्चा का यही निष्कर्ष निकलता है कि अनिवार्य तथा असाध्य, असह्य वेदना से पीड़ित व्यक्ति को उसकी वेदना से मुक्ति दिलानेवाला तथा उस वेदना से मुक्ति पानेवाला अपराधी नहीं है। इस तरह का मरणदान पानेवाला व्यक्ति मृत्युवरण करने के लिए स्वतन्त्र है। समकालीन जैन विचारक आचार्य महाप्रज्ञ ने व्यक्ति के ऐच्छिक मृत्युवरण के प्रश्न पर तर्कपूर्ण ढ़ंग से अपने विचार प्रतिपादित किए हैं। उनके अनुसार पहाड़ से लुढ़ककर, जल में डूबकर, आग में जलकर, फाँसी के फन्दे पर झूलकर व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है। इस विधि से प्राप्त मरण कभी भी इष्ट नहीं होता, क्योंकि इसके पीछे भावना समीचीन नहीं होती। आवेग और उत्तेजना से युक्त होने के कारण यह व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अहितकर है। वर्तमान समय में ऐच्छिक मृत्युवरण के क्षेत्र में अनेक प्रश्न उठ खड़े हुए हैं। पहला प्रश्न है आत्महत्या का, दूसरा सती होने का, तीसरा राजनीतिक स्तर पर अनशन का और चौथा धार्मिक स्तर पर अनशन का। मरणात्मक घटना सब में समान है। क्या उद्देश्य की दृष्टि से भी सब समान है? इनकी परीक्षा के लिए सिर्फ एक ही उपाय है, जिस देहत्याग की पृष्ठभूमि में उद्देश्य की पूर्ति प्रधान है और मरण प्रासंगिक है, मन शान्त, प्रशान्त और समाधिपूर्ण है, किसी तरह का आवेग, संवेग, उद्वेग, उत्तेजना आदि नही है, वह देहत्याग प्रशस्त है और इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है। वे पुन: कहते हैं कि आत्मदाह को भी उक्त कसौटी पर कसें। क्या उसके पीछे रागात्मक और द्वेषात्मक संवेग जुड़ा हुआ नहीं है और यदि नहीं है तो क्या आत्मदाह की अपेक्षा साधना का सौम्यमार्ग नहीं अपनाया जा सकता है? राजनीतिक स्तर पर किए जानेवाले अनशन में क्या आत्मशोधन की भावना है? यदि है तो उसके उद्देश्य का विचार अपेक्षित है। जिस अनशन में उद्देश्य प्रशस्त और आत्मशुद्धि दोनों होते हैं, उस अनशन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को प्रशस्त माना जा सकता है। भावुकतावश व्यक्ति आत्मदाह या सती प्रथा तथा धार्मिक अनशन को एक धरातल पर रखता है। इन दोनों को एक ही धरातल पर रखा जा सकता है, लेकिन अनशन को आवेश से प्रेरित नहीं होना चाहिए। क्योंकि आवेश से रहित होने के कारण ही अनशन और सतीप्रथा अलग-अलग है। आवेश के वश में ही व्यक्ति जहर आदि खाकर मर जाता है। लेकिन इस स्थिति में भी व्यक्ति मृत्यु के भय से मुक्त नहीं हो पाता है। इस तरह के मरण के लिए व्यक्ति स्वतन्त्र नही हैं, क्योंकि मृत्युवरण की स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति आवेश से रहित तथा मृत्यु भय से मुक्त रहे। जब तक वह आवेशमुक्त और मृत्युभय से मुक्त नहीं रहता है, वह मृत्युवरण के लिए स्वतन्त्र नहीं है।

ऐच्छिक मृत्युवरण के अधिकार का औचित्य

उपर्युक्त चर्चाओं के बाद अब हमारे समक्ष एक प्रश्न यह उठता है कि क्या व्यक्ति को इच्छापूर्वक मरने का अधिकार मिलना चाहिए। यदि हाँ तो क्यों? और यदि नहीं तो क्यों नहीं ? इस प्रश्न पर अगर विचार करें तो हम पायेंगे कि यदि मनुष्य को अपनी इच्छानुसार मृत्युवरण का अधिकार दे दिया जाए अर्थात् इसे कानूनी रूप में मान्यता प्रदान कर दिया जाए तो इसके दो रूप हमारे सामने उपस्थित होगें। प्रथम तो यह कि इससे असाध्य रोग से पीड़ित, दूसरों की दया पर आश्रित एवं अशक्त तथा तिल-तिल कर मरते हुए व्यक्तियों के लिए यह एक सुखमय मृत्यु होगी। दूसरे इससे जीवन में निराशावादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा एवं इस सुखमय मृत्यु के पीछे स्वार्थी तत्त्वों की गुप्त इच्छा पूर्ति भी हो सकती है। अत: इस समस्या पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है।

आधुनिक सन्दर्भों को ध्यान में रखते हुए इसके पक्ष तथा विपक्ष में कुछ तर्क देकर इसके औचित्य का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

आधुनिक युग जेट एवं कम्प्यूटर का युग कहला रहा है। इस युग में मानव समय की गति को भी पीछे छोड़ देने को तैयार है अर्थात् उसके पास इतना समय नहीं है कि वह समाज के उन वर्गों पर ध्यान दे सके जो शारीरिक रूप से या तो पूर्णत: विकलांग हैं अथवा ऐसे रोगों से पीड़ित हैं जिनका उपचार ही नहीं है। ऐसे लोगों को जीवित रखना, वास्तव में उन्हें यातना प्रदान करना है अर्थात् ऐसे लोगों को मृत्युवरण करने का वैध अधिकार मिलना ही चाहिए।

परन्तु यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अगर ऐसा होने लगे तो मनुष्यों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तिम क्षण तक संघर्ष करने की क्षमता का लोप हो जाएगा। साथ ही आज जो रोग असाध्य है वह कल साध्य भी हो सकता है? फिर इतनी जल्दी पराजय स्वीकार करने का तो कोई औचित्य ही नहीं जान पड़ता। आज पूरे विश्व में अनचाहे गर्भ से मुक्ति प्राप्त करना वैध घोषित किया जा चुका है। जब हमने उस जीव से बिना अनुमति लिए ही उसे समाप्त करने का अधिकार प्राप्त कर लिया है, तो फिर स्वयं के जीवन के प्रति ये अधिकार क्यों नहीं प्राप्त हो सकता है?

यदि स्वेच्छा से मृत्युवरण की वैधता प्रदान कर दी गयी तो व्यक्ति में घोर निराशावादी प्रवृत्ति घर कर लेगी। इसके अतिरिक्त विभिन्न तरह के जटिल रोगों के निदान हेतु जो अनुसन्धान एवं शोध कार्य होते हैं या हो रहे हैं उनमें शिशिलता आ जाएगी। सम्भव है कोई नयी खोज हो ही नहीं। इससे मानव समुदाय को अपार कष्ट होने की सम्भावना है।

एक दु:खी एवं असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्ति को सुखमय मृत्यु अथवा कष्टप्रद जीवन में से किसी एक को चयन करने का अधिकार मिलना ही चाहिए। यदि वर्तमान का औषधि विज्ञान भी रोगी की सहायता करने में अक्षम हो एवं रोगी की मृत्यु होनी निश्चित है, तो व्यक्ति को कष्टपूर्वक मरते देखने का क्या औचित्य है? ऐसे रोगग्रस्त व्यक्तियों को स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण करने का अधिकार मिलना ही चाहिए और यह उचित भी है। किन्तु कहा जा सकता है कि एक ओर कैंसर तथा इसी तरह के अन्य असाध्य रोगों को साध्य करने की दिशा में शोधकार्य चल रहे हैं तथा मानव के मन में आशा की ज्योति प्रज्वलित करने के प्रयास किए जा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर स्वेच्छा से मृत्युवरण सदृश कुण्ठित विचारधाराओं को प्रोत्साहन देने का कोई औचित्य नहीं है।

झूठे चमत्कारों की आशा दिलाकर किसी मरणासन्न व्यक्ति को जीवित रखना, उसके साथ विश्वासघात करने जैसा है। मनुष्य को स्वयं उसके अपने जीवन पर तो अधिकार होना ही चाहिए।

मनुष्य इस प्रकृति की श्रेष्ठतम रचना है एवं उसे समाप्त करने का अधिकार प्रकृति के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं है, स्वयं उस मनुष्य को भी नहीं। जब हम किसी को जीवन नहीं दे सकते हैं, तो हमे जीवन लेने का अधिकार भी नहीं है।

किसी प्रज्ञाशून्य व्यक्ति अथवा एड्स जैसे भीषण रोग (यह रोग ऐसा है, जिसका अभी तक निदान सम्भव नहीं हो सका है) इस रोग से ग्रसित व्यक्ति की अन्य रोगों से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लड़ने की प्रतिरोधक क्षमता समाप्त हो जाती है तथा उसकी मृत्यु निश्चित रूप से हो जाती है। इस ग्रसित व्यक्ति को जीवित रखने से क्या लाभ? यदि यह जीवित रह भी गया तो कितने समय तक ? अगर वह दीर्घकाल तक जीवित रह गया तो अन्य व्यक्तियों को भी अपने रोग का शिकार बना लेगा। अत: ऐसे व्यक्ति को स्वेच्छा से मरने का अधिकार मिलना चाहिए। अगर वह स्वेच्छापूर्वक अपना प्राणान्त करना चाहता है तो इस कार्य के लिए उसे नहीं रोकना चाहिए, क्योंकि यह तो समाज सेवा का एक रूप होगा। लेकिन यदि ऐसा हो गया तो समाज में भारी विषमता व्याप्त हो जाएगी। असहाय, वृद्ध एवं निर्धन व्यक्तियों की मृत्यु में एकाएक वृद्धि हो जाएगी। आत्महत्या के प्रकरण बढ़ जायेंगे। इतना ही नहीं अराजकतत्त्वों को अराजकता (हत्या) फैलाने का इससे सुन्दर बहाना और क्या मिलेगा?

स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण की इस चर्चा के बाद निष्कर्ष रूप में कोई एक मत देना सम्भव नहीं है। फिर भी इस दिशा में एक प्रयास अवश्य किया जा सकता है। कुछ अपरिहार्य एवं प्रसंगयुक्त परिस्थितियों को ध्यान में रखकर व्यक्ति को कुछ सीमा तक इच्छापूर्वक मृत्युवरण करने का अधिकार दिया जा सकता है। ये परिस्थितियाँ हो सकती हैं- १. अत्यधिक शारीरिक दुर्बलता, २. ब्रह्मचर्य की रक्षा ।

१. शारीरिक दुर्बलता के कई कारण हो सकते हैं-- अत्यधिक वृद्धावस्था, असाध्य रोग, ऐन्द्रिक एवं स्नायुगत शिथिलता आदि । इन परिस्थितियों में व्यक्ति अपना कार्य ठीक से नही कर पा रहा हो। अपने समस्त कार्यों के लिए किसी अन्य पर आश्रित हो। जिस पर वह आश्रित हो उसने इस स्थिति में उसका साथ छोड़ दिया हो। इसी प्रकार असहाय, अपंग व्यक्ति के सामने रोजी-रोटी तथा अन्य बहुत सी समस्यायें उपस्थित हो गयी हों। और इन समस्याओं की पूर्ति के लिए उसने सभी तरह के प्रयत्न किये, लेकिन सफलता नहीं मिली। ऐसी परिस्थिति में वह व्यक्ति क्या करें? वह चाह कर भी जीवित नहीं रह पाएगा। तो क्या उसे ऐच्छिक मृत्युवरण की स्वतन्त्रता नहीं है? यदि वह इच्छापूर्वक अपना देहत्याग करता है तो क्या उसका यह देहत्याग गलत है? नहीं, क्योंकि उसने जीने का भरपूर प्रयास किया। जब उसे यह विदित हो गया कि अब जीना मुश्किल है, जीने का कोई उपयोग नहीं है और यदि वह अन्त में आत्ममरण करता है, तो यह गलत नहीं हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति मृत्युवरण करने के लिए स्वतन्त्र है।

२. दूसरी स्थिति है ब्रह्मचर्य या सतीत्व की रक्षा के लिए प्राणत्याग करना। सर्वप्रथम हम यह विचार करें कि किसी स्त्री के पति की मृत्यु हो गयी है। उस विधवा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्री के परिवारवाले उसे हर तरह से प्रताड़ित करते हैं। भोजन, वस्त्र, सम्बन्धी समस्याएं पैदा करते हैं। वह स्त्री इन समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति किसी तरह कर लेती है। पुनः उस स्त्री को शारीरिक तथा मानसिक कष्ट दिया जाता है । वह इस प्रताड़ना को भी सहन करती है। अब उस स्त्री के सतीत्व पर प्रहार करने का प्रयास किया जाता है, वह स्त्री अपनी शक्ति भर इससे बचने का प्रयास करती है। लेकिन जब वह अपने सतीत्व की रक्षा के प्रयास में सफल नहीं हो पाती है या उसे यह ज्ञात होने लगता है कि अब वह उसमें किसी भी तरह से सफल नहीं हो पायेगी तो क्या उसे ऐच्छिक मृत्युवरण करने का अधिकार है? ऐसी परिस्थिति में उस स्त्री को ऐच्छिक मृत्युवरण करने का अधिकार है और इसके लिए वह स्वतन्त्र भी है। क्योंकि धर्म में पतित होने की अपेक्षा देहत्याग करके धर्म की रक्षा करना उत्तम है। इस परिस्थिति में देहत्याग करने के लिए वह कौन सी विधि या साधन का प्रयोग करती है यह समय और अवसर पर निर्भर करता है।

संदर्भ :-

१. दर्शन और चिन्तन (खण्ड-२), पृ०-५३३-३४, पं० सुखलालजी संघवी, सन्मान समिति, गुजरात विधानसभा, अहमदाबाद, १९५७.

२. भारद्वाज गृह्यसूत्र, सूत्र १,२.

३. कौशिक गृह्यसूत्र, ५,३,६, एवं विशे० द्रष्टव्य-अथर्ववेद १८,३,१-२.

४. मृते भर्तरि ब्रह्मचर्य तदन्वारोहजं वा ॥ -विष्णुधर्मसूत्र, २५, १४.

५. वृहस्पति स्मृति २५, ११.

६. मृतं भर्तार्मादाय ब्राह्मणीवहिन्मार्विशेत् ।
जीवन्ती चेत्यक्तकेशा तपसा शोषयेद्वपुः ॥
व्यासस्मृति, उद्घृत-हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, काणे, भाग- २, ५३.

७. कुलत्रयं पुनात्येषा भर्त्तारं या नुगच्छति ॥ मिताक्षरी, ८६.

८. या स्त्री मृतं पिरष्वज्य दग्धा चेद्धव्यवाहने।
सा भतृलोकमाप्नोति .....।
साध्वीनामिह नारीगामग्निप्रपतनाहते ।
नान्यो धर्मोऽस्ति विज्ञेयो मृते भर्तरि कुत्रचित।
वैष्णवं पतिमादाय या दग्धा हव्यवाहने।
सा वैष्णवपदं याति यत्र गच्छन्ति योगिनः।
उद्धृत- धर्मशास्त्र संग्रह, जीवानंद पृ०-३९५, कलकत्ता, १९८६.

९. मृते भर्तरि या नारी समारोहेद्घुताशनम्।
सा भवेत्तु शुभाचारा स्वर्गलोके महीयते॥ दक्षस्मृति, ४/३३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. मृते भर्त्तरि या नारी ब्रह्मचर्य्ये व्यवस्थिता।
सा मृता लभते स्वर्गं यथा सद् ब्रह्मचारिणः।। पराशरस्मृति, १५९.
ब्यालग्राही यथा ब्यालं विलादुद्धरते बलात्।
एवमुद्धृत्य भर्त्तारं तेनैव सह मोदते।। वही, १६०

११. निशीथचूर्णि, भाग २, पृ० ५९-६० एवं वही, भाग ४, पृ०- १४.

१२. महानिशीथ, पृ०- २९. १३. आवश्यकचूर्णि, भाग-१, पृ०- ३१८.

१४. जैन आगमिक व्याख्या साहित्य में नारी की स्थिति का मूल्यांकन, प्रो० सागरमल जैन, उद्धृत-श्रमणी, पृ०-१३८, श्री जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छ संघ, जयपुर, १९८९.

१५. अनुत्तरौपपातिकदशा में भद्रा सार्थवाह का उल्लेख है, लेकिन उसके पति और पुत्र का स्पष्ट विवरण नहीं मिलता है।
देखें, अनुत्तरौपपातिकदशा, परिशिष्ट टिप्पणी, पृ०- ६५.

१६. उत्तराध्ययननिर्युक्ति पृ०-१३६-१४०. १७. आवश्यकनिर्युक्ति, १२८३

१८. आवश्यकचूर्णि, भाग- २, पृ०-१८३. १९. ज्ञाताधर्मकथा, १/४

२०. वही, १/१६. २१. श्री सोलह सती, पृ०- १-५.

२२. वही, पृ०-६-१२. २३. वही, पृ०-१८२

२४. वही, पृ०-६५-९१.

२५. मन्त्रिव्यो ललितादेवी सौढ़वो अनशनेन मम्रतुः । प्रबन्धकोष, पृ०- १२९.

२६. The loss of the battle or the capture of a city in a signal to avoid captivity and its horrors. which to the Rājapūtānā (Rājauta Ldies) are worse than death. Annals and Autiquities of Rajasthan, Todd, Vol- I, PP 215, 249, 273, 507; Vol- II, pp. 200, 609, etc. Madras, 1873, 1880

२७. History of Suicide in India, P- 164.

२८. अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्यकन्याभवपूर्वपत्नी, सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे। सा भूधराणामधिपेन तस्यां समाधिमत्यामुदपादि भव्या, सम्यक् प्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवाहोत्साहगुणेन संपत् । कुमारसंभव, I, २१-२२

२९. History of suicide in India, P- 165.

३०. राजस्थान का इतिहास, डॉ० बी० एम० दिवाकर, पृ०-८९-९०.

३१. राजपूताने का इतिहास (भाग-२) डॉ० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पृ०-४६३-६८, वैदिक यंत्रालय, अजमेर ।

३२. राजस्थान का इतिहास, दिवाकर, पृ०-८८.

३३. Ibid. Vol II. pp 200-1.

३४. Annals of Antiasities of Rajasthan. vol I, P 215.

३५. IbId, Vol. I, P. 215.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपसंहार

मनुष्य ने जीवन को जितनी गहराई से समझने का प्रयत्न किया है, मृत्यु को उतनी गहराई से कभी समझने की चेष्टा नहीं की है। मृत्यु के विषय में वह दिग्भ्रमित रहा है। मृत्यु क्यों आती है? मृत्यु क्या है? मृत्यु का आना किस प्रकार होता है? इत्यादि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनकी भयावहता से वह निरंतर त्रस्त रहता है। 'मृत्यु' शब्द ही उसे अप्रिय लगता है। वह इससे किसी तरह की प्रीति नहीं रखना चाहता है। इसका कारण क्या हो सकता है? अगर हम इस प्रश्न पर विचार करें तो पायेंगे कि मृत्यु जीवन का अन्त है और यह अलगाव का द्योतक है। यह प्राणी को उसके प्राणों से जीवन को अलग कर देती है। जीवन सभी को प्रिय होता है और प्रिय वस्तु से कोई भी अलग नहीं होना चाहता। लेकिन हमें यह याद रखना होगा कि जिस तरह से सूर्योदय के बाद सूर्यास्त होता है, दिन के बाद रात आती है उसी तरह जीवन के बाद मृत्यु आती है। यह एक क्रम है जो अविराम गति से प्रवाहमान होता रहता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि व्यक्ति क्यों मृत्यु से भय खाता रहता है? क्या सूर्योदय के बाद सूर्यास्त होने पर वह डर जाता है? दिन के बाद रात का आगमन उसे भयभीत कर देती है? अगर नहीं तो फिर मृत्यु का ही भय क्यों? जिस प्रकार सूर्योदय-सूर्यास्त, दिन-रात आदि को एक क्रम मानकर अपनी दिनचर्या निर्धारित करके सुखपूर्वक जीवन बिताया जाता है, ठीक उसी तरह जीवन-मृत्यु को एक-दूसरे का पर्याय मानकर क्यों नही निर्भय जीवन बिताया जाए ? खैर ! यह कह देना और लिख देना जितना आसान है इस पर अमल करना उतना ही ज्यादा कठिन कार्य है। जानते-समझते हुए भी मनुष्य मृत्यु से डरता है और कहता रहता है *मरण समं नत्थि भयं।* मृत्यु के समान दूसरा कोई भय नहीं है। *भयः सीमा मृत्युः* - सबसे बड़ा और अन्तिम भय है- मृत्यु!

साधारणतः मनुष्य किसी दुःख से घबराकर व्याकुल होकर, निराश और हताश होकर कह उठता है- इस जीने से तो मर जाना ही अच्छा है। कभी-कभी जीवन से उसको इतनी निराशा हो जाती है कि भगवान् के सामने मौत भी माँगने लगता है - "हे ! भगवान् मुझे मौत दो ! प्रभो अब मुझे उठा लो, अब मैं जीना नहीं चाहता हूँ" आदि। किन्तु कब तक? जब तक मौत सामने नही आता। मौत के आने पर तो गिड़गिड़ाकर बचने का ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयास किया जाता है। आखिर ऐसा क्यों? एक क्षण पूर्व व्यक्ति अपनी मौत के लिए मिन्नते करता है और दूसरे ही क्षण वह उससे बचने के लिए मिन्नते करता नजर आता है। यह द्वैत क्यों? इस पर गहनता से चिन्तन की आवश्यकता है।

मृत्यु क्या है? इस विषय पर विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जो शरीर, इन्द्रियाँ आदि प्राप्त हुए हैं। उनके सर्वथा क्षीण हो जाने का नाम ही मृत्यु है। जैन मतानुसार दस प्राण बताए गए हैं- आयुष्य, पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काय, और श्वासोच्छवास-बल। इन दस प्राणों का संयोग जन्म है और इनका वियोग मृत्यु है। जन्म के पश्चात् और मृत्यु के पूर्व प्राणी आयुष्यकर्म का प्रतिक्षण भोग करता रहता है। एक प्रकार से वह प्रतिक्षण आयुष्य की डोरी को काटता रहता है, छोटा करता रहता है। इसी को हम जीवन कहते हैं। वास्तव में यह प्रतिक्षण आयुष्य की डोर का कटना प्राणी की प्रतिक्षण होनेवाली मृत्यु का ही सूचक है। लेकिन मनुष्य इस सत्य से अनभिज्ञ है और जीवन के मोह से संत्रस्त होकर मृत्युरूपी वेदना का क्लेश भोगता रहता है।

यह तो निश्चित है कि जन्म के साथ मृत्यु प्रारम्भ हो जाती है। मनुष्य प्रतिक्षण मरण को प्राप्त करता रहता है। कोई इसे अवीचिमरण कहता है तो कोई नित्यमरण और कोई तद्भवमरण। चाहे यह कितने ही विविध नामों से पुकारा जाए लेकिन इतना निश्चित है कि जिसे हम आयु वृद्धि कहते हैं, वह वस्तुतः वृद्धि नहीं ह्रास है, मृत्यु की ओर बढ़ता हुआ कदम है। मृत्यु का प्रतिक्षण जीवन में अनुभव हो रहा है, हम प्रतिसमय मृत्यु की ओर जा रहे हैं अर्थात् मरण का अनुभव कर रहे हैं। फिर भी हम उससे भयभीत नहीं होते, अतः इसी प्रकार की वृत्ति बनानी चाहिए कि मृत्यु का प्रतिफल देखते हुए भी हम निर्भय बने रहें और ये सोचे कि मृत्यु कोई नई वस्तु नहीं है।

मृत्यु से भयभीत होनेवाले व्यक्ति के मन में मृत्यु की भ्रान्त धारणा को ही उत्तरदायी माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में विचार करने पर हमारे समक्ष तीन कारण उपस्थित होते हैं- १. जीवन के प्रति आसक्ति, २. भवान्तर में सद्गति प्राप्त करने योग्य कर्म का अभाव तथा ३. मृत्यु सम्बन्धी भ्रमपूर्ण विचार। अतः हमे मृत्यु से मुक्त होने के लिए मृत्यु सम्बन्धी भ्रमपूर्ण विचारों पर चिन्तन करने के साथ-साथ भयमुक्त होने के लिए सम्यक् प्रयत्न भी करने होंगे।

इस मृत्यु भय को दूर करने के लिए हमें सर्वप्रथम उसका स्वरूप समझ लेना होगा कि यह एक प्रकार के वस्त्र-परिवर्तन की भाँति ही देह-परिवर्तन है। यह एक अवश्यंभावी भाव है- हम प्रतिक्षण मृत्यु की छाया से गुजर रहे हैं, इसलिए उससे डरने की कोई बात नहीं है। जीवन में सत्कर्म, पुण्य, तप-ध्यान-योग आदि साधनात्मक साधनों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को स्थान देकर निर्भय हुआ जा सकता है, क्योंकि इन साधनों से युक्त व्यक्ति जब परलोक का पथिक बनता है तो उस समय उसके मन में बार-बार यह ध्वनि गुंजरित होती है *"गहिओ सुग्गई मग्गो नाहं मरणस्स बीहेमि"*। अर्थात् मैने सद्गति का मार्ग ग्रहण कर लिया है, जीवन में धर्म की आराधना की है। अब मैं मृत्यु से नहीं डरता, मुझे मृत्यु का कोई भय नहीं है।

वास्तव में जन्म के विषय में हम अपनी ओर से कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकते। समय, स्थान, कुल आदि सब कुछ देवायत्त भाग्य के अधीन रहता है, किन्तु मृत्यु के विषय में यह नियम इतना कठोर नहीं है। जन्म कहीं भी हो, किन्तु जीवन कैसा बनाना है और मृत्यु के लिए कैसी तैयारी करनी है- यह हमारे पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। हम तप, ध्यान आदि के द्वारा जन्म पर न सही, किन्तु मृत्यु पर अधिकार कर सकते हैं। पुरुषार्थ द्वारा जीवन-शुद्धि, मरण-शुद्धि भी कर सकते हैं और जो मृत्यु संसार के लिए शोक का कारण बनती है, वही मृत्यु हमारे लिए महोत्सव बन सकती है। प्रश्न है कि हम मृत्यु के भय को उल्लास के रूप में किस प्रकार बदलें। बस, यही कला मृत्युकला है। जीने की कला है। जीने की कला सीखना आसान है, किन्तु मृत्यु की कला सीखना कठिन है। हमारे धर्मग्रन्थ जीने की कला के साथ-साथ मरने की कला पर भी पर्याप्त चिन्तन करते हैं। परंतु जहाँ तक मरणकला का प्रश्न है, तो इस दिशा में जैन परम्परा का जितना प्रतिदान है उतना अन्य परम्पराओं का नहीं। जैनशास्त्रों में मृत्यु की कला सिखानेवाली इस अवधारणा को समाधिमरण, सल्लेखना, संथारा आदि विभिन्न नामों से जाना जाता है, जबकि अन्य परम्पराओं जैसे हिन्दू परम्परा में यह महाप्रस्थान, बौद्ध परम्परा में शिंम्यू, ऐतिशी आदि नामों से जाना जाता है। इसके अतिरिक्त जौहर, सती, सहमरण, अनुमरण के रूप में भी ऐच्छिक मृत्यु ग्रहण करने की अवधारणा मिलती है। वस्तुतः मृत्यु ग्रहण करने के ये विविध रूप मृत्यु की कला के विभिन्न पक्षों पर अपना दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल जैन धर्म-दर्शन में अपितु सभी भारतीय धर्मों में समाधिमरण की अवधारणा किसी न किसी रूप में स्वीकृत रही है और यह भी सत्य है की जहाँ भारतीय विचारकों ने आत्महत्या का विरोध किया है, वहीं समाधिमरण हेतु अनुमति भी प्रदान की है। फिर भी समाधिमरण के सम्बन्ध में जितनी गम्भीरता से चर्चा जैनधर्म में उठायी गयी है और उसकी एक सुनिश्चित प्रक्रिया अपनायी गयी है वैसी अन्य भारतीय धर्मों में नहीं है। जैनधर्म ही वह भारतीय धर्म है जो समाधिमरण की इस अवधारणा का एक सर्वांगपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करता है। हिन्दू और बौद्ध धर्मों में जहाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधिमरण की प्रक्रिया कुछ विशिष्ट व्यक्तियों और विशिष्ट अवस्थाओं में स्वीकार की गई है, वहीं जैनधर्म में सभी गृहस्थ और मुनियों के लिए इसकी साधना को अपेक्षित माना गया है।

जहाँ तक जैन साहित्य की बात है तो अधिकतर जैन ग्रन्थों में थोड़ी बहुत चर्चा समाधिमरण के बारे में अवश्य मिलती है। अपने अध्ययन के दौरान हमने जिन जैन साहित्य का अवलोकन किया और उनमें मुझे समाधिमरण से सम्बन्धित जो बातें मिली, उनके आधार पर उसे दो वर्गों में विभाजित किया है। प्रथम वर्ग में उन ग्रन्थों को रखा है जो समाधिमरण की चर्चा अन्य जैन सिद्धान्तों के साथ ही करते हैं। दूसरे वर्ग में उन साहित्य को रखा है जो मुख्य रूप से समाधिमरण की चर्चा करते हैं, लेकिन उनके रचनाकाल का क्रम भिन्न-भिन्न था, इसी कारण यह दो वर्गीकरण सम्भव नहीं हो पाया अत: हमने कालक्रम के अनुसार ही उन्हें स्थान दिया है।

चूँकि मृत्यु सभी के लिए अपरिहार्य है, अत: समाधिमरण की साधना भी सभी के लिए है, चाहे वह व्यक्ति गृहस्थ हो या श्रमण। यद्यपि हमने अपने अध्ययन के दौरान यह पाया है कि समाधिमरण लेने की प्रक्रिया मात्र श्रमण-श्रमणी वर्ग में ही प्रचलित नहीं रही है, अपितु गृहस्थ भी समाधिमरण करते थे और जैनधर्म में उनका स्थान आदरणीय होता था। जहाँ तक समाधिमरण की साधना की बात है तो यह जीवन के आकर्षण और मृत्यु के भय दोनों से ऊपर उठकर शरीर में रहते हुए भी शरीर का अतिक्रमण कर जाना है। यह जीवन और मृत्यु दोनों के प्रति तटस्थ भाव है।

समाधिमरण और आत्महत्या में बहुत बड़ा अन्तर है। दोनों में मरणान्तिक भाव का समावेश होता है। इस कारण बहुत से लोग दोनों को एक समान समझ लेते हैं। वस्तुत: समाधिमरण और आत्महत्या को एक समझना समाधिमरण के स्वरूप से अनभिज्ञता का द्योतक कहा जा सकता है।

वास्तविकता यह है कि एक जीवन के दु:खों से ऊबकर विक्षुब्ध मनोदशा से जीवन और संसार से पलायन का प्रयत्न है तो दूसरा संसार में होकर भी उससे निर्लिप्त होकर जीना है। सम्भवत: यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि समाधिमरण में तो शरीर के पोषण के समस्त प्रयत्न ही छोड़ दिए जाते हैं, अत: वह तो प्रकारान्तर से मृत्यु का आमन्त्रण ही है। किन्तु जैन आचार्य इससे सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि शरीर के पोषण के प्रयत्न इसलिए नहीं छोड़ दिए जाते हैं कि व्यक्ति मृत्यु को चाहता है, अपितु इसलिए छोड़े जाते हैं कि व्यक्ति का शरीर इस योग्य नहीं रहता कि उसका पोषण किया जाए। जिस प्रकार शरीर का कोई विकृत अंग इस स्थिति में पहुँच जाता है कि उसमें सुधार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की सम्भावना धूमिल हो गई हो और उसमें आगे सड़ान्ध बनने को सम्भावना प्रबल हो तो ऐसी स्थिति में समझदारी इसी में मानी जाती है कि उस विकृत अंग को शेष शरीर से अलग कर दिया जाए। इसी प्रकार वह जीवन जिसमें शरीर एवं शारीरिक मूल्यों के संरक्षण से व्यक्ति और समाज का चरित्र बल क्षीण होता है, सामाजिक विसंगतियाँ बढ़ती हैं तो ऐसी स्थिति में शरीर का त्याग ही उचित है। इसी प्रकार जब नैतिक मूल्यों में या दैहिक मूल्यों में से किसी एक का संरक्षण ही सम्भव हो तो जैन नीति में सल्लेखना की धारा को स्वीकार करते हुए चाहे शरीर का विसर्जन करना पड़े, नैतिक मूल्यों को तो यथावत रखना ही चाहिए। नैतिक मूल्यों का त्याग करके जीवन के संरक्षण की बात जैन दार्शनिकों को मान्य नहीं है। इसीलिए वे समाधिमरण की अवधारणा को स्वीकार करते हैं।

जैन ग्रन्थों में मृत्यु (मरण) के सत्तरह प्रकार बताए गए हैं, किन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि मरण के ये सभी रूप प्रशस्त नहीं हैं। इन विविध रूपों में मरण के प्रशस्त रूप कितने हैं इसकी चर्चा भी पूर्व में की गई है। सामान्य शब्दावली में कहें तो मृत्यु का वही रूप प्रशस्त होता है जहाँ व्यक्ति जीवन और मृत्यु की आकांक्षा से ऊपर उठकर जीता है या मरता है। एक सदाचारी पुरुष के लिए जीवन और मृत्यु में कोई अन्तर नहीं होता है। किसी उर्दू शायर ने कहा है-

जीवन मरण एक है जिनको जरा भी ज्ञान।
यह इधर का मरतबा वह उधर का॥

वस्तुत: ऐसा व्यक्ति जिसने सार्थक जीवन जिया है वह मृत्यु से भयभीत नहीं होता है, वह अनुभव करता है कि उसने अपने कर्तव्यों को पूरा किया है, अपने आदर्शों का निर्वहन किया है। अत: चाहे मृत्यु आए या न आए दोनों ही स्थितियों में उसके लिए बहुत बड़ा अन्तर नहीं होता है।

जैन विचारक यह भी मानते हैं कि देह का रक्षण तभी तक आवश्यक और उपयोगी है जब तक वह आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों के रक्षण में एक साधन के रूप में कार्य करे। यह स्पष्ट है कि जैन आचार्यों की दृष्टि में देह और दैहिक मूल्य साधन ही हैं, वे उन्हें कभी साध्य नहीं मानते। यही कारण है कि जैन दर्शन में समाधिमरण की अवधारणा का इतना खुला एवं सुस्पष्ट रूप मिलता है। जैन आचार्यों ने तो मृत्यु को ही कल्याणकारी माना है। वह व्यक्ति जिसने अपना शरीर नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के संरक्षण के लिए त्याग दिया है, उसकी मृत्यु भी महोत्सव ही होती है। जैनों ने सत्पुरुषों के निर्वाण को भी एक कल्याणक या महोत्सव के रूप में देखा है। मृत्यु तभी महोत्सव बन सकती है जबकि व्यक्ति का जीना सार्थक रहा हो। यहाँ सार्थकता से तात्पर्य ऐसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन से है जो नैतिक मूल्यों के संरक्षण और बहुजन समाज के कल्याण के लिए जिया गया है।

जैन ग्रन्थों के अध्ययन से यह भली-भाँति ज्ञात होता है कि समाधिमरण कब, क्यों और कैसे लिया जाता है? सबसे पहले समाधिमरण लेनेवाले की योग्यता पर विचार करते हुए यह कहा गया है कि सामान्यतया समाधिमरण लने का अधिकार उन्हीं व्यक्तियों को है जिनका जीवन समाज के लिए भारस्वरूप हो गया हों, जो अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के कार्यों को कर पाने में असमर्थ हो गये हों अथवा जो नैतिक मूल्यों की सुरक्षा या जीवन की सुरक्षा में से कोई एक ही विकल्प रख रहे हो।

अत: कहा जा सकता है कि जैनों ने समाधिमरण की अवधारणा का जो अर्थ लगाया है वह जीवन से पलायन का नहीं है वरन् जीवन के द्वार पर दस्तक दे रही मृत्यु को शान्त चित्त और सजगता से आमंत्रण देना है। समाधिमरण न तो जीवन से भागना है और न मृत्यु से, अपितु जीवन को मूल्ययुक्त बनाकर जीना है और आयी हुई मृत्यु का स्वागत करना है।

समाधिमरण की प्रक्रिया में उन्हीं तथ्यों पर अधिक बल दिया गया है जिनसे कि जीवन की अन्तिम बेला में शरीर को छूटने अथवा घर, परिजन और प्राप्तव्य के छूटने की पीड़ा व्यक्ति के मनस को व्यथित न करे। वस्तुत: समाधिमरण हमें एक ऐसी जीवन दृष्टि देता है जिसमें व्यक्ति जीवन और मृत्यु दोनों से निरपेक्ष हो जाता है। इस दृष्टि का सुन्दर चित्रण एक शायर ने इस प्रकार किया है---

लाइ हयात आ गए कजा ले चली चले चले ।
ना अपनी खुशी आए ना अपनी खुशी गए ।

जैन सन्त और गान्धी जी के आध्यात्मिक गुरु श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है-

देह थता वर्तें जे देहातीत
ते ज्ञानीना चरणमां वंदन हो अनगनि ॥

तात्पर्य यह है कि समाधिमरण की साधना का अर्थ जीवन के आकर्षण एवं मृत्यु के भय से ऊपर उठ जाना है।

जैन ग्रन्थों में समाधिमरण लेनेवालों के अनगिनत नामों का उल्लेख है। आवश्यकतानुसार यथास्थान इनका वर्णन भी किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से समाधिमरण पर पूर्णरूपेण प्रकाश शिलालेखों के माध्यम से डाला गया है। जहाँ तक ऐतिहासिक साक्ष्य की बात है तो शिलालेख इस दृष्टि से सबसे अधिक विश्वसनीय एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सही माने जाते हैं। इसकी सत्यता पर अधिक विश्वास किया जाता है। कालक्रम की दृष्टि से इसका वर्गीकरण तीन भागों में किया गया है। प्रथम वर्ग में प्राचीन काल के शिलालेखों तथा द्वितीय वर्ग में मध्यकाल के शिलालेखों को अपने अध्ययन का विषय बनाया है। तृतीय वर्ग में आधुनिक काल में जिन सत्महापुरुषों ने समाधिमरणपूर्वक अपना देहत्याग किया है, उनका वर्णन किया गया है।

इस तरह से हम देखते हैं कि समाधिमरण की परम्परा जैन परम्परा में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही विद्यमान रही है। प्राचीन काल में उसका जितना आदरणीय स्थान था उतना ही आदरणीय स्थान आज भी है, क्योंकि जहाँ अन्य धर्मों में इस तरह की प्राचीन परम्पराओं पर रोक लगा दी गई है, वहीं समाधिमरण बिना रोक-टोक के अविराम गति से अपने पथ पर कायम है। समाधिमरण के अवसर पर महोत्सव मनाने की प्रक्रिया अब भी विद्यमान है तथा जैन समाज में इसका कितना आदर है इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता है।

जहाँ तक यह प्रश्न है कि व्यक्ति को मृत्यु के चयन का अधिकार है या नहीं? तो कहा जा सकता है कि यदि व्यक्ति को किन्हीं मूल्यों के संरक्षण के लिए जीने का अधिकार है, तो किन्हीं मूल्यों के संरक्षण के लिए उसे मृत्यु का अधिकार भी मिलना चाहिए। व्यक्ति को जीवन का तथा मरण का अधिकार भी मिलना चाहिए। व्यक्ति को जीवन का अधिकार देना, किन्तु मृत्यु का अधिकार छीन लेना उसकी स्वतंत्रता का परिचायक नहीं है। यदि हमें जीने का अधिकार **है तो मरने** का भी है। किन्तु यह मरने का अधिकार इसलिए नहीं मिला है कि हम **अपने सामाजिक** दायित्वों और कर्तव्यों से पलायन करें, अपितु इसलिए मिला है कि हम **अपने उच्च** मूल्यों का भी संरक्षण कर सकें। लेकिन हमें यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि मृत्यु का यह अधिकार केवल उन्हीं लोगों को दिया गया है जो जीवन और मृत्यु के मूल्य को समझते हैं। जिन्हें जीवन के आदर्शों के साथ-साथ सामाजिक कर्तव्यों का भी बोध है। यही कारण है कि जैन विचारकों ने कभी भी मृत्यु को जीवन से पलायन के लिए आमन्त्रित नहीं किया, उन्होंने तो मृत्यु का स्वागत किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

मूल ग्रन्थ

अन्तकृद्दशा	सम्पा-मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति ब्यावर, राजस्थान, १९८१
अनुत्तरोपपातिकसूत्र	श्री कन्हैयालाल जी महाराज, अ०भा०श्व० स्था० जैनशास्त्रोद्धार समिति, मू० राजकोट (सौराष्ट्र), १९५९
आचाराङ्गसूत्रम् (प्रथम स्कन्ध)	आचार्य श्री आत्माराम जी जैन, प्रकाशन समिति जैनस्थानक, लुधियाना, १९६३.
आचाराङ्गसूत्रम् (द्वितीय स्कन्ध)	आचार्य श्री आत्माराज जी जैन, प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, लुधियाना, १९६४
आचाराङ्गसूत्रम् (तीनों भाग)	मुनि श्री कन्हैयालाल जी, अ०भा०श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, मु० राजकोट, १९५७
आवश्यकसूत्रम्	आमोलक ऋषि, हैदराबाद सिकन्दराबाद जैन संघ वीराद, २४४६.
आवश्यकसूत्रम्	घासीलाल जी, अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट (सौराष्ट्र), १९५८.
आयारो	आचार्य तुलसी, जैन विश्व भारती प्रकाशन, वि० सं० २०३१.
आराधनासार	कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी, १९८४
उत्तरज्झयाणाणि	मुनि नथमल, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, आगम साहित्य प्रकाशन समिति, कलकत्ता, १९६७.
उत्तराध्ययनसूत्रम्	श्री आत्माराज जी महाराज, खजांचीराम जैन, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, सैदमिट्ठा, लाहौर १९३९.
उत्तराध्ययननिर्युक्ति (व्याख्या सहित) भाग-२	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१६
उत्तराध्ययनसूत्र	साध्वी चन्दना, वीरायतन प्रकाशन, आगरा, १९७२.
उपासकदशाङ्गसूत्र	घासीलाल जी, श्री अ. भा श्वे. स्था. जैनशास्त्रोद्धार समिति, मु० राजकोट (सौराष्ट्र), १९६१.
उपासकदशाङ्ग	श्री आत्माराम जी, जैन प्रकाशन समिति लुधियाना, १९६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपासकाध्ययन	पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९६४.
उवासगदसाओ	मिश्रीलाल जी "मधुकर" श्री आगम प्रकाशन समिति लुधियाना, १९६४.
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	पं० मनोहरलाल शास्त्री, श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई, १९२८
तत्त्वार्थसूत्र	पं० सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७६.
तत्त्वार्थवार्तिक (भाग-२)	डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५७
दसवेआलियं	मुनि नथमल, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान), विक्रम संवत् २०३१.
धर्मामृत (सागार)	पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९७८.
पइण्णयसुत्ताइं (प्रथम भाग)	पुण्य विजयमुनि, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९८४.
प्रकीर्णकदशकं	श्री आगमोदय प्रकाशन समिति, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२७.
पुरुषार्थसिद्धयुपाय:	श्री अमृतचन्द्राचार्य, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, १९६६.
प्रश्नव्याकरणसूत्र	उपा० अमर मुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७३.
बाल्मीकि रामायण	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३०.
बाल्मीकि रामायण (अरण्य काण्ड)	स्वाध्याय मण्डल, पारडी (सूरत), १९५०.
भगवती-आराधना (दोनों भाग)	पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९७८.
मज्झिमनिकाय (हिन्दी)	महाबोधि सभा सारनाथ, वाराणसी।
महाभारत	चित्रशाला प्रेस, पुणे।
महाभारत	गीता प्रेस, गोरखपुर।
महाभारत	भंडारकर ओरियन्टल शोध संस्थान, पूना
मनुस्मृति:	पं० श्री हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार (पूर्वार्द्ध)	आर्यिकारत्न ज्ञानमती जी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९८४.
रत्नकरण्डकश्रावकाचार	पं० पन्नालाल "बसन्त", वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, दिल्ली, १९७२.
सद्धर्म मण्डनम्	श्री जवाहर जी, तनसुखदास दूगड़, सरदारशहर, राजस्थान, वि० सं० १०८८.
व्याख्याप्रज्ञप्ति (भाग-३)	सम्पा०-मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति ब्यावर (राजस्थान), १९८६.
समाधिमरणोत्साहदीपक	हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, १९८४.
समवायाङ्गसूत्र समिति,	पं० हीरालाल जी शास्त्री, श्री आगम प्रकाशन ब्यावर (राजस्थान), १९८२.
सर्वार्थसिद्धि:	पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५५.
धर्मामृत (सागार)	मोहनलाल शास्त्री, सरल जैन ग्रन्थ भण्डार जबलपुर, वीर नि० सं० २४८४.
सुत्तनिपात	भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ , वाराणसी १९५०.
संयुत्तनिकाय (हिन्दी)	जगदीश काश्यप एवं धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५४.
स्थानांगसूत्र	श्री मिश्रीलाल "मधुकर", श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राजस्थान, १९८१.
ज्ञाणार्नव	पं० बालचन्द्र जी शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९७७.
ज्ञाताधर्मकथाङ्ग	श्री मिश्रीलाल "मधुकर", श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थन), १९८१.
श्री समाधिशतक टीका	ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद, जैन मित्र सूरत, १९७८

सहायक ग्रन्थ

ओघनिर्युक्ति	भद्रबाहु स्वामी, आगमोदय समिति, सं० १९२७.
गरूड़पुराण	पं० श्री राम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली प्रथम एवं द्वितीय भाग, १९६९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जातकमाला	जे० एस० स्पेयर, एस० वी० वी० १९६९.
जैन आगम साहित्य	श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री, श्री तारक गुरु
मनन और मीमांसा	जैन ग्रन्थालय, उदयपुर (राजस्थान) १९७७.
जैन दर्शन	डॉ० मोहन लाल मेहता, सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, १९५९.
जैन दर्शन	पं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी, १९५५.
जैन धर्म में अहिंसा	डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा, सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, १९७२.
जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ० सागरमल जैन, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर (राजस्थान), १९८२.
जैन साहित्य का बृहद इतिहास, (सात भाग)	मोहन लाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९६६-६७.
जैन साहित्य की प्रगति	पं० सुखलाल संधवी, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल वाराणसी, १९५१.
जैन शिलालेख संग्रह (भाग-४)	हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी वीर निर्वाण संवत् २४९१.
तीर्थविवेचन कांडम	सम्पा०- के० बी० रंगास्वामी आयंगर, आनन्द आश्रम प्रेस, पूना, १९४२
थेरगाथा	भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा सारनाथ, वाराणसी १९५५.
दर्शन और चिन्तन (खण्ड-२)	पं० सुखलाल जी के हिन्दी लेखों का संग्रह, पं० सुखलालजी सम्मान समिति, गुजरात विधानसभा, अहमदाबाद, १९५७
धर्मशास्त्र का इतिहास : (भाग-२-३)	डॉ० पाण्डूरंग वामन काणे, उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९८२
नए धर्म की खोज (प्रथम भाग)	डॉ० प्रद्युम्न कुमार, अरुणोदय प्रकाशन, लखनऊ १९८६.
पद्मपुराण (प्रथम खण्ड)	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६८.
परमसखा मृत्यु	काका साहब कालेलकर, सस्ता साहित्य मण्डल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	प्रकाशन, दिल्ली, १९७९.
पश्चिमीय विचार का आलोचनात्मक अध्ययन	ईश्वरचन्द्र शर्मा, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९६१
वैदिक एवं धर्मशास्त्रीय साहित्य में नारी	डॉ० एस० कुजुर, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९८२.
भगवतीसूत्र	घासीलाल जी, जैन शास्त्रोद्धार समिति, १९७१.
भावना शतक	शतावधानी मुनि रत्नचन्द्र जी, वृन्दावन दास दयाल कोर्ट बाजार गेट, बम्बई, वीर संवत् २४४७.
मत्स्यपुराण (प्रथम एवं द्वितीय खण्ड)	श्री राम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली १९७०.
मृत्यु-महोत्सव	श्री अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज, एटा, १९५८.
समयसार	पं० जयचन्द्र, जिनवाणी प्रकाशन विभाग, श्री जैन मन्दिर सराय, रोहतक, वि. सं. २४६८.
समीचीन धर्मशास्त्र	जुगल किशोर मुख्तार "युगवीर", वीर सेवा मन्दिर दरियागंज, दिल्ली, १९५३.
श्रावक-कर्तव्य	मुनि सुमत कुमार, काशी राम ग्रन्थमाला, अम्बाला, सं० २०२२.
श्रमण-सूत्र	अमर मुनि जी महाराज, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६६.
श्रावक धर्म	महासती उज्ज्वल कुमारी, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५४.

ENGLISH BOOKS

Belief and Action	Samuel, Herbert, New york, Pantteon Books. 1953.
Death and Modem Man	Choron, Jacques, Collier Books, New York. 1972.
Death and Western Thought	Choron, Jacques, Collier Books, New York 1963.
Essays Upon Heredity : The Duration of Life, Vol. I, Encyclopaedia of Religion and Ethics. Vol. iv. viii.	Weismann, Sugust. Clarendon press Oxford 1892.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Heart of Jainism	Mrs. Stevenson. Sinclare University press. London , Bombay. 1915.
Introduction to Homicide in India	Thakur Upendra. Abhinav Publications. New Delhi.
Indian Antiquerry Vol. i. ii. iv. vi. xxxvi	
Inviting Death :	S. Setter. Institute of Indian Art History. Karnataka University. Dharwad. 1980
Jainism and World Problems	Jain Champta Rai. Jain Parishad. Bijnor.1934.
Jaina Culture	Mehta, Mohan Lal. P. V. Research Institute Varanasi. 1969.
Jainism and Karnataka	Shama S.R. Karnataka Culture Historical Research Society. Dharwar. 1940
Law of Crimes in India vol.I	Nigam. R.C. Asia Publishing House Bombay. 1965.
Pursuing Death	S. Setter Institute of Indian Art Karnataka University. Dharvad. 1990.
Suicide and the meaning Civilization	Masaryk. G. Thomas. The Univrrsity of Chicago Press. chicago and London 1970.
Sallekhana is not Suicide	Tukol. T.S.. L.D. Institute of Indology Ahmedabad. 1976.
The Mystry of Death.	Carrel, Alexis. New york. Appletoncentury-Crofts , 1955.
The Principle of Individuality and Value	Bosamaquet. Bernard. The Macmillan Company London. 1912.
The Meaniny of Immortality Human Experince	Hocking. William Ernest. Harper and Row. New york. 1957.
Thanatophobia and Immortality	Hall. G. Stanley. American Journal of Psych -ology. Vol. 26. (1915)
The History of Suicide in India	Thakur.Upendra.MunshiRam Manoharlal Oriental Publishers and Book sellers. Delhi. 1962
What is Life?	Schrodinger. Erwin. New York. Doubleday (Anchor Books). 1956.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोश

अर्द्धमागधी कोश, भाग १-५	मुनि रतनचन्द्रजी, अमर पब्लिकेशन्स वाराणसी १९८८.
अभिधानराजेन्द्र कोश भाग १-७	
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग १-४	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी १९७३.
संस्कृत-हिन्दी कोश	वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी

पत्र-पत्रिकाएं

अभिनन्दन ग्रन्थ आचार्य श्री	डॉ० दरबारी लाल कोठिया, वाराणसी.
आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दनग्रंथ	तुलसी धवल समारोह समिति, दिल्ली १९६१.
उत्सर्ग और अपवाद मार्ग	उपाध्याय कवि श्री अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा.
जैन समाज (दैनिक)	जयपुर, १९ अक्टूबर १९८७.
जैन जगत	भारत जैन महामण्डल, बम्बई .
जैन प्रकाश (पाक्षिक)	जैन भवन, नई दिल्ली, १६ अक्टूबर ,१९८७.
जैन भारती	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १७ अगस्त, १९८७.
तीर्थंकर (मासिक)	इन्दौर, मध्य प्रदेश, जनवरी, १९८८.
समाधिमरण भावना	श्री सेठिया जैन ग्रन्थमाला पुष्प ५६, जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर.
सम्यग्-दर्शन (मासिक)	अखिल भारतीय साधुमार्गी, जैन संस्कृति रक्षक संघ; फरवरी, १९८८.
सन्मति संदेश	जैन मन्दिर गली, दिल्ली, जनवरी, १९७८.
सुधर्मा	श्री तिलोकरत्न स्थानक जैन, अहमदनगर, अक्टूबर, १९८७.
श्रमणोपासक (पाक्षिक)	अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर, दिसम्बर, १९८७.
श्री अमर भारती	वीरायतन, राजगृह , अगस्त, १९८७.
श्री जिनेन्द्रवणी स्मरणान्जली	श्री दिगम्बर जैन समाज, काशी, सन् १९८४.
श्री अम्बालाल जी अभिनन्दन ग्रन्थ	अम्बालाल जी म० अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशन समिति उदयपुर, १९७६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Our Important Publications

s in Jain Philosophy	Dr. Nathamal Talia	100.00
Temples of Western India	Dr. Harihar Singh	200.00
Existemology	Dr. I.C. Shastri	150.00
pt of Pañcaśīla in Indian Thought	Dr. Kamla Jain	50.00
pt of Matter in Jaina Philosophy	Dr. J.C. Sikdar	150.00
Theory of Reality	Dr. J.C. Sikdar	150.00
Perspective in Philosophy & Religion	Dr. Ramji Singh	100.00
s of Jainology (Complete Set : Vols 1 to 7)		2200.00
roduction to Jaina Sādhanā	Prof. Sagarmal Jain	40.00
of Jaina Wisdom	Dulichand Jain	120.00
ific Contents in Prakrit Conons	Dr. N.L. Jain	300.00
eritage of the Last Trhat : Mahāvīra	Dr. C.Krause	20.00
th of Arhat	T.U. Mehta	100.00
Dimensional Application of Anekāntavādād	Ed. Prof. S.M. Jain S.P. Pandey	500.00
orld of Non-living	Dr. N.L. Jain	400.00
करण	अनु.-डॉ. अशोक कुमार सिंह	200.00
हित्य का बृहद् इतिहास (सम्पूर्ण सेट सात खण्ड)		630.00
जैन साहित्य का इतिहास (सम्पूर्ण सेट चार खण्ड)		760.00
तिमा विज्ञान	डॉ. मारुतिनन्दन तिवारी	150.00
और उनके दशधर्म	प्रो. भागचन्द्र जैन	80.00
गं (हिन्दी अनुवाद सहित)	पं. विश्वनाथ पाठक	80.00
हिन्दी कोश	सम्पा.-डॉ. के.आर. चन्द्र	400.00
र्म और तान्त्रिक साधना	प्रो. सागरमल जैन	350.00
प्तशती (हिन्दी अनुवाद सहित)	पं. विश्वनाथ पाठक	60.00
जैन-विद्या भारती (तीन खण्ड)	प्रो. सागरमल जैन	300.00
न सिद्धान्त : एक विश्लेषण	प्रो. सागरमल जैन	60.00
जीवन मूल्य	प्रो. सुरेन्द्र वर्मा	75.00
ासनाटकम्	सम्पा.-डॉ. सुरेशचन्द्र पाण्डे	60.00
नवाद और पाश्चात्य व्यावहारिकतावाद	डॉ. राजेन्द्र कुमार सिंह	150.00
स्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन	डॉ. अशोक कुमार सिंह	125.00
क-प्रकरणम् (हिन्दी अनुवाद सहित)	अनु.-डॉ. दीनानाथ शर्मा	250.00
दिवाकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय	100.00
र्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ	हीराबाई बोरदिया	50.00
लीन राजस्थान में जैन धर्म	डॉ. (श्रीमती) राजेश जैन	160.00
जैन गुफाएँ	डॉ. हरिहर सिंह	150.00
की निर्वाणभूमि पावा : विमर्श	भगवतीप्रसाद खेतान	65.00
का समीक्षात्मक अध्ययन	डॉ. फूलचन्द जैन	80.00
र्थों का ऐतिहासिक अध्ययन	डॉ. शिवप्रसाद	100.00
माण-मीमांस की जैन दृष्टि से समीक्षा	डॉ. धर्मचन्द्र जैन	200.00
च्छ का इतिहास	डॉ. शिवप्रसाद	300.00

Pārśwanātha Vidyāpiṭha, Varanasi-221005 INDIA

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org